तच्च-सारो

(तत्त्व सार)

ग्रन्थकार

आचार्य वसुनंदी मुनि

प्रकाशक (सर्वाधिकार सुरक्षित)

निर्ग्रन्थ ग्रन्थ माला समिति

ई०-102 केशर गार्डन, सै० 48 नोएडा-201301

मो. 9971548889, 9867557668

ग्रन्थ -

तच्च-सारो (तत्त्व सार)

मंगल आशीर्वाद - सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

ग्रन्थकार - अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

भावार्थ एवं संपादन - आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण - प्रथम, वर्ष 2020 ई.

प्रतियाँ - 1000

मूल्य - सदुपयोग

प्राप्ति स्थान

1. निर्ग्रन्थ ग्रन्थ माला समिति
   ई०-102 केशर गार्डन,
   सै० 48, नोएडा-201301
   मो. 9971548889, 9867557668
2. श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली
   बोलखेड़ा जैन मंदिर
   कामां- पहाड़ी रोड, कामां
   राजस्थान-321022
   मो. 9810491559, 9928491001

मुद्रण व्यवस्था

अलंकार प्रकाशन

3611, श्याम भवन, दरियागंज

पुरोवाक्

नश्यत्येव ध्रुवं सर्वं श्रुताभावेऽत्र शासनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रुतसारं समुद्धरेत्।।
श्रुतात्तत्त्वपरामर्शः श्रुतात्स्वसमयवर्द्धनं।
तीर्थेशाभावतः सर्वं श्रुताधीनं हि शासनम्।।

–(आ. यशःकीर्ति, प्रबोधसार 3/63-64)

श्रुत का अभाव (उपेक्षा) करने पर तो समस्त जैनशासन का विनाश हो जाएगा। अतः हर संभव प्रयत्न करके श्रुत के सारतत्त्व का उद्धार करना चाहिए। श्रुत 'शास्त्र' से ही तत्त्वों का परामर्श होता है और इससे ही जैनशासन की अभिवृद्धि होती है। तीर्थंकर-भगवन्तों के अभाव में जैनशासन श्रुत के ही अधीन है।

श्रुताध्ययन से व्यक्ति के जीवन में ज्ञान का प्रकाश संभव है। जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति लोक में अंधा कहा जाता है उसी प्रकार ज्ञान रूपी नेत्रों से रहित परमार्थ में अंधा माना जाता है। प्रशस्त जीवन जीने की कला, आनंद के मार्ग, आत्मपरमात्म परामर्श, ग्राह्याग्राह्य वस्तु विज्ञान, निराकुलता, पुण्य का फल, निराबाध सुख इत्यादि की संप्राप्ति ज्ञान बिना संभव नहीं है। स्वपर विवेक, हेयोपादेय विज्ञान, आत्मरति व परविरति ज्ञानोद्भव होती है। जिस प्रकार हवनि कुण्ड में प्रज्ज्वलित अग्नि उससे बाहर निकलकर अपने आसपास बैठे हुए लोगों को अपने अस्तित्व का भान करा देती है उसी प्रकार अन्तःकरण में विद्यमान ज्ञान भी प्रतिफलित होता है। ज्ञान से वह साम्यावस्था प्रादुर्भूत होती है जिसे अहिंसा, मैत्री, सदाचार, शिष्टता के रूप में विश्व अनुभव करता है। ज्ञान के नेत्र विषयकषायादि से अंधकारमय नहीं होते अपितु उनमें **'वसुधैव कुटुंबकम्', 'अहिंसा परमो धर्मः'** इत्यादि की ज्योति विद्यमान रहती है।

कातंत्ररूपमाला में प्ररूपित है **''यावति विन्दजीवोः''** (4-6-9 ॥799॥) **वृत्ति ''यावज्जीवमधीते। यावन्तं जीवति तावन्तं अधीते इत्यर्थः।''**

जब तक जीता है तब तक पढ़ता है।

बिना स्वाध्याय के धर्मानुरागी के जीवन की कल्पना भी असंभव है। श्रमणों के लिए स्वाध्याय को जीवन का अभिन्न अंग दिखाते हुए भगवती आराधना में आचार्य महाराज कहते हैं–

'कंठगदे वि पाणे हि, साहुणा आगमो हु कादव्वो'॥153॥

प्राणकंठ में आ जाने पर भी अर्थात् जब प्राणान्त होने ही वाला हो तब भी साधुजनों को स्वाध्याय करना ही चाहिए। तब शेष जीवन की तो बात ही क्या? अर्थात् प्रतिपल श्रुताध्ययन में व्यतीत करना चाहिए।

आगम में सात प्रकार के तत्त्व निरूपित किए गए हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष। जब तक जीव के साथ अजीव (कर्मों) का संबंध होता है तब तक संसार की परिपाटी प्रवर्तमान

रहती है। **'तच्चसारो'** नामक यह ग्रंथ अत्यन्त अद्‌भुत है। यह ग्रंथ ग्रंथकार की उदार व करुण भावना को दर्शाने वाला है। अनुष्टुप् छंद के 156 काव्यों में लिपिबद्ध यह ग्रंथ अत्यंत रोचक है। ग्रंथकार जीवादि सात तत्त्वों का निरूपण करते हुए जब जीव तत्त्व का निरूपण करते हैं तब, जब तक जीव मोक्ष को प्राप्त न कर ले तब तक संसार में रहने की कला, सम्यक् व प्रशस्त जीवन व्यतीत करने की कला को भी यहाँ स्वयं प्रतिपादित करते हैं। ग्रंथ में लिखित है–

जाव जीवो विहावम्मि, ताव सुजीवणाय य।
सहाव-सम्मुहत्थं वि, मज्जादं खलु पालदु॥11॥

जब तक जीव विभाव में है तब तक अच्छा जीवन जीने के लिए व स्वभाव सम्मुख होने के लिए भी निश्चय से मर्यादा का पालन करना चाहिए।

जीव जब तक संसार में रहता है तब तक पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक वा धार्मिक पक्ष से अनुस्यूत रहता है। पारिवारिक जीवन जीते हुए उसे किस प्रकार अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए, किस आचरण व गुणों के साथ अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए। पुत्री, पुत्र, नारी, पिता, माँ, दंपत्ति आदि किन गुणों से युक्त हों इस प्रकार की शिक्षापूर्ण गाथाओं का सृजन सुंदरतम ढंग से किया गया है।

ग्रंथकार ने यदि परिवार को एकता के सूत्र में बांधने वाले सूत्र प्रदान किए तो इसके बाधक कारणों को भी प्रस्तुत किया है। क्योंकि उन्नति का कारण क्या है मात्र इतना जानना पर्याप्त नहीं है, अवनति वा पतन का कारण जानकर त्यागना भी महत्वपूर्ण होता है। यथा परिवार विनाश के कारणों को बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं–

सया कज्जेसु आलस्सो, विस्सासो णो जहिं कुले।
परप्परे विरोहो हु, मज्जादा वि ण विज्जदे॥41॥
आयार धम्मकज्जादो, हीणं अण्ण-गुणाउ य।
दया णेह-विहीणं जं, तं कुडुंबं विणस्सदि॥42॥

''जिस कुल में विश्वास ही नही है कार्यों में सदा आलस्य रहता है, परस्पर में विरोध रहता है, मर्यादा भी विद्यमान नहीं है, जो कुटुम्ब आचारण और अन्य गुणों से हीन है, दया व स्नेह से विहीन है वह कुटुंब विनाश को प्राप्त होता है।''

जिस समाज के प्रति प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी है उस समाज के स्वरूप का कथन करते हुये ग्रंथकार अपने दार्शनिक पक्ष से कहते हैं–

करेदि णिय कज्जाणि, समूहो सज्जणाण जो।
चिंतदि हि हिदं णिच्चं, सो समाजो हु मण्णदे॥

सज्जनों का समूह जो स्वकार्यों को करता है, नित्य हित का ही चिंतन करता है वह निश्चय से समाज माना जाता है।

जण-जूहं हु जीवेदि, सम्मरूवेण सव्वदा।
जीविस्सदि य जीवीअ, सो समाजो हि मण्णदे॥13॥

लोगों का वह समूह जो सर्वदा समीचीनता से ही जीता है, जीता था और जीवेगा वह ही समाज माना जाता है।

समीचीन समाज की सामाजिक व्यवस्था भी समीचीन ही होनी चाहिये जिससे लोग सुखपूर्वक पापों से विरक्त होते हुए और मांगलिक व शुभकार्यों के संपादन हेतु प्रोत्साहित होते हुये अपने जीवन का निर्वहन कर सकें।

होदि अदिहि-सम्माणो, पूया-दाणेसु तप्परा।
कत्तव्वेसु जणा लीणा, रायणीदी वि विड्ढदे॥14॥
देदिज्जइ पुरक्कारं, सहाकंखी परप्परे।
सामाजिग-ववत्था सा, दंडणीदी वि विज्जदे॥15॥

जहाँ अतिथि सम्मान होता है, लोग दान पूजा में तत्पर हैं, कर्त्तव्यों में लीन हैं, जहाँ राजनीति भी वृद्धि को प्राप्त होती है, जहाँ लोग परस्पर में सुखाकांक्षी हैं, जहाँ दंडनीति भी विद्यमान है वह सामाजिक व्यवस्था है।

कला व्यक्ति-समाज व देश के उत्थान में महत्वपूर्ण है, अति श्लाघनीय है अतः ग्रंथकार विभिन्न कलाओं मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला आदि का वर्णन ग्रथ में करते हैं।

सोवाण-णय रुज्जाणं, जिणालय-गिहाण य।
णिम्मणं थंभ-आईण, मण्णे वत्थुकला वरा॥34॥

सोपान, नगर, उद्यान, जिनालय, गृहों व स्तंभों आदि का सुव्यवस्थित निर्माण करने श्रेष्ठ वास्तुकला मानी जाती है।

परिवार व समाज के पश्चात् उन नीतियों का वर्णन यहाँ करते हैं जो नीतियाँ देश को समीचीन दिशा प्रदान करती हैं। जो वर्तमान में समीचीन न होने से कदाचित् समीचीन नहीं समझी जाती हैं किन्तु राज्य संचालन के लिए राजनीति सदैव ही विशेष रही है। राजनीति को परिभाषित करते हुए ग्रंथकार कहते हैं–

णीदी रहस्स-पुण्णा जा, सज्जणाणं हिदंकरा।
दुट्ठ-णिग्गाहि-विज्जा य रायणीदी हु भण्णदे॥54॥

जो रहस्यपूर्ण नीति सज्जनों का हित करने वाली है और दुष्टों का निग्रह करने वाली विद्या ही राजनीति कही जाती है।

वड्ढगा सुह-संतीणं, सव्वाणं च हिदंकरा।
अहिंसा-धम्म-संजुत्ता, रायणीदी हु भण्णदे॥55॥

जो सुख-शांति की वर्द्धक, सबके लिये हितकारी और अहिंसा धर्म से संयुक्त हो वह ही राजनीति कही जाती है।

राजनीति के बिना समीचीन शासन संभव नहीं है किन्तु वर्तमान की राजनीति में कुछ विकृतियों ने अपना स्थान बना लिया है, जिनकी परिहारिता अत्यंत आवश्यक है।

अज्ज वि रायणीदीए, वियडी किंचि विज्जदे।
सुजोग्ग-पुरिसट्ठेण, तं हरेज्ज सुणायगं॥59॥

राजनीति में आज भी किंचित् विकृति विद्यमान है सुयोग्य पुरुषार्थ से अच्छे नायक को उनको दूर करना चाहिये।

राजधर्म, रानी, प्रजा, नागरिक, संसद, गुप्तचर, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री बनकर यदि देश सेवार्थ इन उच्च पदों तक पहुँचता है तो उसमें किन गुणों का होना आवश्यक है उसका भी कथन ग्रंथकार ने सुंदरतम ढंग से किया है क्योंकि पद प्राप्त करने से अधिक आवश्यक है पद की गरिमा को बनाये रखना।

पहाणो सव्व मंतीसुं, सव्व-मंतीण जोजगो।
णिक्कवड़ो य णिब्भीओ, सदेसुप्पण्ण उज्जमी॥82॥
पण्णो सुणीदि-रीदीए, सुसक्किदीए रक्खगो।
णिउणो पुरिसट्ठेसुं, स-देसुण्णदि-पेरगो॥83॥

सर्वमंत्रियों में प्रधान अर्थात् प्रधानमंत्री निश्चय से सर्वमंत्रियों का योजक, निष्कपट, निर्भीक, अपने देश में उत्पन्न, उद्यमी, अच्छी नीति व रीतियों को जानने वाला, सुसंस्कृति का रक्षक, चार पुरुषार्थों में निपुण व अपने देश की उन्नति का प्रेरक हो।

राज्य का कुशल क्षेम मात्र राजा-मंत्री आदि पर ही निर्भर नहीं करता अपितु वहाँ के नागरिक व प्रजा पर भी निर्भर करता है। अतः उसको भी ग्रंथकार ने समाहित किया है।

जब वह श्रावक धर्म का पालन कर कदाचित् मोक्षमार्ग में रुचि रखता है तब उसका परिवर्तित आचरण ही उसे धर्मात्मा का प्रमाण-पत्र प्रदान करा देता है। श्रावक कैसा हो, किन नियम-व्रत संयम का पालन करने वाला हो। पुनः जब तक परिणामों में पूर्ण दृढ़ता नहीं हो तब तक श्रावक धर्म पाले किंतु चित्त में सदैव रत्नत्रय की प्राप्ति की भावना जीवंत रहे और क्रम से दिगम्बर मुनि बन स्वकल्याण में समर्थ हो सके। ग्रंथकार ने स्वयं कहा है–

जहा सत्तीइ पालेज्जा, सावयो खलु सुव्वदं।
लहित्ता कमसो बोहिं, हवेज्ज सो दियंबरो॥123॥

निश्चय से श्रावक यथाशक्ति सुव्रत का पालन करे, क्रम से बोधि को प्राप्त करके वह दिगम्बर होवे।

इस प्रकार जीव तत्त्व का वर्णन कर अजीव तत्त्व का वर्णन किया है। जिसके अन्तर्गत पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्यों का भी निरुपण किया है। पुनः आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा व मोक्ष तत्त्व का क्रमशः वर्णन किया गया है।

ग्रंथ का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है मानो एक जीव की यात्रा का अंत मोक्षदुर्ग तक पहुँचकर हुआ और उसकी राह इस ग्रंथ रूपी मानचित्र में रेखांकित कर दी गई हो। ग्रंथ, ग्रंथकार के विचार, हृदय-मेधादि को प्रदर्शित करता है। इस ग्रंथाध्ययन के पश्चात् ग्रंथकार में कभी एक महान् दार्शनिक का रूप दृष्टिगोचर होता है तो कभी आचार्य समंतभद्र स्वामी या आचार्य सोमदेव सूरी इन क्षत्रिय मुनिराजों के व्यक्तित्व का अवलोकन होता है। इनमें कभी राष्ट्रहित की उदात्त भावनाओं से युक्त एक ओजस्वी व्यक्तित्व की तो कभी भव्यों के कल्याणार्थ तत्त्वोपदेशक की छवि परिलक्षित होती है। कभी परिवार-समाज-देश को एक सूत्र में बांधने का बोध प्रदान करने वाले महापुरुष मनीषी के दर्शन होते हैं तो कभी सम्यक् मार्ग पर प्रेरित करने वाले दिव्य प्रेरक दिखाई देते हैं। कभी राजादि को मार्ग निर्देशन देने वाले राजगुरु तो कभी सद्निर्देश शिक्षा व उदाहरणों के प्रदाता उपाध्याय का दिग्दर्शन होता है। कभी अहिंसा-सत्य की अलख संपूर्ण विश्व में जगाने वाले शांतिदूत तो कभी निर्वाण मार्ग प्रशस्त करने वाले मुक्तिदूत के दर्शन होते हैं। कभी मृदुव्यवहारिका, अनुशासिता, धर्मवत्सला व सुसंस्कारप्रदात्री माँ तो कभी कठिन तपस्या-त्याग में रत् योगी का स्वरूप दिखाई देता है।

ग्रंथकार का यह बहुमुखी व्यक्तित्व नि:संदेह सभी को विस्मित करने वाला है। आज के समय में इसका लेखन कर ग्रंथकार ने राष्ट्र को अमूल्य निधि प्रदान की है। प्रबुद्धवर्ग द्वारा यह वर्तमानकालिक आवश्यकता स्वीकार की गई है। इस ग्रंथ की विषय-वस्तु ही सबके लिये आकर्षण का केन्द्र है।

यद्यपि मुझ अल्पमति के द्वारा इस ग्रंथ का भावार्थ लिखना संभव नहीं है किंतु यह जो कुछ भी आपके समक्ष है वह पूज्य आचार्य गुरुवर का ही प्रसाद है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में कमल विकसित हो जाते हैं किंतु यह प्रभाव सूर्य का ही है कमलों का नहीं। उसी प्रकार यत्किंचित् भी जो लिखा गया है वह गुरु रूपी सूर्य का ही प्रभाव है। यदि इस ग्रंथ **'तच्चसारो'** के भावार्थ या संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विद्वज्जन हंसवत् क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर गुणों को ही ग्रहण करें। दोषों का परिमार्जन करने में तत्पर हों।

हमें विश्वास है कि यह ग्रंथ आप सभी लोगों को ज्ञान की वृद्धि व आचरण को परिशुद्ध करने में समर्थ होगा। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के संयम, तप, ज्ञान, साधना का सौरभ सहस्र वर्षों तक संपूर्ण विश्व को सुरक्षित करता रहे। उन्हें आरोग्य की प्राप्ति हो एवं अपने लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करें। परम पूज्य आचार्य गुरुवर के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित अनंत बार नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु.....।

जैनम् जयतु शासनम्।

श्री शुभमिति आश्विन कृष्ण अमावस
श्री वीरनिर्वाण संवत् 2546 **ॐ अर्हं नमः**
जम्बूस्वामी तपोस्थली, बोलखेड़ा, कामा (राज.) **आर्यिका वर्धस्वनंदनी**

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	विषय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
1.	मंगलाचरण	1	01
2.	तत्त्व	2	03
3.	तत्त्व प्राप्ति महाधर्म	3	05
4.	विरला कौन	4	08
5.	तत्त्व ज्ञानी पाता है मोक्ष	5	13
6.	तत्त्व भेद	6	16
	जीवाधिकार		
7.	जीव स्वभाव	7	18
8.	स्वभाव व विभाव में लीन	8	20
9.	संसारी व मुक्त जीव	9-10	22
10.	विभावी जीव का कर्त्तव्य	11	25
	जीव का सामाजिक स्वरूप		
11.	समाज का लक्षण	12-13	26
12.	सामाजिक व्यवस्था	14-15	30
13.	योग्यतानुसार कार्य	16	33
14.	संसारी जीव स्वभाव	17	38
15.	सादा जीव उच्च विचार	18	39
16.	कहाँ क्या हो	19	42
17.	सज्जनों द्वारा वृक्ष वपन	20	48
18.	सम्यक् व मर्यादित वस्त्र	21	50
19.	सज्जनों द्वारा उपकार	22	53
20.	गुण प्राप्ति	23	56
21.	सुसंस्कार प्राप्ति	24	58
22.	कुलाचार	25	60
23.	विद्या	26	72

क्र. सं.	विषय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
24.	सम्यक् शिक्षा प्राप्ति हेतु यत्न	27	75
25.	गुरु सम्मान	28	77
26.	श्रेष्ठ कला	29	79
27.	कला व कला विशारद	30	81
28.	विश्व गुरू	31	84
29.	षट् शिक्षा	32	85
30.	षट् विद्या प्रतिपादन	33	87
31.	वास्तुकला	34	89
32.	चित्रकला	35	92
33.	मूर्तिकला	36	95
34.	गंधर्व विद्या	37	97
35.	पुरुष व नारी की कला	38	100
36.	श्रेष्ठ परिवार	39	109
37.	उन्नतिशील कुटुम्ब	40	112
38.	परिवार विनाश के लक्षण	41-42	114
39.	गुणी माँ	43	117
40.	श्रेष्ठ पिता	44	120
41.	सुपुत्र कर्त्तव्य	45	123
42.	सुपुत्री	46	127
43.	विवाह लक्षण	47	130
44.	श्रेष्ठ दंपत्ति	48	133
45.	गुणी नारी	49	136
46.	आदर्श वर	50	139
47.	न्यायोपार्जित धन	51-52	142
48.	समीचीन जीविकोपार्जन	53	144
	जीव का राजनैतिक स्वरूप		
49.	राजनीति	54-55	146
50.	चार नीति	56	148

क्र. सं.	विषय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
51.	राजनीति बिना सुशासन संभव नहीं	57-58	150
52.	दूर करें राजनीति की विकृति	59	152
53.	चार राजविद्याएँ	60	154
	शासक		
54.	राजा का लक्षण	61-63	157
55.	राजधर्म	64	164
56.	षट् अंतरंग शत्रु	65	166
57.	सुप्रसिद्ध राजा	66	171
58.	कर्त्तव्यहीन राजा को दुर्गति प्राप्ति	67-68	178
59.	राज्यासक्त नृप को सुगति नहीं	69	182
60.	राजनीति से विरक्त होकर मोक्ष	70	184
61.	आदर्श रानी	71	185
62.	आदर्श प्रजा	72-73	187
63.	श्रेष्ठ नागरिक	74	190
64.	राज्य के षट् अंग	75	193
65.	राज्य के सप्तांग	76	195
66.	समीचीन संसद	77	200
67.	गुप्तचरों के भेद	78	201
68.	परीक्षा से मंत्रियों का चयन	79	204
69.	राष्ट्रपति	80-81	206
70.	प्रधान मंत्री	82-83	209
71.	गृह मंत्री	84-85	214
72.	रक्षा मंत्री	86	216
73.	विदेश मंत्री	87	218
74.	स्वास्थ्य मंत्री	88	220
75.	मुख्य मंत्री	89	221
76.	पर्यावरण मंत्री	90	223
77.	राजदूत	91	225

क्र. सं.	विषय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
78.	कुशल मंत्री	92-93	227
79.	कर्त्तव्यशील नायक	94	231
80.	श्रेष्ठ पुरोहित	95	232
81.	राज्यपाल	96	234
82.	वित्तमंत्री	97-98	236
83.	शिक्षामंत्री	99	238
84.	सुशिक्षा ही महाप्राण	100-101	239
85.	सुशासन से शांति	102	242
86.	अनुशासन से उन्नति	103	242
	जीव का धार्मिक स्वरूप		
87.	श्रेष्ठ श्रावक	104-105	246
88.	सप्त व्यसन त्याग	106	252
89.	पाँच अणुव्रत	107	254
90.	जिनपूजा फल	108	257
91.	जिनपूजा में प्रसिद्ध	109	259
92.	दया धर्म फल	110	263
93.	स्वपर रक्षक	111	265
94.	सुपात्र दान	112	268
95.	दान फल	113	271
96.	दान में प्रसिद्ध	114	273
97.	तीर्थ यात्रा	115	280
98.	पाप विनाशिनी जाप	116	282
99.	कर्म विमोचिनी जाप	117	284
100.	तप	118	286
101.	स्वाध्याय	119	289
102.	स्वाध्याय परम तप	120	291
103.	वात्सल्य गुण	121	293
104.	शाश्वत शांतिकारक धर्म	122	297

क्र. सं.	विषय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
105.	दिगम्बर होने की प्रेरणा	123	300
106.	मूलगुण कथन	124	302
107.	अजीवाधिकार	125	308
108.	षट् द्रव्य	126-127	310
109.	जीव व अजीव	128	313
110.	पुद्गल व भेद	129-130	316
111.	अणु-स्कंध-देश व प्रदेश	131	319
112.	पुद्गल शक्ति	132	320
113.	पुद्गल भी जीव का उपकारी	133	322
114.	पुद्गल पर्याय	134	335
115.	पर्यायों में रागद्वेष	135	327
116.	तत्त्वदृष्टि है भूतार्थ	136	329
117.	निश्चय व व्यवहार	137	331
118.	धर्म-अधर्म द्रव्य	138-139	333
119.	आकाश द्रव्य	140	335
120.	काल द्रव्य	141-142	337
	पंचत्त्वाधिकार		
121.	आस्रव तत्त्व	143	340
122.	आस्रव का कारण	144	342
123.	बंध तत्त्व	145	344
124.	बंध के भेद	146	345
125.	संवर तत्त्व	147	349
126.	निर्जरा तत्त्व	148-149	351
127.	मोक्ष तत्त्व	150	353
128.	ग्रंथ हेतु	151	355
129.	आशीर्वादात्मक श्लोक	152	357
130.	ग्रंथकार की लघुता	153	358
131.	अंतिम मंगलाचरण	154-156	359

मंगलाचरण

णमित्ता तच्च-णाणिं च, तच्च-णाणं हिदंकरं।
तच्चुवलद्धि-भावेणं, तच्च-सारं भणामि हं॥1॥

अर्थ–तत्त्वज्ञान हितंकर है अतः तत्त्वज्ञान को व तत्त्वज्ञानी को नमस्कार करके तत्त्वोपलब्धि की भावना से तत्त्व सार को कहता हूँ।

Knowledge of reality makes one benevolent. Bowing to knowledge of truth and omniscient, I (Acharya Vasunandi Muni) recite 'Tattva Saara' for attain pure nature.

भावार्थ–ग्रंथकार यहाँ सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान व तत्त्वज्ञानी को नमस्कार करते हैं। त्व का अर्थ है–पना। तत् अर्थात् वह। यानि वह पना। अर्थात् जिस वस्तु का जो भाव है, स्वभाव है वह उसका तत्त्व कहलाता है। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में कहा भी है–

'तद्भावस्तत्त्वम्' अथवा आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी ने राजवार्तिक में कहा है–**'अविपरीतार्थ विषयं तत्त्वमित्युच्यते'** अविपरीत अर्थ को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व शब्द भाव सामान्य वाचक है। यहाँ तत् यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसका उस रूप होना तत्त्व है। अथवा आचार्य भगवन् कलिकाल सर्वज्ञ श्री वीरसेन स्वामी ने तत्त्व को श्रुत ज्ञान के अर्थ में भी विषय किया है। **''तत्त्वं श्रुतज्ञानं''** अथवा नयचक्र में आचार्य श्री ने परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, परमपरम, ध्येय, शुद्ध और परम इन सभी को तत्त्व का पर्यायवाची कहा।

''तच्चं तह परमट्ठं, दव्वसहावं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं, एयट्ठा हुंति अभिहाणा॥4॥

प्रयोजन भूत सात तत्त्व कहे गए हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। अथवा अंतस्तत्त्व बहिस्तत्त्व व परमात्म तत्त्व के भेद से दो प्रकार का भी कहा जाता है।

तत्त्व को जानने वाला, वस्तु स्वरूप को समझने वाला, स्व-पर भेद जानने वाला तत्त्वज्ञानी है। तत्त्वज्ञानी को कोई दुखी नहीं कर सकता और तत्त्वज्ञान से रहित जीव को सुखी नहीं किया जा सकता। आचार्य भगवन् श्री वादीभ सिंह सूरी ने क्षत्र चूड़ामणि में कहा है–

''तत्त्वज्ञान विहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम्''

ज्ञान से रहित जीव संसार से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। संसार में अज्ञान ही बंध का कारण है। अज्ञान संसार रूपी जड़ को पुष्ट करने का श्रेष्ठ माध्यम है।

''तत्त्वज्ञान हि जीवानां लोकद्वये सुखावहं।''

निश्चय से तत्त्वज्ञान जीवों को दोनों लोकों में सुख देने वाला है।

ज्ञानी का संसार बढ़ता नहीं है ज्ञान वह कुठार है जो संसार रूपी वृक्ष का उन्मूलन (उखाड़ना) कर देती है। यह ज्ञान का फल विशेष है।

'सो अण्णाणी मूढ़ो यो ण जाणदि समयसारं' अर्थात् जो अपने आत्मस्वभाव को नहीं जानता है वह अज्ञानी और मूर्ख है। एवं जो अज्ञानी है उसे मोक्ष सुख प्राप्त नहीं होता।

वद णियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे, णिव्वाणं ते ण विंदंति॥53॥

खूब व्रत, तपश्चर्या, नियम, शील, तप आदि करने पर भी यदि परमार्थ नहीं है, श्रद्धा नहीं है, ज्ञान नहीं है तो ये सभी क्रियाएँ व्यर्थ हैं।

जैसे धागे में गाँठ बांधे बिना सुबह से शाम तक कोई सिलाई करते जा रहा है और जब अंत में देखा तो जहाँ थे वहीं रहे। धागे में गाँठ होगी तभी सिलाई हो पाएगी। ऐसे ही व्रतादि भी यदि परमार्थक नहीं हैं, ज्ञान युक्त नहीं हैं तो निरर्थक हैं।

जिस तत्त्वज्ञान के बिना निर्ग्रंथावस्था भी निष्फल कही गई, जिस तत्त्वज्ञान के माध्यम से मोक्ष की सिद्धि होती है, जिससे पुनर्जन्म से रहित मोक्ष रूपी स्त्री के मस्तक पर लीला करने वाला सुंदर तिलकपना प्राप्त होता है उसी की उपलब्धि की भावना से यहाँ ग्रंथकार सबका हित करने वाले तत्त्वज्ञान को नमस्कार करते हैं आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव नियमसार की टीका में कहते हैं–

वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गत समस्तवस्तुप्रतिपादन समर्थ द्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति।

वीतराग सर्वज्ञ के मुखकमल से निकली वस्तु के कथन में समर्थ द्रव्यश्रुत को तत्त्वज्ञान कहा है। अतः ग्रंथकार तत्त्वज्ञान से यहाँ समस्त द्रव्य श्रुत अथवा चारों अनुयोगों को नमस्कार करते हैं। और पुनः तत्त्वज्ञानी को नमन करते हैं।

यहाँ तत्त्वज्ञानी से आशय उन श्रमण-साधकों से है जिन्होंने आत्म स्वभाव को, निज तत्त्व को जान लिया है। अतः यहाँ आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को नमस्कार किया गया है। अथवा समस्त द्रव्यश्रुत को धारण करने वाले श्रुत केवलियों को भी नमन किया है अथवा परमपरम, शुद्ध, ध्येय आदि तत्त्व के एकार्थवाची हैं, इससे ग्रंथकार यहाँ उन अरिहंत और सिद्धों को भी नमस्कार करते हैं जो शुद्ध हैं ध्येय हैं परम उत्कृष्ट हैं। इस प्रकार तत्त्व ज्ञान व तत्त्व ज्ञानियों को नमस्कार कर ग्रंथकार तत्त्व-सार अर्थात् तत्त्वों के सार को कहने का संकल्प करते हैं।

तत्त्व

तच्चं दव्वस्स भावो हु, तच्चसारो सुहंकरो।
सहावो णियदी तच्चं, तच्चं हि सस्सदो गुणो।।2।।

अर्थ–तत्त्व निश्चय से द्रव्य का भाव है, तत्त्व सार सुखकर है, तत्त्व स्वभाव है, नियति है और तत्त्व ही शाश्वत गुण है।

Tattva is really nature of substance. Essence of Tattva or reality or nature (Tattva Sara) is cause of supreme happiness. Tattva is nature, destiny, and eternal virtue.

भावार्थ–यहाँ ग्रंथकार तत्त्व को निरूपित करते हुए कहते हैं कि किसी द्रव्य का जो भाव है, स्वरूप है, स्वभाव है वह ही उसका तत्त्व कहलाता है। **द्रव्यस्य भावं तत्त्वं।** द्रव्य का भाव तत्त्व है। तत्त्वसार अर्थात् तत्त्व का सार। यह तत्त्व सार सर्व सुखों को कराने वाला है। वस्तु स्वभाव को जानने वाला या तत्त्वज्ञानी कभी दुखी नहीं होता। वह ज्ञानी परभावों को व्यर्थ में नहीं करता। कहा है–

जह णाम को वि पुरिसो, परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे, णादूण विमुंचदे णाणी।।35

जिस प्रकार कोई पुरुष परवस्तु को ''यह परवस्तु है'–ऐसा जानकर उसका त्याग करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को ''ये परभाव हैं'' ऐसा जानकर छोड़ देता है। और ये परवस्तु व परभाव दु:ख का कारण हैं। बिना कारण के कार्य नहीं होता। दु:ख का कारण नहीं होने पर कार्य रूप दु:ख भी नहीं होता। तत्त्वज्ञानी वस्तु स्वरूप को समझकर समत्व भाव धारण करता है। अत: यह तत्त्व सार सुखकर है। अथवा ''तत्त्व सार'' यह ग्रंथ का नाम है। इसके अंतर्गत सप्त तत्त्वों का कथन है।

व्यवहार से निश्चय तक का कथन करने वाला यह अनुपम ग्रंथ है। जिस प्रकार बिना हवाई पट्टी पर तेजी से चले हवाई जहाज आकाश में गति नहीं कर सकता उसी प्रकार बिना व्यवहार को अपनाये जीव निश्चय में पहुँच नहीं सकता।। यह व्यवहार सम्यक्त्वादि निश्चय सम्यक्त्वादि का कारण है। अत: यह ग्रंथ तत्त्व-सार मोक्ष मार्ग को निरूपण करने से सुखकर है, हितकर है।

ग्रंथकार आगे कहते हैं कि तत्त्व वस्तु का स्वभाव है नियति है, शाश्वत गुण है। कर्मोपाधि आदि कारणों से निरपेक्ष जिस वस्तु का जो स्वभाव है वह उसको कभी नहीं छोड़ता। यहाँ कर्मोपाधि से आशय कर्मों के कारण विकृति को प्राप्त हुए, संसार में परिभ्रमण करते जीवों से है। कर्मों का क्षय होने से जीव अपनी परम शुद्ध दशा को प्राप्त करता है। तथा आदि से आशय यहाँ

अन्य पदार्थों को विकृति में लाने वाले निमित्तों से है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता है परंतु अग्नि की संगति में यह जल कुछ समय के लिए ऊष्ण हो जाता है।

किंतु यह भी मूलतः अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। किसी भी पर्याय में जीव स्वस्वभाव ज्ञान-दर्शन से रहित नहीं होता है अथवा जल कितना भी ऊष्ण हो फिर भी अग्नि को बुझाता ही है।

अतः तत्त्व नियति है और कहीं भी किसी भी काल में वस्तु के स्वभाव के मूलतः नष्ट नहीं होने से तत्त्व शाश्वत गुण है।

तत्त्वप्राप्ति महाधर्म

तच्चं खलु महापाणो, तच्चस्स पयडी वरा।
तच्च-लद्धी महाधम्मो, तच्च-णाणी सया सुही॥3॥

तत्त्व निश्चय से महाप्राण है, तत्त्व की प्रकृति श्रेष्ठ है, तत्त्व लब्धि महाधर्म है, तत्त्वज्ञानी सदा सुखी है।

Tattva is power of living. Pure nature is supreme. Attainment of nature is supreme and greatest religion. Enlightened is always happy.

भावार्थ–संसार में देखा जाता है कोई भी संसारी प्राणी बिना प्राणों के जी नहीं सकता। सिद्धांत ग्रंथों में प्राणों की व्याख्या दो प्रकार से की है, व्यवहार प्राण और निश्चय प्राण। व्यवहार में संसारी प्राणी के कम से कम चार प्राण होते हैं, जैसा कि सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचन्द्र स्वामी जी ने द्रव्य संग्रह में लिखा है

तिक्काले चदुपाणा, इंदिय-बल-माऊ-आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥

व्यवहार से इंद्रिय-बल-आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण हैं एक इंद्रिय जीव के चार प्राण पाये जाते हैं, दो इन्द्रिय जीव के एक इंद्रिय और वचन बल बढ़ जाने से छः प्राण होते हैं, तीन इंद्रिय जीव के एक इंद्रिय बढ़ने से सात प्राण, चार इंद्रिय जीव के एक इंद्रिय और बढ़ जाने से आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के एक इंद्रिय बढ़ने से नौ प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनबल और बढ़ जाने से दस प्राण होते हैं। व्यवहार में चार प्राण से कम किसी जीव में नहीं होते और दस प्राण से ज्यादा किसी जीव में नहीं होते। निश्चय से ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना प्राण है किंतु यहाँ पर **'तच्चं खलु महापाणो'** कहकर के ग्रंथकार यह कहना चाहते हैं कि 'तत्त्व' जो वस्तु का स्वभाव है निश्चय से वही महाप्राण है।

स्वभाव को जाने बिना, स्वभाव को माने बिना व्यक्ति का जीवन केवल आयु को पूर्ण करना है, उसका वह जीवन सार्थक नहीं होता। जिस व्यक्ति ने आत्मा के स्वभाव को जान लिया है, आत्मा के स्वभाव पर श्रद्धान कर लिया है, आत्मा के स्वभाव में लीन होने की कोशिश कर रहा है या आत्मा के स्वभाव में लीन रहने लगा है वही वास्तव में अपने जीवन को सार्थक और धन्य करने में समर्थ हो सकता है। तो महाप्राण तत्त्व वा तत्त्व का ज्ञान है।

आगे कहते हैं–**''तच्चस्स पयडी वरा''** जिस व्यक्ति ने तत्त्व को जाना है उसने ही अपनी श्रेष्ठ प्रकृति को, स्वभाव को, शील को जान पाया है। तत्त्व से बढ़कर के कोई श्रेष्ठ प्रकृति नहीं है। प्रकृति जैसे कर्मों की होती है। आठ प्रकार के कर्मों का जीव बंध करता है, जिस कर्म का जैसा स्वभाव है वैसी ही उसकी प्रकृति है उसे ही 'प्रकृति बंध' कहते हैं।

इसी तरह से जीव की भी प्रकृति होती है। जो जीव के लक्षण दिये हैं ज्ञानचेतना-दर्शनचेतना, जीव की प्रकृति क्या है? जानना, देखना, चैतन्यमय रहना, अमूर्त्तपना, अनंतशक्ति आदि ये जीव की प्रकृति है स्वभाव है। क्रोधादि कषाय करना ये कोई प्रकृति नहीं है शांत भाव से रहना जीव की प्रकृति है।

तत्त्व को जानना ये जीव की श्रेष्ठ प्रकृति है, तत्त्व से अनभिज्ञ रहना यह जीव की प्रकृति नहीं है। जैसे संसार के सभी प्राणी ज्ञानी बनना चाहते हैं, क्यों? ज्ञान उसका स्वभाव है उसकी प्रकृति है। सबको देखना चाहते हैं क्यों? दर्शन उसका स्वभाव है उसकी प्रकृति है। अनंत शक्तिशाली बनना चाहते हैं, क्यों? शक्तिशाली होना उसका स्वभाव है, उसकी प्रकृति है। अमूर्त्त बनना चाहत हैं, क्यों? क्योंकि अमूर्त्त उसका स्वभाव है उसकी प्रकृति है, अनंतसुखी होना चाहते हैं क्योंकि यह सभी उसकी प्रकृति है।

तो यहाँ कहा कि तत्त्व की प्रकृति श्रेष्ठ है। तत्त्व चेतना का किसी भी द्रव्य का श्रेष्ठ स्वरूप हो सकता है और तत्त्व विहीन दशा उसकी उत्कृष्ट प्रकृति नहीं हो सकती। आगे बताया–

'तच्चलद्धी महाधम्मो' तत्त्व की उपलब्धि ही महान् धर्म है।

धर्म शब्द का प्रयोग स्वभाव के लिये भी किया जाता है, और धर्म शब्द का प्रयोग अच्छे कार्यों के लिये भी किया जाता है। यूँ तो धर्म के संबंध में अनेक व्याख्यायें उपलब्ध हैं–कर्त्तव्य को धर्म मानकर के और वहाँ से लेकर के आत्मा की लीनता तक सभी धर्म ही माने जाते हैं। रत्नत्रय भी धर्म है, अहिंसा भी धर्म है, उत्तमक्षमा आदि दस धर्म है, जीव पर दया-करुणा करना भी धर्म है ये सब धर्म की श्रेणी में ही आते हैं, इसके उपरांत श्रावक का धर्म-श्रमण का धर्म, सबका धर्म अलग-अलग है।

यहाँ कह रहे हैं 'तत्त्व की उपलब्धि' जिस व्यक्ति ने स्वभाव को प्राप्त कर लिया है उसने महान् धर्म को प्राप्त कर लिया है स्वभाव को प्राप्त करने के लिये ही व्यवहार धर्मों का आलंबन लिया जाता है। जो स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं उन्हें व्यवहार का आलंबन लेना आवश्यक नहीं क्योंकि निश्चय धर्म मंजिल की तरह से है, छत की तरह से है और व्यवहार धर्म मार्ग या सीढ़ियों की तरह से है। तो तत्त्व की उपलब्धि महान धर्म है अर्थात् अपने स्वभाव की प्राप्ति ही महान् धर्म की प्राप्ति है। सिद्ध परमेष्ठियों ने अपने समस्त तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। अरिहन्त परमेष्ठियों ने अपने कुछ तत्त्वों को प्राप्त कर लिया है। तत्त्व ही स्वभाव है, स्वभाव ही धर्म है। इसीलिये कहा जा सकता है कि तत्त्व की उपलब्धि ही महान् धर्म है।

आगे कहा–**'तच्चणाणी सया सुही'** तत्त्वज्ञानी ही सदा सुख को प्राप्त करता है। आचार्य अजितसेन सूरी ने 'क्षत्रचूड़ामणि' ग्रंथ में लिखा है–**''तत्त्वज्ञानं हि जीवानाम् लोकद्वये सुखावहम्''** जीवों के लिये तत्त्वज्ञान ही दोनों लोकों में सुख देने वाला है। दोनों लोक कहने से समस्त लोक आ

जाते हैं जिस लोक में जी रहा है वह वर्तमान का और जहाँ प्राप्त होगा वह भविष्य का, आगे वाले भव में वह भविष्य वाला वर्तमान बन जायेगा और उसके आगे वाला भविष्य बन जायेगा। ऐसे करते-करते उसके समस्त भव सुखमय हो जाते हैं। जब तक आत्मा में तत्त्वज्ञान है तब तक सुख है क्योंकि वह संसार के पदार्थों के बारे में जानता है, किस वस्तु का क्या स्वभाव है, कौन सी वस्तु नित्य है, कौन सी अनित्य है इसीलिये वह पर्यायों में मूढ़ नहीं होता, वह तत्त्वज्ञान से विहीन रहकर जीवन नहीं जीता क्योंकि तत्त्वज्ञान से रहित होकर जीवन जीना दु:खों को आमंत्रित करना है, दु:खों के गर्त में डूबना है, दु:खों के बादलों को बुलाकर के उस दु:खों के जल में ही डूब जाना है। किन्तु तत्त्वविहीन ही ऐसा कर सकता है। जब तत्त्वविहीन दु:खी होता है तब तत्त्वज्ञानी सुखी होता है। तत्त्वविहीनता के साथ दु:ख का नियामक संबंध है।

'तत्त्वज्ञान विहीनानाम् दु:खमेव हि शाश्वतम्'

आचार्य महोदय ने लिखा कि तत्त्वज्ञान से विहीन प्राणी के जीवन में शाश्वत दु:ख ही दु:ख होता है तो तत्त्वज्ञानी के जीवन में शाश्वत सुख ही सुख होता है। तत्त्वज्ञान ही सुख है क्योंकि वह सुख का प्रत्यक्ष कारण है। तत्त्वज्ञान से विहीन अवस्था मिथ्यात्व की अवस्था है, मोह की अवस्था है, असंयम की अवस्था है, अज्ञानता की अवस्था है और इन अवस्थाओं के रहते हुये जीव अपने स्वभाव को जान नहीं सकता, वह पर वस्तु में आसक्त रहता है, पर वस्तुयें सुख देती नहीं इसीलिये तत्त्वज्ञान से विहीन व्यक्ति के जीवन में किंचित् भी सुख नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति अपने स्वभाव को जानता है, आत्मा के स्वभाव में श्रद्धान करता है, आत्मा को आत्मा में लीन करने में समर्थ होता है, पर वस्तुओं से विरक्त हो जाता है इसीलिये वह तत्त्वज्ञानी व्यक्ति सदा सुखी रहता है ऐसा ग्रंथकार का अभिप्राय है।

ये चार पद यूँ कहें चार अनुयोगों की तरह से चेतना के लिये अनंत चतुष्टय को प्रकट करने में कारण बन सकते हैं, इनकी विशद व्याख्या शब्दों में नहीं भावों में करनी चाहिये। पाठकगण! इन्हें पुन:-पुन: पढ़ें चिंतवन करें तब नि:संदेह इसके माध्यम से उसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति भी संभव है और भावश्रुतज्ञान उसका वृद्धि को प्राप्त होगा। भावश्रुत ज्ञान ही हमारा स्वभाव हो सकता है, हमें स्वभाव की ओर ले जाने वाला हो सकता है। द्रव्यश्रुत कभी भी नष्ट हो सकता है, भाव श्रुत केवलज्ञान का साक्षात् हेतु बनता है इसीलिये भावश्रुत ज्ञान की निरंतर वृद्धि करते रहें।

विरला कौन ?

जाणंति विरला तच्चं, ते हि तच्चं सुणंति य।
मण्णंते विरला तच्चं, पावंते विरला हु तं ।।4।।

अर्थ–निश्चय से विरला ही तत्त्व को जानता है, वह ही तत्त्व को सुनता है। विरला ही तत्त्व को मानता है और वह तत्त्व को प्राप्त करता है।

Only very few people can know nature of substances. Only they are able to listen to real knowledge and only they can accept truth and attain reality.

भावार्थ–यहाँ पर ग्रंथकार कह रहे हैं–**'जाणंति विरला'** जिनमें अंतर पड़ रहा है। एक होता है सघन दूसरा होता है विरल। 'सघन' जहाँ पर अधिकता है, प्रचुरता है, बहुलता है। 'विरल' का अर्थ है जहाँ बीच-बीच में अंतराल है। विरल अर्थात् कहीं-कहीं क्वचित् कदाचित्। तो संसार में ऐसे व्यक्ति क्वचित् कदाचित् देखे जाते हैं जो तत्त्व को जानने वाले हों। संसार में अनंतानंत जीव राशि है, अनंतानंत जीवराशि में से जो व्यवहार में जीवराशि है वह अनंतानंत नहीं है। यदि निगोदिया जीवों को छोड़ दिया जाये तो शेष जीव अनंत की संख्या में नहीं आते।

पृथ्वीकायिक असंख्यात्, जलकायिक असंख्यात, अग्निकायिक असंख्यात, वायुकायिक असंख्यात और प्रत्येक वनस्पतिकायिक भी असंख्यात हैं या असंख्यातासंख्यात हैं। सभी त्रस मिलाकर भी असंख्यात होते हैं।

निगोदिया जीव तत्त्व को जानने में असमर्थ होता है। ऐकेन्द्रिय जीव में पृथ्वीकायिक से वनस्पतिकायिक पंच स्थावर ये तत्त्व को जानने में असमर्थ हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तत्त्व को जानने में असमर्थ होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जिसमें मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी ये चार गति के जीव हैं इनमें तत्त्व को जानने वाले मनुष्य गति में संभव हैं। क्योंकि तिर्यंच अभेदरत्नत्रय को प्राप्त कर नहीं सकते, देव-नारकी सम्यग्दृष्टि तो हो सकते हैं किंतु अभेदरत्नत्रय को प्राप्त नहीं कर सकते। अभेदरत्नत्रय को प्राप्त किये बिना तत्त्व की वार्ता सुनी तो जा सकती है, चारों गति के जीव तत्त्व की वार्ता सुन तो सकते हैं, सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर सकते हैं किन्तु अभेदरत्नत्रय को प्राप्त करने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता।

यहाँ तत्त्व से आशय है स्वभाव। स्वभाव को जानना अलग बात है और स्वभाव का अनुभव करना अलग बात है ग्रंथकार का अभिप्राय शायद इस प्रकार का प्रतीत होता है **'जाणंति विरला तच्चं'** संसार में विरले मनुष्य हैं। मनुष्यों में भी सभी मनुष्य नहीं, क्योंकि सभी मनुष्य तो सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, जो मनुष्य स्वभाव को जानना चाहते हैं, जो मनुष्य स्वभाव के बारे में श्रद्धान करते हैं, जो मनुष्य स्वभाव को कथन करने वाले देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धावंत हैं, सात तत्त्वों का यथार्थ

स्वरूप जानते हैं और पुनः उसे स्वीकार करते हैं वही भव्य जीव तत्त्व का यथार्थ रूप जानने में समर्थ होते हैं।

जो जीव के कल्याण के लिये प्रयोजन भूत हैं उन सात तत्त्वों को शब्दों में जानना अलग बात है, श्रद्वान करना दूसरी बात है। इसके उपरांत श्रद्धान करने वाले जीव भी उस तत्त्व को केवल शाब्दिक श्रद्धान करते हैं अनुभव नहीं करते। जैसे किसी व्यक्ति ने कहा 'आम'। तो आम को जान लिया, उसका चित्र बना दिया, मात्र आम को जान करके, देख करके उसके बारे में श्रद्धान हो गया कि हाँ ये आम है किन्तु उसका जब तक स्वाद नहीं लिया तब तक बस ये श्रद्धान है कि आम का स्वाद भी इस प्रकार का होता है। तो ऐसे ही जब तक केवली भगवान् के माध्यम से आत्मा के बारे में सुना है तब तक आत्मा का आधा सम्यक्त्व आदि रूप श्रद्धान है किंतु जो मुनि महाराज आत्मा का अनुभव करते हैं कि आत्मा चैतन्यमय है, आत्मा अनुभवगम्य है, आत्मा इन्द्रियातीत है जिसमें स्पर्श-रस-गंध-वर्ण नहीं है, आत्मा अन्य सभी की अवस्थाओं से रहित शुद्धात्मा होता है इस प्रकार का अनुभव करना उसी आत्मा के लिये संभव है जो आत्मा-आत्मा में लीन हो सकती है, इसीलिये ग्रंथकार का प्रयोजन ये सिद्ध होता है कि विरला व्यक्ति ही अर्थात् योगी ही उस आत्मा को जानने में समर्थ होता है। परमात्म स्वरूप में भी कहा है, आचार्य भगवन् पूज्ययाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में भी लिखा है और कुन्दकुन्दस्वामी जी ने भी लिखा है कि आत्मा को जानने में कौन समर्थ है

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥80॥

जो अरिहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने द्वारा जानता है वह आत्मा को जानता है और उस जीव का मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है।

इष्टोपदेश में भी आचार्य भगवन् श्री पूज्यवाद स्वामी कहते हैं–

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा, मतःसर्वेऽपि सर्वथा॥

मैं एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों के द्वारा जानने योग्य हूँ। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझसे सर्वथा बहिर्भूत वा भिन्न हैं। तो आत्मा ज्ञानी योगीन्द्रों के द्वारा ही गोचर है, वे ही जान सकते हैं।

आगे ग्रंथकार कह रहे हैं–**''ते हि तच्चं सुणंति य'** जब वह योगीराज सप्तम गुणस्थान से नीचे छटवें गुणस्थान में प्रमत्तदशा में आते हैं तब उनकी इच्छा तत्त्व को सुनने की होती है, क्योंकि उन्होंने तत्त्व का अनुभव कर लिया है।

अब नीचे गिरते ही उसे पुनः प्राप्त करना चाहते हैं। जैसे कोई बालक खिलौने से खेल रहा था, खेलते-खेलते उसका खिलौना गिर गया, गुम गया, वह खिलौना किसी दूसरे बालक ने ले लिया तो पुनः वह अपने खिलौने को प्राप्त करने के लिये मचल जाता है और उसको प्राप्त करने की कोशिश करता है ऐसे ही मुनिमहाराज सप्तमगुणस्थान से छटवें गुणस्थान में आते हैं तब फिर वे तत्त्व की बात को सुनते हैं जिस तत्त्व को वो अनुभव करके आये हैं। तो तत्त्व को वही सुनना चाहते हैं।

जिस प्राणी को संसार के विषय भोगों में आनंद आ रहा है, परवस्तु के भोगने में आनंद आ रहा है वह तत्त्व की बात सुनना नहीं चाहता। व्यवहार में आप देखते हैं जिस व्यक्ति का मन धर्म में लगा हुआ है, वह जीवित रहते हुये धर्म को सुनना चाहता है, मृत्यु के सन्निकट पहुँचकर भी धर्म को सुनना चाहता है किंतु जिसके मन में धर्म की रुचि नहीं है उसे यदि धर्म सुनाया जाये तो वह कहता है मैं अभी मृत्यु को प्राप्त थोड़े ही हो रहा हूँ जो आप लोग मुझे धर्म सुनाने लगे, मैं अभी नहीं सुनूँगा। तो ऐसे ही तत्त्व की बात भोगी व्यक्ति को अच्छी नहीं लगती।

पापी दुःखी जीव को, जिनवाणी न सुहाये।
के ऊंघे के लड़ पड़े, के उठ घर को जाये।।

अर्थात् जब तक व्यक्ति भोगावस्था का अनुभव करता है तब तक वह योगावस्था का अनुभव नहीं करना चाहता, तत्त्व की बात कोई सुनाये तब भी उसे अच्छी नहीं लगती है, उसे ऐसा लगता है यह मेरे लिये अहितकर है, उसकी उसमें रुचि नहीं है और जिस कार्य में, जिस वार्ता के सुनने में रुचि आती है तो व्यक्ति उसमें से आनंद खोजता है। तत्त्वज्ञानी तत्त्व की बात को सुनकर आनंद खोजता है और तत्त्वज्ञान से विहीन व्यक्ति संसार की बातों को सुनने में रुचि लेता है, विकथा करता है, कषायों के पोषण की बात करता है हिंसादि पाँच पापों की बात करता है उसे वही-वही बात अच्छी लगती है।

तो यहाँ पर कहा कि **'ते हि तच्चं सुणंति य'** वे ही व्यक्ति तत्त्व को सुनते हैं जो तत्त्व का आनंद ले चुके हैं, अथवा लेना चाहते हैं। आगे ग्रंथकार कहना चाहते हैं–

'मण्णंते विरला तच्चं' तत्त्व को विरले व्यक्ति ही मानते हैं। तत्त्व को जानने वाले भी विरले हैं, तत्त्व को सुनने वाले विरले हैं, अनुभव करने वाले विरले हैं किंतु मानने वाले भी विरले हैं। दादू कवि ने लिखा है–

घीव दूध में रम रह्यो, व्यापक सब ही ठौर।
दादू वक्ता बहुत हैं, मथि काढ़ें ते और।

जैसे काष्ठ में अग्नि होती है, जैसे कस्तूरीमृग की नाभि में कस्तूरी होती है, जैसे पुष्पों में गंध होती है, तिलों में तेल होता है ऐसे ही संसारी प्राणी कोई भी जीव है उसकी आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति होती है किन्तु इस शक्ति को विरला व्यक्ति ही मानता है। संसार में ऐसे कई व्यक्ति हैं जो कहते हैं हमें मोक्ष नहीं चाहिये मोक्ष में क्या है? वहाँ शरीर भी नहीं, इंद्रियाँ भी नहीं, खाना-पीना भी कुछ नहीं, हमें मोक्ष नहीं चाहिये, तो ऐसे व्यक्तियों को तत्त्व की बात क्या कही जा सकती है। वे तत्त्व को मानते ही नहीं हैं वे तो केवल इन्द्रियगोचर वस्तुओं को मानते हैं, उन्हें ग्रहण करना चाहते हैं उन्हें भोगना चाहते हैं, इसीलिये ग्रंथकार ने कहा कि **'मण्णंते विरला तच्चं'** विरले व्यक्ति ही तत्त्व को मानने वाले होते हैं। तत्त्व की बात को पढ़कर-सुनकर भी मानना शक्य नहीं है जब तक मिथ्यात्व का तीव्र उदय होता है जब तक मिथ्यात्व की अविनाभावी अज्ञान दशा रहती है, जब तक व्यक्ति के चारित्रमोहनीय कर्म का तीव्र उदय रहता है तब तक वह व्यक्ति तत्त्व को नहीं मानता, तत्त्व पर श्रद्धान नहीं करता। चाहे केवली भी उसे तत्त्व की बात समझाना चाहें दिव्यध्वनि सुनने पहुँचे तो दूर से दिव्यध्वनि सुनकर भी यही कहेगा कि मुझे अच्छा नहीं लगता। समवशरण में जाकर वहाँ की वापिकाओं में क्रीड़ा तो करेगा किंतु दिव्यध्वनि को सुनने की उसमें रुचि नहीं होगी।

आगे कहा– **''पावंते विरला हु तं''** और जो विरले पुरुष हैं, वे जो तत्त्व को जानते हैं, सुनते हैं, मानते हैं ऐसे विरले पुरुष ही तत्त्व को ग्रहण करते हैं अर्थात् स्वभाव को प्राप्त कर पाते हैं। अपनी आत्मा के स्वभाव को सुनकर के, जानकर के, श्रद्धान करके फिर अपनी आत्मा को आत्मा में लीन करते हैं, आत्म का अनुभव करते हैं वे स्वयं को पर पदार्थों से पूर्णतया हटा लेते हैं। पर पदार्थ उनके उपयोग में नहीं आते, वे अपने उपयोग को उपयोग में ही लगा लेते हैं और जिनका उपयोग उपयोग में लग जाता है, जिनकी आत्मा-आत्मा में लीन हो जाती है वही वास्तव में निश्चय निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त कर पाते हैं, वही समस्त कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में क्षीण करके मोक्ष को प्राप्त करने में भी समर्थ होते हैं। प्रवचनसार में आचार्य भगवन् कहते हैं–

जं अण्णाणी कम्मं खवेदिभवसहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण॥38॥

जो कर्म अज्ञानी लक्ष कोटि भवों में खपाता है, वह ज्ञानी तीन प्रकार (मन, वचन, काय) से गुप्त होने से उच्छवास मात्र में क्षय कर देता है क्योंकि आत्मा आत्मा में लीन हो गयी, आत्मा आत्मा के बाहर नहीं जा रही, आत्मा आत्मा में ही सुरक्षित है उस पर कोई भी कर्म वार नहीं कर सकता। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर/किले/महल में सुरक्षित है, बाहर से शत्रु यदि उपद्रव मचाता है तो उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं होता, यदि वह दरवाजा खोलकर बाहर आता है तो फिर शत्रु

उसका अहित कर सकता है, ऐसे ही जब आत्मा का उपयोग आत्मा के बाहर जाता है तब कर्म उस पर उपद्रव करते हैं, उपसर्ग करते हैं और फिर वह जीव अपने परिणामों को खराब करके आगे नवीन कर्मों का बंध कर लेता है। किन्तु जब आत्मा, आत्मा में लीन हो जाती है तब बाहर से कर्म उदय में आते रहें उससे आत्मा प्रभावित नहीं होती और बाहर से उदय में आते हुये कर्म वे अपना फल देके निर्जीण हो जाते हैं और नूतन कर्म का बंध नहीं होता। इसीलिये ऐसा तत्त्वज्ञानी, महायोगी विरला पुरुष ही मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

ग्रंथकार ने यह दुर्लभ बात बतायी है कि संसार में विरले व्यक्ति हैं जो तत्त्व को जानते हैं, सुनना चाहते हैं, या मानते हैं या तत्त्व को प्राप्त करते हैं। वे ही संसार में महान् हैं, उनसे ही ये संसार धन्य है, वही आज वर्तमान काल में पृथ्वी के देवता कहे जाते हैं उनसे ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। उन तत्त्वज्ञानियों की संगति सदा करें, उनके तत्त्वोपदेश को सुनो, तत्त्वज्ञानी के शरीर से निकली वर्गणायें भी तत्त्व के लिये प्रेरणा देने वाली होती हैं। आप सभी तत्त्वज्ञानी बनें।

तत्त्वज्ञानी पाता है मोक्ष

तच्चणाणं हु जीवाणं, बेलोयम्मि सुहंकरं।
जाणेदि वत्थु-भावं जो, मोक्खसुहं हि पावदे॥5॥

अर्थ–निश्चय से तत्त्वज्ञान जीवों के लिए दोनों लोकों में सुखी करने वाला है जो वस्तु के स्वभाव को जानता है वह शिव सुख को प्राप्त करता है।

Knowledge of reality is the cause of happiness for all creatures in this and next birth. One who knows nature of things, he attains infinite bliss of liberation.

भावार्थ–तत्त्व का अर्थ होता है–स्वभाव, नियति, प्रकृति, शील। तत्त्व शब्द **'तद्भावास्तत्त्वं'** तद् माने वह, त्व माने उसका वहपना। जीव का जीवपना, पुद्गल का पुद्गलपना, धर्म द्रव्य का धर्मद्रव्यपना, अधर्मद्रव्य का अधर्मद्रव्यपना तथा आकाश द्रव्य का आकाशपना, कालद्रव्य का कालपना। जिसका अस्तित्व उसके बिना न रहे वही उसका वह त्वभाव है। तो तत्त्व का आशय है तद् माने वह वस्तु उसका जो भाव है वह उसका तत्त्व है। जिसे कभी भी, किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, अन्यथा नहीं किया जा सकता है।

जिस जीव को तत्त्व का ज्ञान हो गया, तत्त्व ज्ञान शब्दों में होना जरूरी नहीं है अपनी आत्मा का आत्मपना जिसने अनुभव कर लिया है, आत्मा के स्वभाव का जिसने अनुभव कर लिया है, एक आत्मा के चैतन्य गुण ज्ञान-दर्शन गुण से भी समस्त गुणों का अनुभव किया जा सकता है उसका अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे गंगा जल की एक बूंद को ग्रहण करके भी सम्पूर्ण गंगा जल के गुणों को अनुभव किया जा सकता है, मोदक का एक कण चखकर के समग्र मोदक का आनंद लिया जा सकता है, स्वर्ण का एक कण भी इतना ही गुणकारी होता है जितना कि बहुत सारा स्वर्ण।

तो यहाँ पर भी कहा कि जीवों के लिये तत्त्वज्ञान दोनों लोकों में सुख करने वाला है। दोनों लोक में अर्थात् इस लोक में भी पर लोक में भी। जो जीव इस लोक में तत्त्वज्ञान से सहित है, वह आयु कर्म के अवसान होने पर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करेगा, शाश्वत सुख को प्राप्त करेगा। संसारी प्राणी जो यहाँ तत्त्वज्ञानी रहा है यदि उसने किसी आयु कर्म का बंध कर लिया तो वह देवादि अवस्था में भी तत्त्वज्ञान को प्राप्त करेगा। तो वह वहाँ दुःखी भी हो सकता है किंतु यहाँ पर उस जीव के लिये कहा है जो जीव आत्मा में लीन रहने वाला है। आत्मलीनता के बल से जिसने अपने घातिया-अघातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, वह (सिद्धपरमेष्ठी) पर लोक में भी सुख को प्राप्त करेगा और वर्तमान काल में योगी अपनी आत्मा में लीन है। आत्मा में लीन योगी पूर्णतया

सुरक्षित है, उस योगी पर कार्माण वर्गणायें अपना प्रहार नहीं कर सकती। प्रहार करें तब भी वे कार्माण वर्गणायें आत्मा को बाँध नहीं सकती, क्योंकि योगी ने अपने तीनों योगों को संकुचित कर लिया है। मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को अपने नियंत्रण में ले लिया है, इसीलिये आत्मा में लीन योगी, तत्त्वज्ञानी योगी सुख का अनुभव करता है।

चाहे उसका जीवन अल्प है या बहुत इससे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता है, उसके लिये वह तत्त्वज्ञान देने वाला होता है। जिस प्रकार दीपक प्रकाश देता है, चाहे दीपक इस कक्ष में हो या अगले कक्ष में हो या उसे अन्य कहीं ले जाओ, तो भी वह अपना प्रकाश देगा ही देगा। अग्नि की ऊष्णता, दाहक, प्रकाश, शैत्यहारक, अंधकार भक्षक ये सब गुण दीपक में पाये जाते हैं। दीपक के ये गुण उसमें रहेंगे ही रहेंगे, ऐसे ही तत्त्वज्ञान का गुण है सुख देना, शांति देना, स्वभाव में लीन रहना, तत्त्वज्ञान जहाँ भी रहेगा अपना स्वभाव नहीं छोड़ेगा। जैसे हवा का स्वभाव बहना है, जल का स्वभाव शीतलता है, बर्फ का स्वभाव ठंडापन/ठोसपन है ऐसे ही जीव का स्वभाव तत्त्व को जानना है।

ज्ञान और दर्शन जीव का लक्षण है, बिना दर्शन के ज्ञान नहीं होता, तो जो जानने वाला जीव है ज्ञाता-दृष्टा जीव जब तत्त्व को जानता है, अनुभव करता है तब उस तत्त्व के माध्यम से उस ज्ञानी पुरुष को सुख की प्राप्ति होती है इसीलिये कारण में कार्य का उपचार करने से कहा जा सकता है तत्त्वज्ञान सुख को करने वाला है। यूँ तो आप सभी जानते हैं कि मोहनीय कर्म का नाश होने पर अनंत सुख की प्राप्ति होती है, किंतु वह मोहनीय कर्म का नाश बिना सम्यग्ज्ञान के होता नहीं, इसीलिये जो जीव पुरुषार्थ करके मोह का उपशम करते है, क्षयोपशम करते हैं, क्षय कर देते हैं वही वास्तव में तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। वह ज्ञान मोहनीय कर्म के क्षय होने पर सम्यक्पने को प्राप्त हो जाता है, मोहनीय कर्म का क्षय होने पर आत्मा, आत्मा में अनंत काल के लिये लीन हो जाती है। इसीलिये उस आत्मा में अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

तो यह कहना अनुचित न होगा कि तत्त्वज्ञान सुख करने वाला है। **जाणेदि भावं** जो कोई भी भव्य जीव वस्तु के स्वभाव को, भाव को, परिणमन को जानता है कि किस वस्तु का कौन सा परिणमन है, उसे जानने वाला, श्रद्धान करने वाला वह जीव **'मोक्खसुहं हि पावदे'** निश्चय से मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है। कैसे? जैसे किसी जीव ने यह जान लिया कि ये पुद्गल है, पुदगल की पर्याय उत्पन्न भी होती हैं, नष्ट भी होती हैं, पुद्गल मैं न हूँ, न था, न हो सकूँगा। मेरी आत्मा कभी पुद्गल रूप न थी, न है, न हो सकेगी। पुद्गल कभी भी मेरी आत्मा का एक भी गुण न प्राप्त करता था, न करता है, न कर सकेगा। जब पुद्गल मुझसे सर्वथा अलग है तो पुद्गल को मैं अपना क्यों मानूँ। पुद्गल में आत्मा के गुण खोजने का मैं मिथ्या पुरुषार्थ क्यों करूँ। ये

मूर्खतापूर्ण कार्य तो कोई अज्ञानी ही कर सकता है, इसीलिये जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है उस वस्तु के स्वभाव को जो जानता है फिर उस व्यक्ति के जीवन में कभी क्लेश नहीं होता, इतना ही नहीं जो तत्त्वज्ञान को जानने वाला होता है, वस्तुतत्त्व को जानने वाला होता है, प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को जानने वाला होता है वह उनमें राग-द्वेष भी नहीं करता, क्योंकि वह जानता है किस वस्तु का स्वभाव कैसा है? मेरी आत्मा का स्वभाव कैसा है, जो है सो है। पुद्गल द्रव्यों का, धर्म-अधर्म द्रव्यों का स्वभाव जो है, सो है उसमें राग क्यों करना।

राग किया जाता है अप्रतिम वस्तु में, अभूतपूर्व वस्तु में अरे! इसे प्राप्त कर लो, फिर दुबारा प्राप्त हो न हो। और जिससे प्राप्त करके उसे दु:ख का अनुभव हो उसे छोड़ना चाहता है। तो जिसके प्रति राग-द्वेष किया जा रहा है उसमें से कोई वस्तु उसकी नहीं है जब वस्तु नहीं है तो राग-द्वेष मंद होने लगते हैं और जिसके रागद्वेष मंद हो जाते हैं वह फिर नूतन कर्मों का बंध नहीं करता। जब मोहनीय कर्म क्षय हो जाता है तब केवल सातावेदनीय कर्म का आश्रव होता है। एक समय का बंध उपचार से माना जाता है। तो वह बंध को प्राप्त नहीं होता। और जिस जीव का बंध रुक गया, संपूर्ण संवर हो गया, आश्रव केवल सातावेदनीय का हो रहा है, तो ऐसा मोहनीय कर्म से रहित जीव नि:संदेह उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है। उपशांत करने वाला भले ही उस भव से मोक्ष न जाये, किन्तु मोहनीय कर्म को क्षय करने वाला नियम से उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है।

इसीलिये ग्रंथकार कह रहे हैं **'जाणेदि जो वत्थुभावं'** जो वस्तु के स्वभाव को जानता है, **'मोक्खसुहं हि पावदे'** निश्चय ही वह मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है। अर्थात् उसकी आत्मा कर्म बंधन से मुक्त हो जाती है। क्यों हो जाती है? क्योंकि रागद्वेष की निर्वृत्ति होने से अब कर्मों का बंध संभव नहीं है और पूर्वबद्ध कर्म अधिक समय तक ठहर नहीं सकते, आत्मा-आत्मा में लीन रहेगी, अविपाक निर्जरा के बल से पूर्व में बांधे हुये कर्म अन्तर्मुहुर्त में शीघ्र निर्जीण हो सकते हैं। और जब कर्म निर्जीण हो जायेंगे तब आत्मा समस्त कर्मों से रहित हो जायेगी, मुक्तआत्मा हो जायेगी। इसीलिये ग्रंथकार का यहाँ अभिप्राय यही है कि वस्तु स्वभाव को जानने वाला तत्त्वज्ञान को जानने वाला जीव दोनों लोक में सुख को प्राप्त करता है और नियम से मोक्ष सुख को भी प्राप्त करता है।

तत्त्वभेद

जीवाजीवस्स भेयेण, तच्चं हवेदि बेविहं।
पंच भेया अजीवस्स, जीव णाणाविहा तहा।।6।।

अर्थ–जीव और अजीव के भेद से तत्त्व दो प्रकार का होता है। अजीव के पाँच भेद हैं तथा जीव नाना प्रकार के हैं।

Tattva is of two kinds - living and non-living. Non – living (ajeeva) is of five and living (jeeva tattva) is of many kinds.

भावार्थ–मुख्य रूप से तत्त्व दो प्रकार के कहे गए हैं–जीव और अजीव। संसार या मोक्ष दोनों में जीव प्रधान तत्त्व है। जो इंद्रिय, बल, आयु व श्वासोच्छ्वास नाम वाले चार प्राणों से जीता था, जीता है, जीवेगा वह जीव है। अथवा चेतना लक्षण वाला जीव है। अथवा अशुद्ध निश्चयनय से कर्मोपाधि की सापेक्षता लिए ज्ञानदर्शनोपयोग रूप चैतन्य प्राणों से जीते हैं वे जीव हैं अथवा औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, क्षायिक, पारिणामिक नाम वाले 5 भाव जिस तत्त्व के स्वभाव हों वही जीव कहाता है। जीव संसारी व मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं। अथवा भव्य, अभव्य या संज्ञी-असंज्ञी या त्रस व स्थावर या बादर व सूक्ष्म या पुण्य जीव व पाप जीव दो प्रकार के हैं। अथवा पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त या ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफल चेतना या उत्पाद, व्यय ध्रौव्य या द्रव्य-गुण-पर्याय की अपेक्षा तीन प्रकार के हैं। अथवा नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति की अपेक्षा जीव चार प्रकार के हैं। अथवा औपशमिकादि पाँच भाव या एकेन्द्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पाँच इंद्रिय की अपेक्षा जीव पाँच प्रकार का है। अथवा पाँच स्थावर व एक त्रस या छः दिशाओं (4 दिशाएँ, ऊपर, नीचे) में अपक्रम युक्त होने के कारण जीव छः प्रकार का है। अथवा सप्तभंगी से सिद्ध होने के कारण सात प्रकार का है अथवा आठ कर्म या सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित होने के कारण आठ प्रकार का है अथवा नौ पदार्थों रूप परिणमन करने के कारण नौ प्रकार का है। एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त, एकेंद्रिय बादर पर्याप्त, एकेंद्रिय बादर अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त, तीन इंद्रिय अपर्याप्त, चार इंद्रिय पर्याप्त, चार इंद्रिय अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त, पंचेन्द्रिय संज्ञी अपर्याप्त, पंचेंद्रिय असंज्ञी पर्याप्त, पंचेंद्रिय असंज्ञी अपर्याप्त इस प्रकार चौदह भेद होते हैं। अथवा इनके कई विकल्पों से अनेक भंग बन जाते हैं। अतः जीव के नाना प्रकार हैं।

जीव के चेतनादि उक्त जितने लक्षण कहे गए हैं उन सबसे विपरीत लक्षण वाला अजीव है। यह अजीव तत्त्व पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल के भेद से पाँच प्रकार का कहा गया है। वैसे परमात्म प्रकाश की टीका में जीव संबंध और अजीव संबंध के भेद से अजीव तत्त्व के दो आध्यात्मिक भेद कहे हैं। देह आदि में राग रूप तो जीव संबंध अजीव का लक्षण है और पुद्गलादि

पंचद्रव्य रूप अजीव संबंध अजीव का लक्षण है किंतु यहां अजीव तत्त्व के धर्म इत्यादि पाँच भेदों का कथन है जिसका स्वभाव गलन व पूरण है वह पुद्गल द्रव्य है। गमन करते हुए जीव और पुद्गल के गमन में जो उदासीन निमित्त है वह धर्म द्रव्य है जैसे–मछली के गमन में जल। ठहरते हुए जीव और पुद्गल के ठहरने में जो उदासीन निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है जैसे–पथिक के ठहरने में वृक्ष। जो सभी द्रव्यों को अवगाहन या स्थान दे वह आकाश द्रव्य है। जो सभी द्रव्यों की वर्तना का निमित्त है वह काल द्रव्य है। इस प्रकार तत्त्व के मूल दो भेद हैं–जीव व अजीव तथा अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं। इनका कथन ग्रंथकार स्वयं आगे ग्रंथ में करेंगे।

जीवाधिकार

जीव-स्वभाव

सुद्धासुद्धो सहावो य, उत्तो जीवस्स साहुणा।
जीवो सुद्धो हु सत्तीए, ववहारेण णो तहा॥7॥

अर्थ–(स्नातक) साधु के द्वारा जीव का शुद्ध और अशुद्ध स्वभाव कहा गया है निश्चय से जीव शक्ति की अपेक्षा शुद्ध है, व्यवहार से ऐसा नहीं है।

Pure and impure nature of soul has been defined by ascetic. Jiva is pure potentially but it is not so by empirical point of view.

भावार्थ–आत्मा जब कर्मों से बंधी हुई है, तब वह अशुद्ध कहलाती है किंतु कर्मों से रहित अवस्था ही आत्मा की शुद्धावस्था है। संसारी आत्मा अशुद्ध है, मुक्तात्मा शुद्ध है। व्यवहार से तो संसारी आत्मा की अशुद्धावस्था है किन्तु शुद्ध निश्चय नय से प्रत्येक जीवात्मा शुद्ध है। कहा है **''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया''** अर्थात् शुद्ध नय से सब शुद्ध हैं क्योंकि यह नय शुद्ध का ही कथन करता है।

प्रत्येक जीवात्मा शक्ति की अपेक्षा शुद्ध है। जीव में सामर्थ्य है कर्मों को नष्ट कर अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने की। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जो भविष्य में कर्मों का क्षय करेगा वह तो शक्ति की अपेक्षा सिद्ध माना जा सकता है किंतु अभव्य शक्ति की अपेक्षा सिद्ध कैसे हो सकता है जबकि वह कभी संपूर्ण कर्मों का क्षय करेगा ही नहीं? तो बताते हैं कि भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं है। यह शक्ति के प्रगट होने की योग्यता और अयोग्यता की अपेक्षा है। जैसे जिसमें स्वर्ण पर्याय होने की योग्यता है वह कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अंधपाषाण। उसी तरह सम्यग्दर्शनादि पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता वाला भव्य है तथा अन्य अभव्य है।

पुनः कोई प्रश्न करता है कि अभव्य जीव में परमात्मा शक्ति रूप से रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसा? तो बताते हैं कि अभव्य जीव में परमात्मा शक्ति की केवलज्ञान आदि रूप से अभिव्यक्ति न होगी इसीलिए उसमें अभव्यत्व है। शुद्ध नय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनों में समान है। यदि अभव्य जीव में शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः शुद्ध नय से भव्य व अभव्य भेद भी नहीं किये जा सकते। सर्व जीव शुद्ध चैतन्य मात्र हैं।

प्रत्येक भव्य जीव भी सिद्ध नहीं होते। कहा भी है–

सिद्धत्तणस्स जोग्गा, जे जीवा ते भवंति भव सिद्धा।
णउमलविगमे णियमा, ताणं कणकोपलाणमिव॥ पं. सं.

जो जीव सिद्धत्व अवस्था पाने के योग्य हैं वे भव्य सिद्ध कहलाते हैं। किन्तु उनके कनकोपल (स्वर्णपाषाण) के समान मल का नाश होने में नियम नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार स्वर्णपाषाण में स्वर्ण रहते हुए भी उसको पृथक् किया जाना निश्चित नहीं है, उसी प्रकार सिद्धत्व की योग्यता रखते हुए भी कितने ही भव्य जीव अनुकूल सामग्री मिलने पर भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करते। धवला जी पु. 4 में भी कहा है कि यह कोई नियम नहीं है कि भव्यत्व की शक्ति रखने वाले सभी जीवों के उसकी व्यक्ति होना ही चाहिए अन्यथा सभी स्वर्ण-पाषाण के स्वर्ण पर्याय से परिणमन का प्रसंग प्राप्त होगा किंतु ऐसा देखा नहीं जाता।

आचार्य भगवन् श्री नेमिचंद्र स्वामी द्रव्य संग्रह के अंतर्गत कहते हैं–

मग्गणगुणठाणेहि य, चउदस हि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।

संसारी जीव अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्ध नय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं।

स्वभाव व विभाव में लीन

भोगी लीणा विहावम्मि स-सहावुम्मुहा जदी।
संसारिणो विहावे य, सिद्धा सहाव-संजुदा॥8॥

अर्थ–भोगी विभाव में लीन है, यति स्वभाव के सन्मुख है, संसारी जीव विभाव में है तथा सिद्ध स्वभाव से युक्त हैं।

An epicurean or voluptuary is engrossed in impure nature and a yogi (naked ascetic) is engrossed in pure nature. Worldly being is in contradistinction and liberated souls are indulged in pure nature.

भावार्थ–जो भोगों को, पंचेंद्रिय विषयों को भोगता है वह भोगी कहलाता है। स्वभाव से विपरीत विभाव है। आलाप पद्धति में कहा है स्वभाव से अन्यथा परिणमन करना विभाव है। **''स्वभावादन्यथा भवनं विभावः।''** अथवा नय चक्र वृत्ति में प्ररूपित किया है **''सहजादो रूवंतरगहणं जो सो हु विब्भावो''** सहज अर्थात् स्वभाव से रूपांतर का ग्रहण करना विभाव है। ऐसे ही विभाव में भोगी लीन रहता है। आत्मा का स्वभाव भोगों को भोगना नहीं, बाह्य में रमना नहीं अपितु ज्ञाता दृष्टा रूप है। किंतु भोगी इन सबका विचार न कर विभाव में ही लीन रहता है।

पुनः कहा यति स्वभाव के सन्मुख है। आचार्य महाराज कहते हैं **''इंद्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः''** अर्थात् जो इंद्रियजय के द्वारा अपने शुद्धात्म स्वरूप में प्रयत्नशील होता है उसको यति कहते हैं। अथवा चारित्र में जो यत्न करे वह यति कहलाता है। श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दांत, यति ये एकार्थवाची हैं। ऐसा यति चारित्र को अंगीकार कर आत्मस्वभाव को प्राप्त करने हेतु पुरुषार्थरत है। धवला पु. 9 में कहा है कषाय, प्रमाद, असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्वादि जीव के गुण नहीं हैं इस कारण ज्ञान, दर्शन, संयम, क्षमा, मृदुतादि स्वभाव जीव है। इसी स्वभाव की प्राप्ति, आत्मगुणों की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति शुद्ध रत्नत्रय की साधना से ही संभव है। अतः रत्नत्रय की साधना में रत यति स्वभाव को प्राप्त करने के सन्मुख है।

कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भाव विभाव हैं। जीव तब तक ही संसार में है जब तक वह कर्मों से युक्त है विकारी भावों से युक्त है। अतः कहा संसारी जीव विभाव में है। सर्व कर्मों की आत्यन्तिकी निर्वृत्ति होने पर, सर्व कर्मों को नष्ट करने पर जीव सिद्धावस्था प्राप्त करता है, निज स्वभाव को प्राप्त करता है। अतः कहा सिद्ध स्वभाव से युक्त हैं क्योंकि एक भी विकारी भाव उनके शेष नहीं है। **''शुद्धोत्मोपलम्भ लक्षणः सिद्धपर्यायः''** शुद्धात्मोपलब्धि ही सिद्ध पर्याय का लक्षण है। सिद्धों के विषय में कहा है–

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।।

जो अष्ट विध कर्मों से रहित हैं, अत्यंत शांतमय हैं, निरंजन है, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं, लोक के अग्रभाग पर निवास करते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

इस प्रकार भोगी भोगों में आसक्त हुआ विभाव में लीन है, यति जो मोक्ष प्राप्ति के श्रम में अनुरक्त हैं वे स्वभाव के सन्मुख है, संसारी जीव कर्मों से संयुक्त होने के कारण विभावयुक्त है।

संसारी व मुक्त जीव

मुत्ता तहा हु संसारी, जीवा जाणेज्ज बे विहा।
सकम्मा होंति संसारी, मुत्ताकम्मा हु भण्णदे॥9॥
संसारीणं हु बेभेया, जाणेज्ज थावरो तसो।
पणहा चदुहा मण्णे, कमसो थावरो तसो॥10॥

अर्थ–जीवों को संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार का जानना चाहिए। कर्मों से सहित संसारी और कर्मों से रहित, निश्चय से मुक्त जीव कहे जाते हैं।

Living beings are of two kinds worldly and liberated. The creatures who are endowed with karmas are called worldly souls and who are devoid of karmas are called liberated souls. Worldly beings are of two types mobile and immobile. Mobile and immobile beings are of five and four kinds, respectively.

निश्चय से संसारी जीवों के त्रस और स्थावर दो भेद जानना चाहिए। स्थावर और त्रस के क्रम से पाँच व चार भेद हैं।

भावार्थ–ज्ञान-दर्शनोपयोगमय जीव है। आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी राजवार्तिक में कहते हैं **''दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् 'जीवति, अजीवीत्, जीवष्यति' इति वा जीवः।''** अर्थात् दश प्राणों में से अपनी पर्यायानुसार गृहीत यथायोग्य प्राणों के द्वारा जो जीता है, जीता था व जीवेगा इस त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते हैं। जीव कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीर प्रमाण है, अनादिनिधन है, चेतना गुण वाला है। जीव दो प्रकार के हैं–संसारी व मुक्त। **'संसारिणोमुक्ताश्च'**। जो जीव कर्मों से सहित है, संसार में संसरण कर रहे हैं वे संसारी जीव कहलाते हैं। कहा है–

कम्मकलंकालीणा, अलद्धससहाव-भावसब्भावा।
गुणमग्गण जीवठिया, जीवा संसारिणो भणिया॥

कर्म कलंक से जो लिप्त हैं, स्व-स्वभाव को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया। गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थान में जो स्थित हैं वे संसारी जीव कहे गए हैं।

पुनः द्वितीय भेद-मुक्त। जो कर्मों से रहित हैं संसार परिभ्रमण का अंत हो गया, निज स्वभाव को प्राप्त कर लिया, उसमें लीन हैं वे मुक्त जीव कहलाते हैं। पंचास्तिकाय में कहा है–

''कम्ममलविप्पमुक्को उडुं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदिं सुहमणिंदियमणं तं॥''

कर्ममल से मुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोक के अंत को प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनंत अनिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

जो देह से रहित है, जिनके अष्ट कर्म नष्ट हो गए हैं, जो अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य से युक्त हैं, जो आठ महागुणों से युक्त हैं वे सिद्ध हैं। ये सिद्ध ही मुक्त जीव हैं।

संसारी जीवों के त्रस और स्थावर के भेद से दो भेद हैं। एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय होने से ये स्थावर कहलाते हैं। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं– **''स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिनः स्थावराः''** स्थावर नामकर्म के उदय से जीव स्थावर कहलाता है।

धवला पु. 1 में भी प्ररूपित किया है–

जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिंदिएण एक्केण।
कुणदि य तस्सामित्तं थावर एइंदिओ तेण॥

स्थावर जीव एक स्पर्शन इंद्रिय द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है इसीलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है।

ये पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक के भेद से 5 प्रकार के हैं।

जिस जीव के पृथ्वी रूप काय विद्यमान है उसे पृथ्वीकायिक कहते हैं।

जिस जीव के जल रूप काय विद्यमान है उसे जलकायिक कहते हैं।

जिस जीव के अग्नि रूप काय विद्यमान है उसे अग्निकायिक कहते हैं।

जिस जीव के वायु रूप काय विद्यमान है उसे वायुकायिक कहते हैं।

वनस्पतिकायिक जीव के दो भेद हैं–प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर। जहाँ एक शरीर का स्वामी एक जीव होता वह प्रत्येक शरीर जीव कहलाते हैं। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं **''प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतयः।''** जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है उन्हें प्रत्येक शरीर जीव कहते हैं। जैसे खैर आदि वनस्पति अथवा जिस जीव ने एक शरीर में स्थित होकर अकेले ही सुख-दुःख के अनुभव करने योग्य कर्म उपार्जित किया है, वह जीव प्रत्येक शरीर है।

यह प्रत्येक वनस्पति अप्रतिष्ठित और सप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार की है। एक ही जीव के शरीर वाली वनस्पति अप्रतिष्ठित है और असंख्यात साधारण शरीरों से समवाय से निष्पन्न वनस्पति सप्रतिष्ठित है। अथवा तृण, बेलि, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष, कंदमूल ऐसे 5 भेद प्रत्येक वनस्पति के हैं। ये पाँचों वनस्पतियाँ जब निगोद शरीर के आश्रित हों तो सप्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती हैं तथा

निगोद से रहित हों तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती हैं। पके हुए सेब, आमादि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है और आलू आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पत्ते, फल, फूलादि भी अत्यंत कचिया अवस्था में सप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं–जैसे कौंपल। पीछे पक जाने पर अप्रतिष्ठित हो जाते हैं।

बहुत जीवों का जो एक शरीर है वह साधारण शरीर कहलाता है। श्री षट्खंडागम जी में कहा है–

जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थथंताणं।।

जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ अनंत जीवों का मरण होता है और जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनंत जीवों की उत्पत्ति होती है। अथवा जिस जीव ने एक शरीर में स्थित बहुत जीवों के साथ सुख-दु:ख रूप कर्मफल के अनुभव करने योग्य कर्म उपार्जित किया है वह जीव साधारण शरीर है। साधारण जीव जिस समय एक श्वासोच्छ्वास लेता या आहार करता है उसी समय शेष अनंत जीवों के भी श्वासोच्छ्वास, आहारादि होता है। साधारण नामकर्म के उदय से जीव निगोद शरीरी होता है। **''साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति''**

संसारी जीवों का दूसरा भेद है–त्रस। दो इंद्रिय से 5 इंद्रिय तक के जीव त्रस होते हैं। द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों के भेद से त्रस जीव चार प्रकार के होते हैं। त्रस नामकर्म के उदय से जीव त्रस कहलाते हैं। **''त्रस नामकर्मोदयवशवर्ति नः त्रसाः''** पंचेंद्रिय जीव भी सैनी व असैनी के भेद से दो प्रकार के हैं। मन सहित जीव सैनी या संज्ञी कहलाते हैं और मन रहित जीव असैनी या असंज्ञी कहलाते हैं। सैनी व असैनी का यह भेद तिर्यंचों में ही होता है। सभी मनुष्य संज्ञी ही होते हैं। इस प्रकार जीवों का विवेचन यहाँ किया गया।

विभावी जीव का कर्त्तव्य

जाव जीवो विहावम्मि, ताव सुजीवणाय य।
सहाव-सम्मुहत्थं वि, मज्जादं खलु पालदु॥11॥

अर्थ–जब तक जीव विभाव में है तब तक अच्छे जीवन के लिए और स्वभाव सम्मुख होने के लिए भी निश्चय से मर्यादा का पालन करना चाहिए।

Till when worldly being is in impure nature, one should obey one's dignity for good life and aim for attaining pure nature.

भावार्थः–जब तक स्टेशन पर गाड़ी न आए तब तक धूप में खड़े होने की अपेक्षा छाया में प्रतीक्षा करना श्रेष्ठ है। जब तक जीव स्वभाव को प्राप्त न करे तब तक विभाव में रहकर पापार्जन से पुण्यार्जन करना श्रेष्ठ है। विभाव में रहकर अमर्यादित जीवन जीने से मर्यादित-अनुशासित जीवन जीना श्रेष्ठ है। बुरे कार्यों से सद्कार्यों को करना श्रेष्ठ है। जब तक जीव विभाव में है अर्थात् कर्मों से बंधा हुआ है, संसारी है तब तक आदर्श व श्रेष्ठ जीवन ही जीना चाहिए। जीवन तो संसार का प्रत्येक प्राणी जीता है किंतु अच्छा जीवन जीना एक अलग बात है। उस अच्छे जीवन की नींव है–मर्यादा, अनुशासन।

जिस प्रकार नेत्रों के बिना चेहरे का, अहिंसा के बिना धर्म का, धर्म के बिना समाज का, प्रेम-विश्वास के बिना रिश्तों का, ज्योति के बिना आँखों का, सुगंध के बिना पुष्पों का कोई महत्व नहीं है उसी प्रकार मर्यादा व अनुशासन के बिना जीवन का कोई महत्व नहीं है। पटरी पर चलती हुई ट्रेन ही अपनी मंजिल तक पहुँचती है, दोनों तटों के मध्य बहती हुई नदी ही समुद्र में जाकर के मिलती है उसी प्रकार मर्यादा में रहता हुआ मनुष्य ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जैसे मर्यादा से बाहर हुई ट्रेन व नदी विध्वंसकारक होती है उसी प्रकार मर्यादा रहित जीवन भी स्व-पर के लिए विनाशकारी प्रतीत होता है।

स्वतंत्रता और स्वच्छंदता में यही तो अंतर है। मर्यादा में रहकर कार्य करना स्वतंत्रता है। मर्यादा से बाहर होकर कार्य करना स्वच्छंदता है। स्वतंत्रता उन्नति का मार्ग विकसित करती है किंतु स्वच्छंदता पतन की ओर ले जाती है। ग्रंथकार कहते हैं जब तक आत्मा निज स्वभाव में लीन नहीं होती, जीव जब तक विभाव में है तब तक अच्छे व आदर्श जीवन के लिए वह मर्यादा का पालन करें।

'तच्च-सारो' ग्रंथ के अंतर्गत प्रथम जीव तत्त्व के कथन में करुणा से परिपूरित आचार्य भगवन् विभाव से युक्त जीव को स्वभाव सन्मुख होने का निर्देश देते हुए बताते हैं कि विभाव में स्थित जीव का जीवन मर्यादित व अनुशासित होना चाहिए।

जीव का सामाजिक स्वरूप

समाज का लक्षण

करेदि णिय-कज्जाणि, समूहो सज्जणाण जो।
चिंतदि हि हिदं णिच्चं, सो समाजो हु मण्णदे॥12॥
जण-जूहं हु जीवेदि सम्मरूवेण सव्वदा।
जीविस्सदि य जीवीअ, सो समाजो हि मण्णदे॥13॥

अर्थ–सज्जनों का समूह जो निज कार्यों को करता है, नित्य हित का ही चिंतन करता है वह निश्चय से समाज माना जाता है।

The youth of noble men which does its work and thinks good of all is considered good society. Or that youth of the gentle people who is living, used to live and will live properly is called society.

लोगों का वह समूह जो सर्वदा समीचीनता से ही जीता है, जीता था और जीवेगा वह ही समाज माना जाता है।

भावार्थ–सज्जन अर्थात् सत् + जन। सम्यक् या समीचीन लोग। जो लोग सदाचारी हों, बड़ों का सम्मान करने वाले हों, नैतिक मूल्यों का आँकलन कर जो स्वयं अनुशासित रहते हों, कर्त्तव्य पालन जिनका धर्म हो, प्रतिकूलताओं में भी न्याय-नीति के मार्ग को नहीं छोड़ते हों, विवेकी यानि सोच-समझकर कार्य करने वाले हों, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति समर्पित हों, इष्ट-मिष्ट व शिष्ट व्यवहार करते हों, परोपकारी हों, सम्यक् राह पर गमन करने वाले हों, ज्ञानी हों, हेयोपादेय का ज्ञान रखने वाले हों, कार्य-अकार्य के विचारक हों वे सज्जन कहलाते हैं। और सज्जन कैसे होते हैं तो कहते हैं–

नश्यत्तन्द्रो भुवनभवनोद्भूततत्त्वप्रदर्शी,
सम्यग्मार्गप्रकटनपरो ध्वस्तदोषाकर श्रीः।
पुष्यत्पद्मो गलित तिमिरो दत्तमित्रप्रतापो,
राजत्तेजा दिवसदृशः सज्जनो भाति लोके॥

जगत् में सज्जन दिन के समान सुशोभित होता है क्योंकि जिस प्रकार दिन आलस्य को नष्ट करने वाला होता है उसी प्रकार सज्जन भी अनुत्साह को नष्ट करने वाला होता है। जिस प्रकार दिन संसार रूपी भवन में उत्पन्न पदार्थों को दिखाने वाला होता है उसी प्रकार सज्जन भी समस्त संसार को गृह जैसा मानकर उसके स्वरूप को देखने या दिखाने वाला है। जिस प्रकार दिन समीचीन मार्ग को प्रकट करने में तत्पर रहता है उसी प्रकार सज्जन भी हितकारी मार्ग को दिखाने में तत्पर रहता है। जिस प्रकार दिन दोषाकर चंद्रमा की शोभा नष्ट करने वाला है उसी प्रकार सज्जन भी दोषों की

खान स्वरूप लक्ष्मी को नष्ट करने वाला है। जिस प्रकार दिन पद्म-कमल को पुष्ट करता है उसी प्रकार सज्जन भी पद्मा लक्ष्मी को पुष्ट करता है। जिस प्रकार दिन अंधकार को नष्ट करने वाला है उसी प्रकार सज्जन भी अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला है। जिस प्रकार दिन-मित्र सूर्य को प्रताप प्रदान करता है उसी प्रकार सज्जन भी मित्र-सुहृत-सखाओं को प्रताप प्रदान करता है और जिस प्रकार दिन सुशोभित होने वाले तेज-ऊष्मा से सहित होता है उसी प्रकार सज्जन भी शोभायमान तेज-प्रभाव से युक्त होता है।

सज्जन लोगों का व्यक्तित्व स्वयं सुखकारी और सभी को सुखदायक होता है। सज्जनों के द्वारा किया गया कार्य सभी के हित में होता है। वह स्व-पर हित में नियत रहता है। सज्जन और दुर्जन के विषय में बताने वाला एक सुंदर दृष्टांत शास्त्रों में आता है–

किसी नगर में एक ब्राह्मण रहा करता था। वह अपने परिवार का पालन पोषण करने में असमर्थ था। एक दिन वह अत्यधिक चिंता में डूबकर विचार करने लगा कि जब मैं अपना या अपने स्त्री-बच्चों का पेट नहीं भर सकता तो जीने का क्या फायदा? इससे तो मरना अच्छा है। ऐसा विचारकर वह ब्राह्मण जंगल की ओर चल दिया। जाते-जाते रास्ते में उसे एक पेड़ के नीचे शेर बैठा दिखाई दिया। वह ब्राह्मण उस शेर को देख डर से काँपने लगा। वह शेर भी दो दिन का भूखा था उसने सोचा चलो आज तो शिकार स्वयं चलकर आ गया। उसी समय उस पेड़ पर राजहंस पक्षी बैठा हुआ था। वह शेर के मन की बात जान जाता है और कहता है 'अरे गजराज! ये क्या विचार कर रहे हो। ये तो ब्राह्मण महाराज हैं। इनके आशीर्वाद से तेरा कल्याण होगा इसीलिए तूने जो गजमोती गाढ़ रखे हैं वे इन्हें भेंट कर दे।

शेर उस राजहंस पक्षी की बात सुनकर शांत हो गया और जमीन से गढ़े हुए गजमोती निकालकर ब्राह्मण को भेंट कर दिए और हाथ जोड़कर बैठ गया। ब्राह्मण ने भी खुश होकर शेर को आशीर्वाद दिया और चला गया। ब्राह्मण ने जाकर उन गजमोतियों को बेचा। जिससे प्राप्त धन से ब्राह्मण ने मकान बनाया और सब सुख सुविधाएँ प्राप्त की। किंतु वह धन कब तक चलता? दो-तीन साल बाद पुनः वही समस्या आ खड़ी हुई? ब्राह्मण ने विचार किया कि अब उसी शेर के पास चला जाए वहीं कुछ काम बन सकता है। यह सोचकर ब्राह्मण शेर के पास पहुँचा।

शेर ब्राह्मण को देख करके खड़ा हो गया और मोती ढूंढ़ने लगा। अब की बार उस वृक्ष पर कौआ बैठा हुआ था। बोला 'अरे मूर्ख' ये क्या कर रहा है? शिकार खुद चलकर तेरे पास आया है। जा और अपनी भूख शांत कर और हाँ बचा हुआ हमें दे देना वो हम सभी कौओं की दावत होगी। ऐसी उल्टी सलाह कौए ने दी। फिर क्या था शेर ने वैसा ही किया।

इस प्रकार कौए जैसे स्वभाव के लोग गलत ही सलाह देते हैं। इससे विपरीत राजहंस पक्षी जैसे स्वभाव के सज्जन लोग स्वयं सम्यक् मार्ग पर चलते हुए समीचीन मार्ग का ही उपदेश देते हैं।

आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी आदिपुराण में लिखते हैं–

सौजन्यस्य परा कोटिरनसूयादयालुता।
गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः॥ 1/91

ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवों से प्रेम करना यह सज्जनता की अन्तिम अवधि है और इसके विपरीत अर्थात् ईर्ष्या करना, दया नहीं करना, गुणी से प्रेम नहीं करना दुर्जनता की अन्तिम अवधि है।

सज्जन लोग अपने-अपने कार्यों को समीचीन रूप से करते हैं, अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। सज्जन लोग अधिकारों की ओर नहीं, कर्तव्यों की ओर दृष्टि रखते हैं। कर्तव्यों का पालन करने वाला अधिकार मांगता नहीं, उसे अधिकारों की संप्राप्ति हो जाती है। कर्तव्य की झोली में ही अधिकार के पुष्प संभालकर रखे जा सकते हैं। कर्तव्यों की भूमि पर ही अधिकार के वृक्ष उगाये जा सकते हैं। बिना कर्तव्य के आधार के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते।

कहा भी है–

अधिकारं पदं प्राप्तं, नोपकारं करोति यः।
अकार लोपमाप्नोति, ककारा द्वित्व मुच्यते॥

अधिकार के पद को प्राप्त करके जो दूसरों का उपकार नहीं करता। उसके जीवन में अकार का लोप होकर ककार का द्वित्व हो जाता है। अर्थात् उसका जीवन धिक्कारने योग्य हो जाता है।

समाज को परिभाषित करते हुए ग्रंथकार ने यहाँ सर्वप्रथम कहा कि समाज सिर्फ लोगों का समूह नहीं अपितु सज्जन व शिष्ट व्यक्तियों का समूह है। वास्तव में आचारवान् व्यक्तियों के द्वारा ही वह समाज समीचीनता को प्राप्त है। उसमें भी सभी व्यक्ति बिना किसी की अपेक्षा किए अपने कर्तव्यों का पालन करते हों। यदि सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का पालन ईमानदारी से करते हैं तो वैमनस्यता जैसी घुन जो समाज में पहुँचकर उसको बिखेर देती है, नष्ट कर देती है उसके लिए स्थान ही नहीं रहेगा। समाज वह है जो एक हो, नेक हो, प्रेम व वात्सल्य समेत हो।

जहाँ व्यक्तियों का समूह एक-दूसरे के हित में संलग्न हो। स्वार्थ भावना से ऊपर उठकर ही व्यक्ति पर हित के विषय में चिंतन कर सकता है। स्वार्थ की रस्सी से बंधा व्यक्ति दूसरों के हित-अहित का विचार नहीं कर सकता। अतः जहाँ व्यक्ति प्रत्येक कार्य दूसरों का अहित न हो अथवा हित को ध्यान में रखकर करता है। वह वास्तव में समाज को अलंकृत करता है।

व्यक्तियों का वह समूह जो समीचीन रूप से रहता है अर्थात् जिसका रहन-सहन सम्यक् है, खाना-पीना सम्यक् है यानि जो असेवनीय, अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करता। कुछ भी भक्षण करने से पूर्व विवेक का प्रयोग करता है, माँसादि अभक्ष्य पदार्थों का अथवा शराबादि मादक पदार्थों का सेवन नहीं करता। समूह जो सम्यक् प्रकार से आचरण करता है। व्यक्ति की सबसे बड़ी निधि

उसका चारित्र है, उस चारित्र को उज्ज्वल, निर्मल व धवल रखता है। चलना, उठना, बैठना, सोना आदि सभी क्रियाएँ समीचीन रूप से करता है। इष्ट-मिष्ट शब्दों का प्रयोग करता है। अपशब्दों का परिहार करता है और सुव्यक्तित्व का परिचय देने वाली मीठी वाणी बोलता है। जिसके जीवन की प्रत्येक क्रिया सम्यक् है अथवा जो अपने जीवन को समीचीन प्रकार से जीता है अथवा समूह जो सम्यक् प्रकार से रहता है जहाँ क्लेश, बैर, वैमनस्यता को चिरकालीन स्थान प्राप्त नहीं होता। वह प्रेम, वात्सल्य, एकता की अनुपम धारा प्रवाहित होती है। ऐसे व्यक्तियों का समूह ही निश्चित रूप से जो रहता है, रहता था, रहेगा समाज कहलाती है।

ऐसी समीचीनता को प्राप्त व्यक्तियों का समूह ही समाज है।

सामाजिक व्यवस्था

होदि अविहि-सम्माणो पूया-दाणेसु तप्परा।
कत्तव्वेसु जणा लीणा, रायणीदी वि वड्ढदे॥14॥
देदिज्जइ पुरक्कारं, सुहाकंखी परप्परे।
सामाजिग-ववत्था सा, दंडणीदी वि विज्जदे॥15॥

अर्थ–जहाँ अतिथि सत्कार होता है, पूजा दान में तत्पर रहते हैं, कर्तव्यों में सदा लीन रहते हैं, राजनीति भी वृद्धि को प्राप्त होती है, परस्पर में सुखाकांक्षी हैं, दंडनीति जहाँ विद्यमान है, सदा पुरस्कार दिया जाता है, वह सामाजिक व्यवस्था है।

Where there is hospitality, indulgence in worship, charity and duties, political enhancement, desire of mutual happiness, policy of punishment and tradition of award for honorable person, there social management exists.

भावार्थ–किसी भी क्षेत्र में व्यवस्था आवश्यक है। अव्यवस्था अशिष्टता को अनुशासनहीनता को दर्शाती है। छोटे से छोटे कार्य में भी व्यवस्था आवश्यक है। वर्तमान में युवा वर्ग मैनेजमेंट कोर्स कर रहा है। चाहे वह मैनेजमेंट बिजनिस का हो, इवेंट का हो, होटल का हो या अन्य किसी का। किंतु मैनेजमेंट-व्यवस्था आवश्यक है। ग्रंथकार भी यहाँ उसी व्यवस्था का निर्देश दे रहे हैं किंतु वह व्यवस्था सामाजिक है। जिस प्रकार घर-परिवारों में व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं उसी प्रकार कुछ सामाजिक व्यवस्थाएँ भी हैं जिनको व्यवस्थित रखना समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

सर्व प्रथम कहा अतिथि सत्कार। यहाँ अतिथि से प्रथम मुनि, आर्यिका, त्यागी व्रती ग्राह्य हैं तथा दूसरा आगंतुक मित्र संबंधी या शरणागत। अतिथि सत्कार की परंपरा आज से नहीं अपितु प्राचीन समय से है। यदि मुनि, साधु-संत, त्यागी व्रती नगर में विद्यमान हों तो प्रथम उन्हें आहार देकर पश्चात् स्वयं भोजन ग्रहण करना चाहिए। सुपात्र दान से यह जीव धनवान् बनता है।

और धन के प्रभाव से पुण्य का उपार्जन करता है और पुण्य के प्रभाव से स्वर्गवासी देव होता है तत्पश्चात् धनवान् भोग-उपभोग की सामग्री का भोक्ता होता है।[1]

घर पर आया प्रत्येक आगंतुक सम्मानीय है। यहाँ तक की घर पर आए शत्रु का भी सम्मान करने की परंपरा भारत में रही है। अतिथि-सत्कार का आशय केवल भोजनादि से नहीं है। अपितु चेहरे की मुस्कान उसके प्रति आपकी मनोभावना को प्रकट करती है। मुस्कुराता हुआ चेहरा स्वागत का सबसे अच्छा तरीका है।

पुनः मृदु व्यवहार और मृदुवाणी। अतिथि के प्रति कर्कश व्यवहार करना या बोलना अशिष्टता का प्रतीक है। अतः उसके प्रति कोमल नम्र व्यवहार करें। प्यार, स्थान, जल और मधुर वचन ये चारों चीजें सज्जनों के घर में दूसरों के सत्कार के लिए हमेशा मौजूद रहती हैं।[1]

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

पुनः पूजा-दान में तत्पर रहें। जिनेंद्र पूजन व्यक्ति में गुणों का विकास करती है, आंतरिक शक्ति प्रदान करती है। ईश्वर की उपासना बुराईयों का नाश करती है। ईश्वर की आराधना करने से पुण्य का बंध होता है, मनोकामना पूर्ण होती हैं। जो जिन अर्चा रचते हैं उन्हें आतंक कदाचित् कुपित होकर देखता नहीं, दरिद्रता विशेष रूप से आश्चर्य करके उसके पास नहीं आती, विरक्त स्त्री के समान कुपित हो उसका साथ छोड़ देती है, वैभव का उदय होता है और पुनः साथ नहीं छोड़ता।[2]

दान भी मनुष्य को आवश्यक है। जिस प्रकार तालाब के भीतर स्थित जल की रक्षा के लिए, प्रवाह के द्वारा थोड़ा-थोड़ा जल निकालते रहना आवश्यक है, उसी प्रकार संचित धन की रक्षा के लिए दान देते रहना आवश्यक है।[3] अपनी धन-संपत्ति वैभव को स्थिर व वृद्धिंगत करने का एक उपाय है—दान।

कर्त्तव्यों में सदा लीन रहें। कर्त्तव्यों का पालन करने वाला निज धर्म का ही पालन करता है। कर्त्तव्यों के पालन करने वालों की झोली में ही अधिकार के पुष्प खिलते हैं। यदि सभी व्यक्ति-अपने-अपने कर्त्तव्यों का पूर्ण निष्ठा और ईमानदारी के साथ पालन करें तो समाज, देश, राष्ट्र शीघ्र ही विकसित हो जायेगा। कर्त्तव्य पालन से आंतरिक सुख और शांति तो मिलती ही है और बाह्य में भी उसका सुफल सफलता के तौर पर दृष्टिगोचर होता है। कर्त्तव्य की चोरी करने से समाज पिछड़ती चली जाती है, नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन होता है। अतः उन्नति के लिए कर्त्तव्य पालन करें।

अगली बात कही राजनीति वृद्धिंगत होती है। बिना राजनैतिक ज्ञान के मात्र पराक्रमादि से राज्य का उत्थान संभव नहीं अतः राज्य या समाज के प्रमुख राजनैतिक ज्ञान से परिपूरित हों। जिन नीतियों के माध्यम से समाज की उन्नति हो, विकास हो, सर्वहितकारी हो उनका ज्ञान होना आवश्यक है। सर्वकल्याणकारी राजनीति विकसित हो।

---

1. **सुपात्रदानाच्च भवेद्धनाढयो, धनप्रभावेण करोति पुण्यं।**
   पुण्यत्रभावात्सुरलोकवासी, पुनर्धनाढचः पुनरेवभोगी॥
2. **कदाचिन्नातंकः कुपित इव पश्यत्यभिमुखम्। विदूरे द्रारिद्रयं चकितमिव नश्यत्यनुदिनं।**
   विरक्ता कान्तेव त्यजति कुगति सगमुदयो। न मुंचत्यभ्यर्णं स्वहृदिवजिनार्चां रचयता॥ सिं.प्र.
3. **उपार्जितानां वित्तानां दानमेव हि रक्षणम्।**
   तड़ागोदर संस्थानां परिवाह इवाम्भसाम्॥

परस्पर में सुख की आकांक्षा हो। व्यक्ति एक दूसरे के सुख को देखकर ईर्ष्यित न हो अपितु एक-दूसरे के सुख की आकांक्षा करे। ईर्ष्यालु व्यक्तियों का उत्थान संभव नहीं है और व्यक्तियों के विकास से ही समाज का विकास है। परस्पर में ईर्ष्या करने से व्यक्ति को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। एक व्यक्ति जो महात्मा जी की सेवा में रत रहता था उसे महात्मा जी से वरदान प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। वह बोला महात्मा जी मात्र मैं नहीं घर में माँ और पत्नी दोनों हैं वे भी वरदान माँगेंगी। महात्मा जी ने स्वीकृति प्रदान की। अगले दिन सभी लोग महात्मा जी के पास पहुँचे।

सास-बहू में झगड़ा होने लगा पहले वरदान कौन माँगे? बेटे ने कहा वरदान तो सभी को मिलेगा माँ बड़ी हैं उन्हीं को माँगने दो। सास मुस्कुराती हुई बोली कि मुझे अपनी बहू से बहुत अधिक सुंदर परी के समान 16 वर्षीय कन्या बना दो। महात्मा जी ने कहा-तथास्तु। अब 16 वर्ष की बन वह इठलाने लगी। दोनों में परस्पर में ईर्ष्या तो थी ही एक-दूसरे की खुशी देख ही नहीं सकती थीं। बहू की बारी आई। महात्मा ने पूछा तुम्हें क्या चाहिये? बोली मेरी सास को गधी बना दो। महात्मा जी ने कहा तथास्तु। बेटा की बारी आई वह यह सब देख बहुत दु:खी हो रहा था। महात्मा जी से बोला मेरी माँ जैसी थी उन्हें वैसी ही बना दो। महात्मा जी ने कहा तथास्तु।

इस प्रकार तीनों जैसे खाली हाथ आए थे वैसे ही चले गए। ईर्ष्या के कारण किसी के हाथ कुछ भी नहीं लगा। ईर्ष्यालु व्यक्तियों की उन्नति, विकास, सफलता संभव नहीं। अत: परस्पर में प्रेम भाव के साथ रहें, एक-दूसरे के सुख के आकांक्षी रहें क्योंकि दूसरे का भला चाहने वाले का भला स्वयं ही हो जाता है।

अगली बात दंडनीति विद्यमान हो। यदि समाज में दंडनीति न हो तो अपराध बढ़ते हैं। अत: अपराधी को दंडित करना आवश्यक है। अपराधी को दंडित करने से अन्यों का साहस अपराध के लिए नहीं होता। अपराध को बढ़ावा न देने के लिए दंडनीति आवश्यक है। तथा अच्छे कार्यों को वृद्धिंगत करने के लिए पुरस्कार देना आवश्यक है। एक व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए अच्छे कार्य हेतु पुरस्कृत करने से अन्य व्यक्तियों को अच्छे कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती है समाज सेवा करने वाले एक व्यक्ति का सम्मान कई समाज सेवियों का निर्माण करता है। अत: समाज में कोई व्यक्ति यदि सामाजिक विकास में सहयोग प्रदान करता है, समाज के लोगों की सहायता करता है तो उसे पुरस्कृत करना चाहिये।

नोबेल पुरस्कार, पद्म पुरस्कार आदि राष्ट्रीय स्तर पर मिलने वाले पुरस्कार सभी के लिए प्रेरणा दायक होते हैं। इस प्रकार ग्रंथकार ने समाज के विकास व उन्नति हेतु सामाजिक व्यवस्था कही।

योग्यतानुसार कार्य

खत्तिओ बंभणो वेस्सो, सुद्दो वण्णा य चोविहा।
जहोच्चिदं सुकज्जेसुं, रहेज्ज तप्परा सया॥16॥

अर्थ–वर्ण के चार भेद हैं–क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र। उनको सदा ही यथायोग्य सुकार्यों में तत्पर रहना चाहिए।

There are four kinds of social class- kshatriya, brahamin, vaishya and shudra. They all should join into good work according to their skills and capability.

भावार्थ–आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने श्री आदिपुराण में लिखा है कि जब प्रजा के जीवन निर्वाह के साधन कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, तब जीविका के बिना प्रजा के लोग मृत्यु की आशंका से त्राहि-त्राहि कर रहे थे। उस समय उनकी जीविका के साधन असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प व वाणिज्य की शिक्षा दी। जब प्रजा के लोग आजीविका से निश्चिंत हुए तब श्री ऋषभदेव ने उनकी आजीविकादि के अनुसार मनुष्य जाति में तीन वर्णों की स्थापना की। कहा भी है–

उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः॥183/16 (आदि.पु.1)

उस समय आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी जो कि क्षतत्राण अर्थात् विपत्ति से रक्षा करना आदि गुणों के द्वारा क्रम से क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कहलाते थे।

उस समय जो शस्त्र धारण कर जीविका करते थे वे क्षत्रिय और जो खेती, व्यापार और पशुपालन कर जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे। जो क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा-सुश्रूषा कर जीविका करते थे वे शूद्र कहलाते थे। उनके भी भेद कहे गए (1) कारू (2) अकारू। धोबी और नाई आदि कारू तथा उनसे भिन्न अकारू कहलाते थे। कारू शुद्र भी दो प्रकार के थे एक स्पृश्य यानि स्पर्श करने के योग्य और दूसरे अस्पृश्य-स्पर्श करने के अयोग्य। जो प्रजा से अलग निवास करते थे वे अस्पृश्य और नाई वगैरह स्पृश्य कहलाते थे।[1]

उक्त तीनों वर्ण के लोग अपना-अपना कार्य करते थे। वैश्य का कार्य क्षत्रिय या शूद्र नहीं करता था और न क्षत्रिय और शूद्र का कार्य कोई दूसरा करता था। विवाह, जातिसंबंध और व्यवहार ये सब कार्य श्री ऋषभदेव की आज्ञानुसार ही सब लोग करते थे।

---

1. **क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभयतदाभवन्। वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः॥184/16॥**
तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः। कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः॥185/16॥
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः। तत्रास्पृश्या प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः॥186/16॥

पुनः ब्राह्मण वर्ण की स्थापना भरत चक्रवर्ती ने की। इसका कथन आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में किया है। जब भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओं के साथ भरत क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर साठ हजार वर्ष में दिग्विजय से लौटे और सब कार्य कर चुके तब उन्हें चिंता हुई कि मेरी इस संपदा का उपयोग किस प्रकार हो सकता है। विचार किया कि सदा निःस्पृह रहने वाले मुनि को तो संपत्ति से कोई प्रयोजन नहीं, वे तो हम लोगों से धन लेते नहीं किंतु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्यादि संपत्ति द्वारा पूजा करने के योग्य है। जो अणुव्रत को धारण करने वाले हैं, धीर-वीर हैं और गृहस्थों में मुख्य हैं ऐसे पुरुष ही हम लोगों के द्वारा इच्छित धन व सवारी आदि वाहनों के द्वारा तर्पण करने योग्य हैं।

इस प्रकार निश्चय कर सत्कार करने के योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से सम्राट भरत ने उस समय सभी राजाओं को बुलाया और सबके पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने-अपने सदाचारी, इष्ट मित्र तथा नौकर-चाकर आदि के साथ आज हमारे उत्सव में अलग-अलग आवें।

इधर चक्रवर्ती ने उन सबकी परीक्षा करने के लिए अपने घर के आँगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये। उन लोगों में जो अव्रती थे वे बिना किसी सोच-विचार के राजमंदिर में घुस आये। राजा भरत ने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगों को बुलाया। परंतु बड़े-बड़े कुल में उत्पन्न हुए और अपने व्रत की सिद्धि के लिए चेष्टा करने वाले उन लोगों ने जब तक मार्ग में हरे अंकुर हैं तब तक उसमें प्रवेश करने की इच्छा नहीं की। पाप से डरने वाले कितने ही लोग दयालु होने के कारण हरे धान्यों से भरे हुए राजा के आँगन का उल्लंघन किये बिना ही वापिस लौटने लगे।

पुनः चक्रवर्ती के आग्रह करने पर वे दूसरे प्रासुक मार्ग से राजा के आँगन को लाँघकर उनके पास पहुँचे। चक्रवर्ती ने उनसे पहले नहीं आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा है देव, हरे अंकुर आदि में अनंत निगोदिया जीव रहते हैं उन जीवों की रक्षा के लिए हरे अंकुर, गीले फल, पुष्पादि से सुसज्जित आपके घर के आँगन का हमने उल्लंघन नहीं किया।

इस प्रकार उनके वचनों से प्रभावित हो भरत चक्रवर्ती ने उनकी प्रशंसा कर उन्हें दान-मानादि सत्कार से सम्मानित किया। पद्म नामक निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले ब्रह्मसूत्र नामक सूत्र (व्रतसूत्र) से उन सबके चिह्न किये। प्रतिमाओं के अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किया उनका भरत चक्रवर्ती ने सत्कार किया व अन्य सबको जाने दिया। व्रतों को ग्रहण करने से वे ब्राह्मण कहलाये।

मनुष्यजातिरेकैव जातिनाभोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ –38/45 आ.पु. 2

यद्यपि जाति नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गयी है।

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्, क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात्, शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥ –38/46 आ.पु. 2

व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाते हैं।

इस प्रकार आचार्य श्री ने यहाँ इन चार प्रकार के वर्णों का कथन किया व यथायोग्य कार्य करने का निर्देश दिया। जिस वर्ण को जिस कार्य का निर्देश प्रजापति ऋषभदेव ने दिया उसे उस ही कार्य में तत्पर रहना चाहिए।

शास्त्रों को पढ़ना, देव, गुरु और धर्म की भक्ति, स्तुति, पूजा करना, पात्रदान देना वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समान धर्म या कर्त्तव्य हैं।

''अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव॥'' –(नी. वा.)

शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, दान देना-लेना और ईश्वर की पूजा करना ये ब्राह्मणों के कर्त्तव्य हैं।

आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी भी कहते हैं–

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात्, स तेभ्यः समुपादिशत्॥ –38/24 आ.पु. 2

सम्राट चक्रवर्ती भरत ने उपासकाध्ययन नाम के अंग के आधार से उन ब्राह्मणों के लिए देवपूजा, वार्ता, पात्रदान, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, सदाचार व तपश्चर्या करना इन सत्कर्त्तव्यों का उपदेश दिया।

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम्॥ –(नी. वा.)

प्राणियों की रक्षा करना, शस्त्र धारण करके जीवन निर्वाह करना, शिष्ट पुरुषों की भलाई करना, अनाथ-अंधे, लूले-लंगड़े और रोगी आदि दीन पुरुषों का उद्धार करना और युद्ध से न भागना ये क्षत्रियों के कर्तव्य हैं।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने कहा है–**क्षतत्राणे-नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः** इतिहास के आदि काल में आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर ने अपने हाथों में शस्त्र धारण करने वाले क्षत्रिय वीर पुरुषों को अन्यायी (आततायी) दुष्ट पुरुषों से प्रजा की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया था।

आचार्य सोमदेव स्वामी ने यशस्तिलकचम्पू में लिखा है कि प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रियों का महान् धर्म है परंतु निरपराध प्राणियों के वध करने से वह नष्ट हो जाता है।

क्षत्रिय वीर पुरुषों के वंश में अहिंसा धर्म के मूल-प्रवर्तक और उनके अनुयायी महापुरुषों का जन्म हुआ है; क्योंकि 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण और 9 बलभद्र ये 63

शलाका पुरुष क्षत्रिय थे। इन सभी ने अपने-अपने राज्यशासन काल में उक्त क्षत्रियों के सत्कर्तव्यों-प्राणियों की रक्षा, शस्त्रधारण और शिष्टपालन आदि का पालन किया था।

श्रीषेण राजा ने जिनदीक्षा धारण की। प्रयाण वेला में अपने युवराज वीरपुत्र श्रीवर्मा (चन्द्रप्रभ भगवान् की पूर्व पर्याय) को निम्न प्रकार क्षात्रधर्म का उपदेश दिया था जिसे वीरनन्दि आचार्य ने चन्द्रप्रभ चरित्र में ललित और मनोहारिणी पद्य रचना में गुम्फित किया है प्राकरणिक और उपयुक्त होने के कारण उसका निर्देश करते हैं:-

हे पुत्र! तुम विपत्ति रहित या जितेन्द्रिय और शान्तशील होकर अपने तेज (सैनिक शक्ति और खजाने की शक्ति) से शत्रुओं के उदय को मिटाते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वी-मंडल का पालन करो।

जिस तरह सूर्य के उदय से चक्रवाक पक्षी प्रसन्न होते हैं उसी तरह जिसमें सब प्रजा तुम्हारे अभ्युदय से खेद रहित सुखी हो, वही गुप्तचरों-जासूसों के द्वारा देख जानकर करो।

हे पुत्र! वैभव की इच्छा से तुम अपने हितैषी लोगों को पीड़ा मत पहुँचाना; क्योंकि नीति-विशारदों ने कहा है कि प्रजा को खुश रखना (अपने पर अनुरक्त बनाना प्रजा से प्रेम का व्यवहार करना) ही वैभव का मुख्य कारण है।

जो राजा विपत्ति रहित होता है उसे नित्य ही सम्पत्ति प्राप्त होती है और जिस राजा का अपना परिवार वशवर्ती है, उसे कभी विपत्तियाँ नहीं होती। परिवार के वशवर्ती न होने से भारी विपत्ति का सामना करना पड़ता है।

परिवार को अपने वश करने के लिए तुम कृतज्ञता-सद्गुण का सहारा लेना। कृतघ्न पुरुष में और सब गुण होने पर भी वह सब लोगों को विरोधी बना लेता है।

हे पुत्र! तुम कलि-दोष जो पापाचरण है उससे बचे रहकर 'धर्म' की रक्षा करते हुए 'अर्थ' और 'काम' को बढ़ाना। इस युक्ति से जो राजा त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है, वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त करता है।

सावधान रहकर सदा मंत्री-पुरोहित आदि बड़े ज्ञान-वृद्धों की सलाह से अपने कार्य करना। गुरु की शिक्षा प्राप्त करके ही नरेन्द्र सुरेन्द्र की शोभा या वैभव को प्राप्त होता है।

प्रजा को पीड़ित करने वाले कर्मचारियों को दंड देकर और प्रजा के अनुकूल कर्मचारियों को दान-मानादि से तुम बढ़ाना। ऐसा करने से बन्दीजन तुम्हारी कीर्ति का कीर्तन करेंगे और उससे तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगन्तर में व्याप्त हो जाएगी।

तुम सदा अपनी चित्तवृत्ति (मानसिक अभिलषित कार्य) को छिपाये रखना। काम करने से पहले यह न प्रकट हो कि तुम क्या करना चाहते हो? क्योंकि जो पुरुष अपने मंत्र (सलाह) को छिपाये रखते हैं और शत्रुओं के मन्त्र को फोड़-फाड़कर जान लेते हैं वे शत्रुओं के लिये सदा अगम्य (न जीतने योग्य) रहते हैं। जैसे सूर्य तेज से परिपूर्ण है और सब आशाओं (दिशाओं) को व्याप्त किये

रहता है तथा भूभृत् जो पर्वत है उनके शिर का अलङ्कार रूप है उसके कर (किरणें) बाधाहीन होकर पृथ्वीपर पड़ती है वैसे ही तुम भी तेजस्वी होकर सबकी आशाओं को परिपूर्ण करो और भूभृत् जो राजा लोग हैं उनके सिरताज बनो, तुम्हारा कर (टेक्स) पृथ्वी पर बाधाहीन होकर प्राप्त हो।

इस प्रकार राजा ने उक्त नैतिक शिक्षा के साथ साम्राज्य-सम्पत्ति अपने पुत्र श्रीवर्मा को दी। उसने भी पिता के अनुरोध से उसे स्वीकार किया। सुपुत्र वही है जो पिता के अनुकूल कार्य करे। इस प्रकार क्षत्रिय धर्म की व्याख्या अन्य ग्रंथों में भी की गई है?

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम्॥

वैश्यों का धर्म-खेती, पशुओं की रक्षा, व्यापार द्वारा जीवन निर्वाह करना, निष्कपट भाव से ईश्वर की पूजा करना, सदा अन्न वितरण के स्थान, प्याऊ बनवाना, अन्य पुण्य कार्य-शिक्षामंदिर, कन्या-विद्यालय, विधवाश्रमादि बनवाना व प्राणी-रक्षा के लिए दानशालाएँ आदि स्थापित करना है।

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणां॥

शूद्रों का अपना धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों की सेवा करना, शिल्पकला, चित्रकला आदि, गीत, नृत्य व वादित्र गाना, नाचना, बजाना और भाट-चारण आदि का कार्य करना एवं भिक्षुकों की सेवा करना है।

इस प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने कर्त्तव्यों को जानकर उन्हीं में तत्पर रहना चाहिए।

संसारी जीव स्वभाव

संसारस्स हु जीवाणं, सहावो तह णेगहा।
सरुइ-अणुसारेणं, पवट्टंति सया जणा।।17।।

अर्थ–निश्चय से संसार के जीवों का सदा अनेक प्रकार का स्वभाव है तथा वे सभी लोग अपनी रुचि के अनुसार प्रवर्तन करते हैं।

There are many kinds of nature of worldly beings. They all act according to their interest.

भावार्थ–संसार में विभिन्न स्वभाव वाले लोग रहते हैं। किसी का स्वभाव शांत है तो किसी का उग्र, कोई क्षमाशील है तो कोई क्रोधी, कोई विनम्र है तो कोई अहंकार से युक्त, कोई संतोषी है तो कोई लोभी, कोई प्रसन्न है तो कोई शोकाकुल, कोई वात्सल्य युक्त है तो कोई कलह प्रेमी, कोई सम्मान करने में कुशल तो कोई तिरस्कार का विश्वासी, कोई लोगों को जोड़ने वाला तो कोई तोड़ने वाला, कोई हित के मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाला तो कोई अहित की ओर आकृष्ट करने वाला, कोई जीवन में सुख शांति के फूल बिखेरने वाला तो कोई बाधाओं के शूल बोने वाला, कोई धर्माराधक तो कोई धनाराधक, कोई उदार तो कोई कृपण, कोई सरल तो कोई कपटी, कोई न्याय मार्ग पर अग्रसर तो कोई अन्याय के साथ जीने वाला, कोई 'सत्यं शिवं सुंदरं' को चरितार्थ करने वाला तो कोई असत्य का साथ देने वाला, कोई जीवन को संयम से सुरभित करने वाला तो कोई असंयम से दुर्गंधित, कोई अहिंसा का पोषण करने वाला तो कोई हिंसा के माध्यम से पापार्जन करने वाला। इन अनेक प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य संसार में विचरण करते हैं।

जिनकी जिसमें रुचि होती है वे उसी के अनुसार प्रवर्तन करते हैं। जिस वस्तु में मानव की रुचि होती है उसमें हमारा ध्यान स्वाभाविक रूप से केन्द्रित हो जाता है। 'मैक्डूगल' के अनुसार ''रुचि दिया हुआ अवधान है और अवधान रुचि का क्रियात्मक रूप है।'' कई बार जो वस्तु हमारे साथ अत्यधिक संबंधित होती है, उसके प्रति हमारी रुचि उतनी ही अधिक होती है। अच्छे कार्यों में रुचि पुण्यास्रव का कारण है और इसके विपरीत बुरे कार्यों की ओर झुकाव जीव के पतन का कारण है। अत: व्यक्ति अपनी रुचि ही अच्छे की ओर बनाए जिससे वह सुखद जीवन जी सके तथा उभय भव में सत्फल प्राप्त कर सके।

ग्रंथकार यहाँ प्ररूपित करते हैं कि मानव की जैसी रुचि होती है वैसा उसका कार्य होता है। अत: जो-जो भी कल्याण के साधन हैं उन सभी के प्रति प्रीति होनी चाहिए। जब सद्गुणों के प्रति प्रेम बढ़ता है तो दुर्गुण अपने आप छूटते चले जाते हैं। पुण्य के प्रति अनुराग, पापों की हानि में सहायक है। मोक्ष मार्ग के प्रति अनुराग संसार की हानि ही करता है। संसार में जीव का सम्यक् स्वभाव वास्तव में आत्म स्वभाव को प्राप्त करने हेतु उपकारी सिद्ध होता है।

सादा जीव-उच्च विचार

वियारुच्चो हवेज्जा हु, सरलं जीवणं तहा।
सुधम्मो जीवणे होज्ज, खीरम्मि य जहा घिदं॥18॥

अर्थ–व्यक्ति के विचार उच्च तथा जीवन सरल होना चाहिए जिस प्रकार दूध में घृत होता है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में समीचीन धर्म होना चाहिए।

Everyone should have simple living and high thinking. As there is ghee in milk so there should be religion in every soul.

भावार्थ–जीवन तो संसार का प्रत्येक प्राणी जीता है किन्तु अच्छा जीवन कुछ ही प्राणी जी पाते हैं। जीवन जीना भी एक कला है। ऐसा जीवन हो जिसमें परस्पर सौहार्दता, समन्वयता, सहयोग निहित हो, ऐसा जीवन हो जिसमें कृत्रिमता या दिखावा ना हो, जो प्रदर्शन से दूर व वास्तविकता के निकट हो। जहाँ विचारों का सम्मान व गुणों का आदर होता है वहाँ संस्कृति महक उठती है। पुष्प तो कागज के भी होते हैं किन्तु उनकी कृत्रिमता भौरों को आकृष्ट करने में असमर्थ है। सुगंध से भरे वास्तविक पुष्पों की ओर भौंरे स्वयं खिंचे चले आते हैं। व्यक्ति का सही मूल्यांकन करने वाला उसके बाह्य परिवेश को नहीं उसके उन्नत विचारों को देखता है। उच्च विचार वाला यदि सामान्य वेशभूषा में भीड़ में भी खड़ा हो तब भी उसे वहाँ से निकलकर एक उच्च स्थान मिल ही जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक स्वच्छ मजबूत ईंट कहीं भी पड़ी हो उसे महल की दीवार में स्थान मिल ही जाता है।

जिसका जीवन जितना सरल और विचार जितने उच्च होते हैं वह उतना ही सुखी व्यक्ति है। क्योंकि सादगी पूर्ण जीवन उसी का संभव है जिसके पास संतोष रूपी धन हो व संतुष्ट व्यक्ति कभी दु:खी नहीं होता। व्यक्ति के पास बाह्य वैभव, ज्ञान आदि कितना भी क्यों ना हो किंतु ये सब प्राप्त कर उसे फल-फूलों से लदे वृक्ष के समान हो जाना चाहिए अर्थात् जैसे फल-पुष्पों से लदा वृक्ष झुक जाता है उसी प्रकार मनुष्य को भी विनम्र हो जाना चाहिए।

मनुष्य का आचरण ही उसे महान् बनाता है, उसके उच्च व श्रेष्ठ विचार ही उसे आदरणीय बनाते हैं तथा इन्हीं विचारों से होता है एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण। सर्दियों का समय था, अत्यंत शीत लहर वायुमंडल में प्रवाहित हो रही थी। मोती लाल नेहरू जी के यहाँ विशेष मीटिंग रखी गयी जिसके लिए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी को आना था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी की ट्रेन लगभग रात्रि 8 बजे पहुँच जाती किंतु वह लेट हो गयी और 11-12 बजे के आस-पास पहुँची। वे सीधे रात्रि में मोती लाल जी के निवास स्थान पर पहुँचे। बाहर गार्ड खड़ा हुआ था। नेहरू जी गार्ड को समाचार देना भूल गए थे। उसने डॉ. साहब को ये कहकर रोक दिया कि जब तक सुबह न हो तब

तक आप अंदर नहीं जा सकते, रात्रि में किसी का भी अंदर प्रवेश निषिद्ध है। उनकी सरलता तो देखो उन्होंने गार्ड को डाँटा नहीं, डराया नहीं और सहजता से कह दिया कोई बात नही व वहीं बिछे तखत के नीचे भूमि पर सो गए। दो-तीन घंटे में ही बाहर की सर्दी के कारण उन्हें जोर से खाँसी होने लगी। उनकी खाँसी की आवाज अंदर नेहरू जी तक पहुँची। जानी-पहचानी आवाज को सुन नेहरू जी बाहर पहुँचे और देखा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी वहाँ भूमि पर स्थित थे। नेहरू जी देखकर स्तब्ध रह गए और उनसे क्षमा माँगी, उन्हें अंदर लेकर जाने लगे।

यह संपूर्ण दृश्य उस गार्ड ने देखा तो वह डर गया कि मैंने इन व्यक्ति को अंदर जाने से रोक दिया, जिनको लेने स्वयं नेहरू जी आए हैं अब तो मेरी नौकरी नहीं बचेगी, अब मैं क्या करूँगा, और सोचते हुए शीघ्र उनके कदमों में पहुँचा बोला मुझे क्षमा कर दो। तब डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा तुम्हारी तो कोई गलती ही नहीं है और नेहरू जी से बोले कि आपका यह गार्ड बहुत कर्त्तव्यनिष्ठ है। इसने आपके बनाए नियमों का पालन किया, मेरे विचार में तो इसकी तनख्वाह बढ़ा देनी चाहिए। डॉ. साहब के इन शब्दों को सुनकर गार्ड की आँखों से अश्रु छलक पड़े।

व्यक्ति महान् होता है अपनी सरलता से, अपने सकारात्मक श्रेष्ठ विचारों से। ''व्यवस्था में रहें, व्यवस्थित रहें, व्यवस्थापक न बनें'' एक सरल सहज व्यक्तित्व ही इस सूक्ति को चरितार्थ कर सकता है। जो व्यक्ति जितना गंभीर व गुणों से पूर्ण होता है वह उतना ही अधिक दिखावे, प्रदर्शन आदि से दूर सादगीपूर्ण जीवन जीने में विश्वास रखता है।

कभी किसी को ये न बताएँ आप कौन हैं आपके कार्य और आपके विचार स्वयं आपका परिचय दे देते है। उन्नत विचार ही उन्नत समाज, उन्नत देश व राष्ट्र का निर्माण करने में समर्थ हैं। अन्यथा जिस प्रकार अत्यंत संकीर्ण रास्ते से दो वाहन एक साथ नहीं निकल सकते उसी प्रकार संकीर्ण मानसिकता से युक्त भी किसी के साथ चलने या किसी को अपने साथ चलाने में समर्थ नहीं है तथा महान् विचार उस मर्यादा युक्त मैदान की तरह हैं जहाँ विभिन्न लोग आकर के बैठ सकते हैं। श्रेष्ठ विचारक सकारात्मक दृष्टिकोण से लोगों की भावनाओं को समझता हुआ उन्हें साथ लेकर चल सकता है।

ग्रंथकार पुनः प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार दूध में घृत होता है उसी प्रकार मानव-जीवन में धर्म होना चाहिए। आचार्य भगवन् श्री समन्तभद्र स्वामी ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है-

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

जो प्राणियों को संसार के दु:ख से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म कर्मों का विनाशक तथा समीचीन है।

यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:

जिन सत्कर्त्तव्यों के अनुष्ठान से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं।

ग्रंथकार संसारी प्राणियों के प्रति अत्यंत करुणा की भावना से उन्हें धर्म धारण करने का निर्देश देते हैं क्योंकि धर्म ही भव-दु:खों से रक्षा करने में समर्थ है। किंतु धर्म भी वस्त्र की तरह प्रदर्शन हेतु कुछ समय के लिए स्वीकार न किया गया हो अपितु जिस प्रकार दूध के प्रत्येक हिस्से में घृत होता है, उसके अंतरंग में निहित होता है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में धर्म होना चाहिए। व्यक्ति चाहे किसी भी स्थान पर हो किंतु धर्म उसके जीवन में घुला हो, समीचीन धर्म का प्रवाह प्रतिक्षण उसके जीवन में हो। आचार्य गुणभद्र स्वामी ने बहुत वैज्ञानिक बात अपने ग्रंथ में कहीं–

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं च तावद्,
हंता न हंतुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्ट्वा परस्पर हतिर्जनकात्मजानां,
रक्षा ततोऽस्य जगत: खलु धर्म एव॥

जब तक व्यक्ति के मन में धर्म होता है तब तक वह अपने मारने वाले को भी नहीं मारता और धर्म से रहित पिता-पुत्र परस्पर में घात करते हैं अत: इस संसार में निश्चय से धर्म ही रक्षक है। यह धर्म ही सबकी रक्षा करने वाला है।

वर्तमान काल में हृदय कंपित कर देने वाली घटनाएँ ये धर्म के अभाव का दुष्फल जानो। धर्म युक्त वह व्यक्ति पूरे संसार में कहीं भी पहुँच जाए वह कोई गलत कार्य नहीं कर सकता किंतु जब-जब धर्म का, धार्मिक संस्कारों का अभाव मानव के जीवन में होता है तब-तब उसका जीवन तो कष्टकारी होता है अपितु उसके साथ रहने वालों के जीवन में भी दु:ख व पीड़ा का प्रादुर्भाव हो जाता है अत: आवश्यक है धर्ममय जीवन।

धार्मिक व्यक्ति झूठ, चोरी, छल-कपट, हिंसादि में प्रवृत्त नहीं होता। वह धर्म, परिवार, समाज व देश के प्रति निष्ठा से अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है।

जीवन में धर्म के सद्भाव से तीव्रता से विस्तरित सामाजिक बुराईयाँ नष्ट हो जाती हैं। धर्मी इस भव व पर भव दोनों में सुख प्राप्त करता है। धर्म का विस्तार जीवन में हो या परिवार में, समाज में हो या राष्ट्र में सुख शांति समृद्धि तो वृद्धिंगत होती है। विश्व शांति की स्थापना भी तभी संभव है जब वहाँ रहने वाले मानवों के जीवन में धर्म की स्थापना हो।

अत: ग्रंथकार की विराट व व्यापक दृष्टि धर्ममय जीवन का संदेश देती है।

कहाँ क्या हो

अहिंसा गिह-कज्जेसुं, ववहारे सुमिट्ठदा।
वयणेसु अणेगंतो, सागाहारो य भोयणे॥19॥

अर्थ–गृह-कार्यों में **अहिंसा** हो, व्यवहार में **सुमिष्टता** हो, वचनों में **अनेकांत** हो और भोजन में **शाकाहार** हो।

There should be non-violence in homedeeds, goodness in behaviour, relative pluralism in words and vegetarianism in food.

भावार्थ–ग्रंथकार के द्वारा प्रतिपादित ये चार सूत्र, चार स्तंभ की तरह से हैं जिन पर समीचीन धर्म रूपी भवन टिका हुआ है। एक भी स्तंभ की हीनता में धर्म स्थिर नहीं रह सकता और उसके अभाव में संपूर्ण मानव जीवन असंतुलित हो जाएगा, वह मानवीय मूल्यों पर टिक नहीं पाएगा। ग्रंथकार के द्वारा कहे गए स्तंभों में से प्रथम स्तंभ है–**गृह कार्यों में अहिंसा।** अहिंसा प्राणों की प्राण है, प्राणियों की रक्षा के लिए जननी के समान है, सभी के लिए अहिंसा वरदान स्वरूप है। अहिंसा को विस्तृत रूप में परिभाषित करते हुए कहा–''मानसिक, शाब्दिक, शारीरिक, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से, जाने या अनजाने में, साभिप्राय वा बिना शर्त के, स्वयं से या दूसरों के द्वारा किसी भी छोटे-बड़े जीव को आघात न पहुँचाना, आहत न करना, पीड़ा-कष्ट वा दुःख ना देना, अपमान न करना, भेदभाव न करना, उत्पीड़न न करना, न अन्याय-अत्याचार, न बुरा व्यवहार न अपशब्द और वध न करना अहिंसा है।

अहिंसा आकाश के समान है। जिस प्रकार आकाश सबको अवगाहना देता है, आकाश में सब स्थान पाते हैं, उससे बाह्य कुछ भी नहीं उसी प्रकार अहिंसा में अन्य सभी धर्म समाहित हैं। अहिंसा के बिना धर्म नहीं हो सकता। समीचीन सभी चिंतक, मनीषी व धर्मगुरु इसे मानवचरित्र का मूल सिद्धांत मानते हैं। चार्ल्स डार्विन ने कहा ''छोटे से छोटे पशु के प्रति सहानुभूति रखना मनुष्य का सबसे बड़ा सद्गुण है। तो वहीं वर्तमान में बढ़ती हिंसा की भर्त्सना करते हुए रेव, ए. डी. बेल्डन ने लिखा **''क्रूरता आधुनिक सभ्यता का कैंसर है।''**

स्नेह, हर्ष, शांति, सहनशीलता, दया, वात्सल्य, औचित्य, समन्वयता, सौहार्दता विश्वसनीयता सज्जनता, आत्मनियंत्रण आदि गुणों का प्रादुर्भाव अहिंसा के माध्यम से होता है। अहिंसा ही परम ब्रह्म है, सुख-शांति देने वाली है व मानव का सच्चा कर्म है। यूँ तो अहिंसा का वर्णन बहुत विशद है व इसकी सूक्ष्म व्याख्याएँ भी हैं किंतु गृहकार्यों में अहिंसा, इस प्रकार यह कहकर ग्रंथकार ने स्पष्ट कर दिया कि गृहस्थों के लिए मुख्यता यहाँ कथन है।

हिंसा चार प्रकार की होती है–संकल्पी, उद्योगी, आरंभी व विरोधी। किसी जीव का वध करना वा संकल्प मात्र भी संकल्पी हिंसा है। जीवन निर्वाह के लिए व्यापार आदि करने में हुई हिंसा

उद्योगी हिंसा है। भोजनादि गृह कार्यों में हुई हिंसा आरंभी हिंसा है और स्व-पर रक्षार्थ हुई हिंसा विरोधी हिंसा है। संकल्पी हिंसा तो गृहस्थ के लिए सदैव त्याज्य ही है। किंतु वह उद्योग अर्थात् व्यापार भी ऐसा करे जिसमें प्राणियों को न्यूनतम कष्ट हो।

गृहकार्य भी गृहस्थ के लिए आवश्यक है किंतु उन्हें सावधानी से, यत्नाचारपूर्वक करे। उदाहरण के लिए माना वस्त्र तो सभी धोते हैं किंतु एक गृहस्थ के द्वारा इस प्रकार धोए जा रहे हैं कि अनछना जल, उस पर भी वह जल जहाँ डाल रहे हैं वहाँ पिपीलिकाओं का समूह जो उसमें बहती जा रही हैं या अन्य भी छोटे-जीव। और दूसरा गृहस्थ छने जल का प्रयोग करता हुआ, निर्जन्तुक स्थान पर धोता है। कार्य तो दोनों ने किया किंतु प्रथम गृहस्थ अत्यंत पाप का आस्रव करता है। ऐसे कई कार्य गृहस्थों के जो आवश्यक हैं उन्हें करे किंतु अन्य जीवों का घात न हो इस प्रकार ध्यान रखते हुए।

और कम से कम जिन पापों को किए बिना काम चल जाए उन्हें अवश्य छोड़ दें। इस प्रकार गृह के सभी कार्यों को सावधानी रखते हुए संपन्न करना चाहिए और करुणा, दयादि भाव सहित जीवों की रक्षा करते हुए जीवन को पापों से बचाना चाहिए।

पुनः कहा व्यवहार में **सुमिष्टता**। भोजन में मीठा हो या न हो किंतु व्यवहार में तो मिष्टता होनी ही चाहिए। किसी से प्रथम बार भेंट होने पर पश्चात् उसके वस्त्राभूषणादि याद रहें या नहीं किंतु उसका व्यवहार सदैव याद रहता है। व्यक्ति आपको तो भूल सकता है किंतु आपके व्यवहार को नहीं। व्यक्ति तो मिलने के पश्चात् चला जाता है किंतु उसका व्यवहार वहीं रह जाता है। वह व्यवहार ही उसके व्यक्तित्व को दर्शाता है।

एक बार ट्रेन में यात्री अपनी यात्रा का सुखद अनुभव ले रहे थे। जब साथी अच्छे हों तो यात्रा सुखदायी हो जाती है। एक स्टेशन पर ट्रेन रुकी और एक और यात्री उसमें चढ़ गया। अभी तक सभी लोग बड़े प्रेमभाव के साथ बातचीत करते हुए जा रहे थे किंतु यह यात्री सभी से अपशब्द कहने लगा। कभी किसी के साथ दुर्व्यवहार करता, कभी किसी के साथ। सभी-लोग परेशान हो गए। इंतजार कर रहे थे कि कब इस व्यक्ति से पीछा छूटे। कुछ समय पश्चात् ट्रेन रुकी और वह व्यक्ति अपना सामान उठाकर चलने लगा। सभी लोगों के चेहरे पर प्रसन्नता का भाव बिखर गया। इतने में ही वह व्यक्ति पूछता है अरे! यहाँ मेरा कोई सामान रह तो नहीं गया तभी एक वृद्ध व्यक्ति बोला-हाँ! आपकी एक चीज रह गयी है। उसने पूछा-क्या? वृद्ध ने कहा ''आपका बुरा व्यवहार यहाँ रह गया है।''

उन वृद्ध के इस वाक्य ने उस व्यक्ति को सोचने पर मजबूर कर दिया। उसे लगा बात सही है, यदि मैं सभी के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करता तो मेरा प्रेम व्यवहार लोग याद रखते, कुछ देर की भेंट में मैंने बहुत गलत छाप छोड़ी। उस गलत व्यवहार से मान, प्रतिष्ठा आदि कुछ भी नहीं रही।

इस चिंतन से उस व्यक्ति के जीवन में ऐसा परिवर्तन आया कि उसने फिर किसी के साथ बुरा व्यवहार नहीं किया।

World is an echo sound. दुनिया एक प्रतिध्वनि के समान है। हम जैसा बोलते हैं, जैसा व्यवहार दूसरों के प्रति करते हैं वैसा ही हमें अपने लिए प्राप्त होता है। कहा है–''**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**'' अर्थात् कभी भी किसी अन्य के साथ ऐसा व्यवहार न करो जो तुम स्वयं के साथ नहीं चाहोगे। इस नियम को आजकल 'गोल्डेन रूल' या 'एथिक ऑफ रेसिप्रोसिटी' कहते हैं।

तीसरा स्तंभ ग्रंथकार कहते हैं–**वचनों में अनेकांत।** अनेकांतवाद वस्तु के विराट स्वरूप को जानने का वह प्रकार है, जिसमें विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता है। मुख्य-गौण की सुंदर व्यवस्था से सब स्पष्ट हो जाता है। सम्यक् एकांतों के समूह को अनेकांत कहते हैं। दुराग्रह के अभाव का दूसरा नाम अनेकांत है। यह हर 'भी' का सूक्ष्म निरीक्षण करता है 'ही' लगाकर दुराग्रह नहीं करता अथवा 'ही' तक जाने से पहले उस वस्तु को सभी ओर से तलाशने का प्रयास करता है। आचार्य भगवन् श्री सिद्धसेन स्वामी ने तो ऐसे अनेकांतवाद को नमस्कार करते हुए कहा है–

जेण विणा लोगस्स, ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो, णमोऽणेगंतवायस्स॥

जिसके बिना संसार का व्यवहार सर्वथा चल ही नहीं सकता, उस लोक गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है। वास्तव में अनन्तधर्मात्मक वस्तु के यथार्थ एवं पूर्ण दर्शन का व्यवहार अनेकांतवाद के बिना असंभव है।

अनेकांत पद में दो शब्द हैं जिनसे वह बना है। एक शब्द है अनेक और दूसरा है अंत। अनेक का अर्थ नाना व अंत का अर्थ धर्म। जिसमें नाना धर्म हों या जो नाना धर्मात्मक हो वह अनेकांत है। विश्व की समस्त वस्तुएँ नाना धर्मों को लिए हुए हैं, इसीलिए सब अनेकांत है। यदि व्यक्ति अनेकांत को समझे तो संसार के सभी सैद्धांतिक विवाद शांत हो जाते हैं। अनेकांतवाद को समझने वालों में पुनः मतभेद उत्पन्न नहीं होता।

वचनों में अनेकांत का आशय यह नहीं कि मात्र मैं जो कह रहा हूँ वह ही ठीक है बल्कि इस प्रकार कहना कि यह भी ठीक है क्योंकि ऐसा वही कह सकता है जो सामने वाले के पक्ष, दृष्टि व मन्तव्य को भी समझे, और जब सब पक्षों पर दृष्टि जाती है तो वहाँ विवाद का तो स्थान ही नहीं। जहाँ दुराग्रह है ''दूसरे की अपेक्षा न समझ, मात्र मैं ही ठीक हूँ'' इस प्रकार की भावना होती है तो वहाँ निश्चय से विरोध होता है जबकि अनेकान्तात्मक दृष्टि रखने वाला अपनी व दूसरे दोनों की अपेक्षा को समझते हुए संतोषजनक निर्णय तक विवाद रहित होकर पहुँच सकता है।

किसी भवन के चारों ओर खड़े होकर चार फोटोग्राफर यदि उस भवन के फोटो लें, तो उस एक ही भवन के चार अलग-अलग फोटो आएँगे। इस पर वे फोटोग्राफर झगड़ा करने लगें कि ''मेरा फोटो ही ठीक है बाकी तुम तीनों के गलत हैं। तो उनके विवाद का निर्णय अनेकांतात्मक दृष्टि से हो सकता है। जैसे-भैया जिसने सामने खड़े होकर फोटो लिया है उसकी अपेक्षा यह फोटो ठीक है, जिसने पीछे खड़े होकर लिया उसकी अपेक्षा यह ठीक है, जिन्होंने दाएँ व बाएँ खड़े होकर फोटो लिया उनकी अपेक्षा यह ठीक है। इस प्रकार सब ही ठीक हैं।

गृहस्थ जीवन में भी कई बार ऐसे प्रसंग आते हैं जहाँ **''यह ही ठीक हैं''** कहने से विवाद की स्थिति उत्पन्न होती है अतः प्रत्येक विवाद और विरोधों की शांति के लिए ग्रंथकार ने एक मनोवैज्ञानिक सूत्र का प्रतिपादन किया कि **''वचनों में अनेकांत हो।''**

विश्व के प्राणियों में विचार-भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यह आश्चर्य का विषय नहीं क्योंकि व्यक्तियों का चिन्तन स्वतंत्र व बहुमुख होना स्वाभाविक है। किंतु यदि प्रत्येक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति के चिंतन को विरोध की दृष्टि से देखेगा तो पारस्परिक द्वेष व असहिष्णुता को उत्पन्न करेगा अतः शांतिप्रिय लोगों को दोनों दृष्टिकोणों पर चिंतन करना होगा। दोनों समीचीन दृष्टियों को समझकर दोनों दृष्टियों को स्वीकार कर लेना अनेकांत है।

यह अनेकांत दृष्टि सम्यग्दर्शन है, समस्याओं के समाधान का रत्नपुलिन है। इससे, भिन्न विचारों पर आक्रोश उत्पन्न नहीं होता। उसके स्थिर चित्त में इन विसंवादों से चलित भाव नहीं आता अपितु अर्थ की सर्वांगपूर्णता प्रतीत कर और अधिक दृढ़स्थैर्य प्राप्त होता है।

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में सम्मिलित हैं उसी प्रकार समस्त दृष्टियाँ अनेकांत समुद्र में मिली हैं, परंतु उन एक-एक में अनेकांत का दर्शन नहीं होता है, जैसे कि पृथक्-पृथक् नदियों में समुद्र नहीं दिखता। अतः हम अपने स्वल्प ज्ञान से अनन्तधर्मा वस्तु के एक-एक अंश को छूकर ही उसमें पूर्णता का अहंकार न करें, उसमें अन्य धर्मों के सद्भाव को भी स्वीकार करें।

चौथा स्तंभ ग्रंथकार ने कहा-**भोजन में शाकाहार।** मानव काय की स्थिति आहार या भोजन के बिना नहीं ठहर सकती। शरीर का मुख्य नियंत्रक तत्त्व आहार है। आहार रस भाग रूप परिवर्तित होता है और पुनः मन को प्रभावित करता है। शाकाहार एक अत्यंत मानवीय और सुविकसित जीवन दर्शन है। प्रकृति के साथ तालमेल शाकाहारी जीवन-पद्धति में ही संभव है। शाकाहार मनुष्य के लिए अमृतपान है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने सर्वे कर बताया कि लगभग 160 बीमारियाँ ऐसी हैं जो माँसाहार से मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर सकती हैं इनमें कुछ मृत्यु पर्यन्त तक रहती हैं और कुछ लाइलाज हैं। माँसाहार व्यक्ति की देह को तो रोगी बनाता ही है साथ में चित्तवृत्ति को भी खराब करता है।

शुभाचार और शांति में आस्था रखने वाला, शाकाहार के साथ जीवन का निर्वहन करने वाला मनुष्य सह-अस्तित्व की दुन्दुभि बजाता आगे कदम बढ़ा रहा है। शाकाहारी पद्धति मानवीय मस्तिष्क की पौष्टिकता और देह को आरोग्य प्रदान करती है। सन् 1964 में अमेरिकी राष्ट्रपति आयसन हॉवर (1890-1969) का निजी चिकित्सक, हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. पॉल डडले व्हाइट भारत आये थे और उन्होंने कश्मीर के हुंजाओं की आहार पद्धति का अत्यंत वैज्ञानिक सर्वे किया था। डॉ. व्हाइट हुंजाओं की आहार-शैली से बहुत प्रभावित हुआ था। उन्होंने देखा कि लगभग सभी हुंजा सुखी हैं, नीरोग हैं और उन्हें किसी प्रकार की सर्कुलेटरी डिसीज नहीं है। उन्होंने उनका बी.पी., कॉलेस्ट्रॉल चैक किया, इलैक्ट्रोकार्डियो ग्राम तैयार किए और निष्कर्ष निकाला कि किसी को कोई परिसंचारी रोग नहीं है। वृद्ध हूंजा को भी किसी प्रकार का हृदय रोग नहीं है। और इस प्रयोग के लिए उन्होंने 90 वर्ष से अधिक अवस्था के हुंजाओं की जाँच की।

डॉ. व्हाइट ने भारत से लौटकर 'अमेरिकी हार्ट जनरल' में एक शोध लेख प्रकाशित कराया उसमें उन्होंने स्पष्ट कहा कि हुंजाओं में हृदय रोग के न होने के कारण को उनकी आहार पद्धति में देखा जा सकता है। वे यह जानकर चकित रह गए कि संपूर्ण हुंजा जाति शुद्ध शाकाहारी है।

इस प्रकार कई माँस एक्सपेरीमेंट के संदर्भ सामने आए। प्रथम विश्व युद्ध में डेन्मार्क में खाद्य संकट के समय वहाँ की सरकार ने डॉ. मिक्केल हिन्धेडे को एक सुनियोजित राशन-पद्धति लागू करने के लिए नियुक्त किया। डॉ. हिन्धेडे ने माँस लगभग बंद कर दिया और अनाज अपने देशवासियों को देना शुरू कर दिया। वह पहला मौका था जब 30 लाख लोगों पर शाकाहार का एक सार्वजनिक प्रयोग किया गया। जब वैज्ञानिकों ने कोपनहेगन में अक्टूबर 1917 से अक्टूबर 1918 तक की मृत्युदर की समीक्षा की तब वे ये जानकर स्तब्ध रह गए कि उसमें 34 प्रतिशत कमी आयी है। इस तथ्य ने लोगों की आँखें खोल दीं और शाकाहारी जीवन पद्धति अपनाने के लिए विवश कर दिया।

प्रकृति प्रदत्त शाक, फलादि का भक्षण कर सभी को जीने के अधिकार के साथ स्वयं सात्विक पद्धति से जीना मानवीय है। शाकाहार मानव की मनोवृत्ति को भी सरल-सहज बनाता है और जीवन में आनंद का वातावरण निर्मित करता है किंतु भोजन ग्रहण करते हुए परिणामों में शांति और चित्त की प्रसन्नता अनिवार्य है तभी वह भोजन अमृत तुल्य होगा।

टी.वी. आदि देखते हुए, मैग्जीन या न्यूज पेपर आदि पढ़ते हुए, क्रोधादि कषायों के साथ, कुछ बुरा सोचते हुए अथवा तनाव के साथ किये गये भोजन का दुष्प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है। शाकाहार शब्द की विवेचना मात्र शाक-सब्जियों तक ही सीमित नहीं अपितु भाव सहित संपूर्ण सात्विकता उसके साथ परिगणित है। और सूक्ष्मता से विश्लेषण करें तो भोजन पकाने वाले पर भी ये सभी नियम लागू होते हैं क्योंकि जिस भावना के साथ भोजन पकाया जाता है वह भी मानव के चित्त को प्रभावित करती है।

शाहाकार सार्वभौमिक व सार्वकालिक है, संसार के प्रत्येक मानव के द्वारा अनुकरणीय है। प्रत्येक जीव की रक्षा करना मानव का कर्त्तव्य है उस कर्त्तव्य का पालनकर्त्ता कलेवर को ग्रहण नहीं कर सकता। दुनिया में जितने भी घृणित पदार्थ हैं वे जीव के शरीर से ही उत्पन्न होते हैं। मल-मूत्रादि से भरित निगोदिया जीवों का आश्रय रूप वह किसी भी जीव का शरीर कभी भी, किसी भी कारण कहीं भी अपनाने योग्य नहीं है।

अतः ग्रंथकार ने यहाँ कहा कि व्यक्ति का भोजन शाकाहार होना चाहिए। जो धार्मिक, सामाजिक, आरोग्य व प्रकृति की दृष्टि से भी सदैव पालनीय है। इस प्रकार इन चार स्तंभों पर टिका हुआ जीवन श्लाघ्नीय है एवं कल्याण के योग्य है।

सज्जनों द्वारा वृक्ष वपन

पत्तेय-सज्जणो णिच्चं, ववेज्ज सव्वदा तरू।
संवड्ढेज्ज य रक्खेज्ज, णो णासेज्ज कया वि ते।।20।।

अर्थ–प्रत्येक सज्जन नित्य ही वृक्षों का वपन करे। सज्जनों को सर्वदा उनका संवर्द्धन और संरक्षण करना चाहिए। वृक्षों को कदापि नष्ट नहीं करना चाहिए।

Every gentleman should plant daily. Those plants should always be nurtured and protected. None should destroy them.

भावार्थ–वृक्ष प्रकृति के सुंदर और उपयोगी उपहार हैं। प्रत्येक प्राणी का जीवन सीधे या अप्रत्यक्ष रूप से उनके अस्तित्व पर निर्भर है। वृक्षों ने मानव जीवन को दो आवश्यक भोजन और ऑक्सीजन के साथ सुसज्जित किया है। वृक्षों की भूमिका मानव की आधुनिक जीवन शैली के द्वारा बनाई गई जरूरतों को पूरा करने के लिए फैली हुई है। शांतिपूर्ण व सौंदर्य का माहौल बनाने में वृक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। पेड़ ऑक्सीजन प्रदान करके, वायु की गुणवत्ता में सुधार, जलवायु में सुधार, जल संरक्षण, मिट्टी के संरक्षण और वन्यजीव को समर्थन देने के द्वारा अपने पर्यावरण में योगदान देते हैं।

प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया के द्वारा पेड़ कार्बन-डाइ-ऑक्साइड ग्रहण करते हैं और ऑक्सीजन देते हैं। अमेरिकी कृषि विभाग के अनुसार, 'वन का एक एकड़ छह टन कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को अवशोषित करता है और चार टन ऑक्सीजन प्रदान करता है। यह 18 लोगों की वार्षिक जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त है। वृक्ष धूल हटाने, कार्बन-मोनो-ऑक्साइड, सल्फर-डाइ-ऑक्साइड और नाइट्रोजन डाइ ऑक्साइड जैसे अन्य प्रदूषकों को अवशोषित करके हवा को फिल्टर करते हैं।

वृक्ष–सूर्य, वर्षा व हवा के प्रभावों को नियंत्रित करते हुए जलवायु को नियंत्रित करते हैं। वृक्ष वायुमंडल में तापमान नियंत्रित रखते हैं, ग्रीनहाउस प्रभाव की गर्मी की तीव्रता को कम करते हैं। वृक्ष भूजल आपूर्ति पुनर्भरण में मदद करते हैं, रसायनों के प्रवाह को और बाढ़ को रोकते हैं। गिरने वाले पत्ते उत्कृष्ट खाद बनाते हैं जो मिट्टी को समृद्ध करते हैं। पशु-पक्षियों के तो ये निवास स्थान रूप भी कार्यरत हैं। अनेक जीवों की क्षुधा शांत करने में उपकारी हैं।

वृक्ष व्यावहारिक और व्यावसायिक उपयोगों की एक विस्तृत विविधता है। वृक्ष भवन निर्माण, फर्नीचर निर्माण, उपकरण, खेल के उपकरण, ईंधन के रूप में और हजारों घरेलू सामान के निर्माण के लिए लकड़ी प्रदान करते हैं। कागज बनाने के लिए लकड़ी के गूदे का उपयोग किया जाता है। वृक्ष रसायन व औषधियों का स्रोत हैं। यू.एस.डी.ए फॉरेस्ट सर्विस के अनुसार, 'इमारतों के आसपास ठीक से रखे गए पेड़ लगभग 30 प्रतिशत एयर कंडीशनिंग आवश्यकताओं को कम कर सकते हैं

और 20-50 प्रतिशत ऊर्जा को बचा सकते हैं। पेड़ों को हरा सोना भी कहा जाता है क्योंकि वह मूल्यवान संपदा है।

पर्यावरण के लिए वृक्षों का वपन आवश्यक है। वृक्षों को यदि पृथ्वी के फेफड़े कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वृक्षों पर अन्य कई जीवन आधारित हैं। एतावता वृक्ष पारिस्थितिकी तंत्र का एक अनिवार्य हिस्सा है अतः उनका संरक्षण व संवर्द्धन आवश्यक है। वृक्षों के बिना पृथ्वी पर जीवन व जीवों की कल्पना मात्र है। प्रकृति की अमूल्य धरोहर संरक्षित रहे अतः वृक्षों का वपन अनिवार्य है।

सम्यक व मर्यादित वस्त्र

णिरवज्जं पडं सम्मं, धारेज्ज सत्व-सज्जणा।
मज्जादा-अणुऊलं वि, सक्किदि-पोसगं तहा।।21।।

अर्थ–सभी सज्जनों को निरवद्य व सम्यक् वस्त्र धारण करने चाहिए। वे मर्यादा के अनुकूल तथा संस्कृति के पोषक भी हैं।

All noble people should wear immaculate and appropriate clothes. Those clothes should be friendly to dignity and homogeneous with culture.

भावार्थ–संस्कृति व सभ्यता के संवाहक ग्रंथकार उन संस्कृति-सभ्यता को दर्शाने वाले वस्त्रों का कथन करते हुए निरूपित करते हैं कि सुसंस्कृत, संस्कारवान् सज्जनों को निरवद्य अर्थात् पाप से रहित व समीचीन वस्त्र धारण करने चाहिए। वस्त्रों का संबंध मानव से अति निकटतम है।

मानव ने स्वयं को सदैव वस्त्रों से आवरणित रखा है। भोग भूमि में तो वस्त्रों की आवश्यकता वस्त्रांग नामक कल्पवृक्षों से परिपूरित हो जाती थी। पुनः कर्मभूमि का प्रारंभ होने पर वस्त्र एणाजिन, वल्कल, रेशम, कुसुंभ, सूती, ऊनी आदि के होते थे। आदिपुराण में इनका स्पष्ट उल्लेख है–

व्रत, उत्सवादि के अवसर पर भी वेशभूषा परिवर्तन करने का निर्देश उपलब्ध होता है।

पुरी स्वर्गपुरीवासौ समाः पीरा दिवौकसाम्।
तदा संधृतनेपथ्याः पुरनार्योऽप्सरः समा।।14/87।।

उस समय स्वर्गपुरी के समान लगने वाली अयोध्या नगरी में अनेक वस्त्राभूषण धारण किए हुई नगरवासिनी स्त्रियाँ अप्सराओं के समान जान पड़ती थीं।

क्षौम, दुकूल, अंशुक, शुकच्छायांशुक, स्तनांशुक, पटांशुक, सदंशुक, उज्ज्वलांशुक, प्रावार, परिधान, उवसंव्यान, उष्णीय, कंबर, चीवर आदि वस्त्रों का वर्णन भी आदिपुराण में है। धोती, चादर और पगड़ी की परंपरा तो आदिपुराण के भारत में स्पष्टतया है। अजंता-एलोरा के भित्तिचित्रों में भी आदिपुराण के समान वेशभूषा है।

पहने गए वस्त्र स्वयं के मन व मस्तिष्क को भी प्रभावित करते हैं एवं दूसरों को भी। मनुष्य की वेशभूषा उसके परिवेशादि की परिचायक है। मनुष्य की वेषभूषा या वस्त्र भी विभिन्न संकेत देते हैं। ये वस्त्र निजी या सांस्कृतिक पहचान का दावा, सामाजिक समूह के मानकों की स्थापना, अनुरक्षण या अवहेलना और आराम व कार्यक्षमता सहित अन्य सामाजिक संदेश भी संसूचित कर सकते हैं। यहाँ सूर्य में प्रकाश के समान हृदय में करुणा से परिपूरित आचार्य महाराज कहते हैं कि

वस्त्र हिंसा से रहित होने चाहिए। कुछ वस्त्र ऐसे होते हैं जिनका निर्माण जीवों के माध्यम से ही होता है। जैसे–'रेशम'। यह रेशम का वस्त्र रेशम के कीटों से निर्मित होता है।

शहतूत के वृक्ष पर रहने वाले रेशम कीट होते हैं जिन्हें Bombyx mori के नाम से जाना जाता है। मात्र 2-3 दिन तक जीवित रहने वाले ये कीट 300-400 अंडों को देती है। प्रत्येक अंडे से 10 दिन में एक Caterpillar (लार्वा) निकलता है फिर कुछ दिनों बाद यह तीन दिन तक निरंतर अपनी लार ग्रंथियों द्वारा स्थापित पदार्थ से एक ही लंबे धागे का घोल बनाता है जिसे कोया या कोकून कहते हैं। अब इस कोये को ही खौलते पानी में डालकर पूर्णकीट को अंदर ही मार देते हैं, तब जाकर कुछ मीटर धागा प्राप्त होता है।

असंख्यात जीवों को तड़पाकर मारने पर प्राप्त होने वाले वस्त्र नियम से धर्म भाव से परिपूरित, करुणावान् व्यक्तियों के द्वारा पहनने योग्य नहीं हैं। उन वस्त्रों को लेने वाला व्यक्ति भी उतने ही पाप का अधिकारी होता है जितना की बनाने वाला। बहुत से ऐसे वस्त्र हैं जो जीवों के माध्यम से नहीं बनते, सुंदर व आकर्षक भी होते हैं, उन्हीं का प्रयोग सज्जनों द्वारा किया जाना चाहिए।

दूसरी बात ग्रंथकार कह रहे हैं कि वे वस्त्र मर्यादा के अनुकूल हों। अमर्यादित वस्त्र स्वयं के लिए ही अनिष्टकारी सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि उनमें अनिष्ट शक्तियों को आकर्षित करने की क्षमता होती है। वासना को जन्म देने वाले वस्त्र कभी स्वयं के शील की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते और जिन वस्त्रों से शील की रक्षा न हो, देह भली भाँति न ढकी जा सके वे वस्त्र निरर्थक हैं। मोबाइल, मूवीज आदि से प्रभावित लोग कब स्व संस्कृति को भूलकर पश्चिमी सभ्यता की ओर दौड़ जाते हैं शायद उन्हें स्वयं भी ज्ञात नहीं।

पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित ऐसी ही एक बेटी नए वस्त्र पहनकर अपने पिता जी के सामने आकर खड़ी हुई और पूछा ''पापा! मैं कैसी लग रही हूँ।'' पिता को अपनी बेटी के वस्त्र मर्यादित न लगे तब उन्होंने अपनी बेटी को समझाने का पूर्ण प्रयास किया किंतु बेटी ''आप कुछ नहीं जानते, ये तो फैशन है'' ऐसा कहकर कुछ अनमने ढंग से चली गई। पिता तो पिता थे, वे ऑफिस गए और सबसे expensive I-phone मंगाया और अपनी बेटी के पास भिजवा दिया।

बेटी I-phone मिलते ही खुश हो गई। पिता को धन्यवाद कहने के लिए उसने फोन लगाया। पिता ने पूछा बेटा तुम इसका सबसे पहले क्या करोगी? बोली ''पापा! सबसे पहले स्क्रीन गार्ड और कवर लाऊँगी।'' पिता ने पूछा 'क्यों', बोली '' पापा! इतना महंगा है, स्क्रैच वगैरह आ गए तो। इसकी Safety करनी जरूरी है।'' पिता ने कहा बेटा फिर तुम्हारा ये I-phone और लोग कैसे देख पाएँगे। बेटी ने कहा ''पापा! कुछ समझी नहीं।'' पिता ने कहा ''बेटा! जो वस्तु बहुमूल्य होती है

उसे ढककर रखा जाता है उसकी Safety के लिए। और मेरे लिए मेरी बेटी अमूल्य है। ढककर रहने में ही उसकी सुरक्षा है।''

बेटी की आँखें नम हो गईं। बोली पिता जी मुझे क्षमा कर दो, आप ठीक कहते हैं अब से मैं मर्यादित वस्त्रों का ही चयन करूँगी।

वस्त्र सुंदर समीचीन व मर्यादित हों एवं संस्कृति के पोषक हों। संस्कृति को खंडित करने वाले वस्त्र कदापि भी धारण करने योग्य नहीं हैं। एक समय पंडित ईश्वरचन्द्र विद्या सागर अंग्रेजी राज्य में शिक्षा विभाग के एक ऊँचे पद पर थे। उन्हें सप्ताह में 2-3 बार बंगाल के गर्वनर से भी मिलना पड़ता था किंतु वे उनसे कभी कोट-पैंट पहनकर मिलने नहीं जाते थे। उनका पहनावा तो धोती-कुर्त्ता ही था। गर्वनर से मिलने के लिए 'प्रॉपर ड्रेस' का कानून बन जाने पर जब कोट-पैंट पहनने की विवशता आ पड़ी तो वे स्वदेश धनी एक दिन गवर्नर के पास गए और त्याग पत्र दे देने का प्रस्ताव किया।

गवर्नर ने कारण पूछा तो उन्होंने साफ कह दिया कि मुझे कर्तव्यवश आपसे मिलने आना ही होगा, अब जिसके लिए कोट-पैंट का पहनना आवश्यक है। मैं अपनी देशी पोशाक का त्याग नहीं कर सकता इसीलिए मजबूरी है कि पद से त्यागपत्र दे दूँ। बंगाल का अंग्रेज गवर्नर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जी के इस स्वाभिमान से बहुत प्रभावित हुआ और उसने उनके लिए 'प्रॉपर ड्रेस' का नियम अपवाद कर दिया।

लोकमान्य तिलक, पंडित मदनमोहन मालवीय इंग्लैंड की पार्लियामैंट काउंसिल में धोती कुर्त्ता पहनकर ही जाते थे। महात्मा गांधी भी अपनी भारतीय पोशाक में ही जॉर्ज पंचम से मिले। ऐसे और भी कई उदाहरण हैं जिन्होंने किसी भी परिस्थिति में संस्कृति व सभ्यता को प्रदर्शित करने वाले वस्त्रों का परित्याग नहीं किया।

ग्रंथकार भी करुणा, वात्सल्य, संस्कृति सभ्यता और राष्ट्रभक्ति की भावना से परिपूरित होकर निरवद्य, मर्यादित व संस्कृति के पोषक वस्त्रों को ग्रहण करने का निर्देश देते हैं।

सज्जनों द्वारा उपकार

जहा मेहो ससी अक्को, रुक्खो सिंधू य गो मणी।
णिस्सत्थ-उवयारी हु, तहा वि सव्व-सज्जणा॥22॥

अर्थ–जिस प्रकार मेघ, चंद्र, सूर्य, वृक्ष, सिंधु, गाय और मणि नि:स्वार्थ उपकारी होते हैं उसी प्रकार सभी सज्जन भी नि:स्वार्थ उपकारी होते हैं।

Just as clouds, moon, sun, tree, ocean, cow and gem are selfless benefactors, similarly all gentle men are also selfless and beneficent.

भावार्थ–प्रत्येक व्यक्ति अपने क्रिया कलापों और व्यवहार से पहचाना जाता है और इन्हीं से उनके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। सुव्यक्तित्व निर्माण के लिए बाह्य सजावट या दिखावट की आवश्यकता नहीं है अपितु अंतरंग में गुणों का प्रादुर्भाव होना चाहिए। व्यक्ति जो सीखता है वह स्वयं उसका या उसके जीवन का एक अंश बन जाया करता है। गुणों के श्रवण, चर्चा व आचरण में तत्पर मनुष्यों के जीवन को गुणवत्ता अलंकृत करती है।

यहाँ आचार्य महाराज सज्जनों के महानतम गुण को कहते हैं कि वे नि:स्वार्थ उपकारी होते हैं। प्राय:कर व्यक्ति अपने साथ अच्छा करने वालों के साथ अच्छा और बुरा करने वालों के साथ उसी अनुरूप व्यवहार करते हैं किंतु सज्जन व्यक्ति सबके साथ समान व्यवहार करते हैं। वास्तविक गुणवान् तो वही है जो दूसरों के दोष, अवगुणों को देख अपने गुणों को तिलांजलि न दे।

माना कोई व्यक्ति आपके घर आया और आपने उसका बहुत आतिथ्य सम्मान किया किंतु जब आप उसके घर गए तो उसने आपको पानी के लिए भी नहीं पूछा। अब सोचिये जब वह व्यक्ति आपके घर पुन: आएगा तो आपका व्यवहार बदला हुआ होगा या पहले जैसा आतिथ्य से परिपूर्ण ही। व्यवहार में यदि कोई अंतर नहीं आया तो समझ लेना चाहिए कि अपने अंदर चंदन की लकड़ी व इक्षु दंड सी अविकारी प्रकृति प्रादुर्भूत हो चुकी है। चंदन की लकड़ी के बार-बार घिसे जाने पर भी वह अपनी सुगंध और इक्षु दंड को भी मुहुर्मुह छिन्न-भिन्न करने पर वह अपनी मिष्टता नहीं त्यागता। सज्जनपुरुष भी अपनी अच्छाईयों का परित्याग नहीं करते।

जिस प्रकार सूर्य से प्रेम रखने वाले या विद्वेष रखने वालों में सूर्य पक्षपात नहीं करता अपनी ऊर्जा व अपना प्रकाश सभी को स्वार्थ रहित होकर प्रदान करता है, मेघ अपना जल सभी पर बरसाते हैं, प्रत्युपकार या स्वार्थ की भावना से रहित चंद्रमा अपनी धवल चांदनी सब ओर बिखेरता है, वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते सभी को देते हैं, रत्नाकर अपने रत्न गाय अपना दुग्ध व मणी दिव्य कांति सभी को देती है उसी प्रकार सज्जन भी नि:स्वार्थ भाव से परोपकार में तत्पर रहते हैं। प्रत्युपकार की भावना से किया गया उपकार व्यवसाय तो हो सकता है किंतु धर्म नहीं।

ग्रंथकार यहाँ सज्जनों की विशेषता बताते हैं कि वे निःस्वार्थ उपकारी होते हैं। कहा भी है–

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति,
चंद्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
अप्रार्थितोऽपि जलदः सलिलं ददाति,
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः॥

सूर्य-कमल को विकसित करता है, चंद्रमा-कुमुदसमूह को विकसित करता है, मेघ याचना के बिना ही जल देता है और सज्जन स्वयं परोपकार में तत्पर रहते हैं।

किसी समय एक ऋषि गुरुकुल में बालकों को शिक्षित किया करते थे। राजपुत्र, सेठपुत्र, सामान्य परिवार के पुत्र भी वहाँ शिक्षा ग्रहण करते। वर्षों बाद शिक्षा पूर्ण होने पर सभी बच्चे अपने-अपने घर लौटने की तैयारी कर रहे थे कि तभी उनके गुरु की आवाज उनके कानों में पड़ी कि आप सभी मैदान में एकत्रित हो जाएँ। आवाज सुनते ही सभी शिष्य एकत्रित हो गए। गुरुवर बोले ''बच्चों! आज इस गुरुकुल में आपका अंतिम दिन है मैं चाहता हूँ कि आप जाने से पहले एक अंतिम दौड़ में हिस्सा लें।''

''यह दौड़ थोड़ी कठिन होगी, कहीं गहरे गड्ढे होंगे कहीं गहरा पानी और अंत में आप सबको अंधेरी सुरंग से भी गुजरना पड़ेगा तो क्या आप सब तैयार हैं।'' सभी ने एक स्वर में उत्तर दिया, 'हाँ तैयार हैं। दौड़ प्रारंभ हुई सभी तेजी से भागने लगे, सभी बाधाओं को लांघते हुए बच्चे अंत में सुरंग के पास पहुँचे। वहाँ बहुत अंधेरा था और उसमें जगह-जगह नुकीले पत्थर भी पड़े थे जिनकी चुभन असहनीय पीड़ा दे रही थी।

सुरंग तक तो सभी बच्चे साथ थे किन्तु सुरंग से सभी आगे पीछे हो गए। दौड़ पूरी हुई और सभी अपने गुरु के पास पहुँचे। सभी को आगे-पीछे आता देखकर उन्होंने प्रश्न किया कि ''सुरंग तक तो सब साथ थे किन्तु कुछ ने दौड़ जल्दी पूरी कर ली और कुछ को अधिक समय लग गया। ऐसा क्यों? यह सुनकर एक शिष्य बोला, ''गुरु जी हम सभी सुरंग तक साथ-साथ पहुँचे किन्तु सुरंग में पहुँचकर हमारी स्थिति बदल गयी। कोई दूसरे को धक्का देकर आगे बढ़ने में लगा था तो कोई संभल-संभल कर आगे बढ़ने में तो कुछ ऐसे भी थे पैरों में चुभ रहे पत्थरों को उठा-उठाकर अपनी जेब में रख रहे थे ताकि बाद में आने वाले लोगों को पीड़ा ना सहनी पड़े इसीलिए सब आगे-पीछे आ पाए।''

गुरु ने कहा ''ठीक है! जिन बच्चों ने पत्थर उठाएँ हैं वे पत्थर लेकर सामने आएँ।'' बच्चों ने पत्थर निकाले तो वे हतप्रभ रह गए जिन्हें वे पत्थर समझ रहे थे वे पत्थर नहीं हीरे थे और पुनः अपने गुरु की ओर देखने लगे। गुरु ने कहा ''आप हैरान मत होइये। मैंने ही इन्हें सुंरग में डाला था, दूसरों के लिए सोचने वाले शिष्यों को मेरा इनाम है।''

यह दौड़ जीवन की भागम-भाग को दर्शाती है, जहाँ हर कोई कुछ-न-कुछ पाने के लिए भाग रहा है पर अंत में वही समृद्ध होता है जो दूसरों के बारे में सोचता है और नि:स्वार्थ भाव से उनका भला करता है।

नि:स्वार्थ भाव से परोपकार करने की यह प्रवृत्ति सज्जनों में स्वभावत: होती है और वही मनुष्यों में उत्तम है–

उपकारकर: प्रवर: प्रत्युपकारं करोति मध्यस्थ:।
नीचस्तदपि न कुरुते ह्युपकारे वहति शत्रुत्वम्॥

उत्तम पुरुष उपकार ही करता है वह बदले में कुछ नहीं चाहता, मध्यम पुरुष अपना उपकार किए जाने पर प्रत्युपकार करता है परंतु नीच पुरुष प्रत्युपकार नहीं करता बल्कि उपकार किए जाने पर शत्रुता को धारण करता है।

ग्रंथकार यहाँ बताते हैं जैसे मेघ, चंद्र, सूर्य, वृक्ष, सागर, गाय, मणी सदैव परोपकार के लिए होते हैं और बदले में न तो कोई अपेक्षा रखते हैं न कुछ चाहते हैं उसी प्रकार सज्जन की प्रवृत्ति भी नि:स्वार्थ परोपकार से युक्त होती है।

गुण प्राप्ति

रयणाणि समुद्देणं, उववणेण वा फलं।
पयासो चंद-अक्केहिं, सज्जणेहि तहा गुणा।।23।।

अर्थ–जिस प्रकार सिंधु से रत्न, उपवन से फल अथवा सूर्य व चंद्र से प्रकाश प्राप्त होता है उसी प्रकार सज्जनों से गुण प्राप्त होते हैं।

श्रनेज ं हमउे तिवउ वबमंदए तिनपजे तिवउ हतवअमे वत सपहीज तिवउ ेनद ंदक उववद पे ंजजंपदमक ेपउपसंतसल अपतजनमे ंतम ंजजंपदमक तिवउ दवइसम उमदए

भावार्थ–जिसके पास जो होता है उससे वही प्राप्त होता है। रत्नों से परिपूर्ण रत्नाकर से रत्न, उपवन से फल, फूलों से सुगंध, सूर्य व चंद्रमा से प्रकाश, अग्नि से दाहकता, जल से शीतलता, इक्षुदंड से मिष्टता, गुरु से विद्या, संस्कारी माता-पिता से संस्कार, गाय से दुग्ध, नदी से जल, सिद्ध क्षेत्रों पर पुण्य वर्गणाएँ, साधुओं से आचरण, हिरण से कस्तूरी, क्षमाशील से क्षमा, माँ से ममता, प्रशासनिक अधिकारी से अनुशासन, हाथी से गजमुक्ता, मयूर से पंख, नाग से नागमणि, वृक्षों से पत्रपुष्पादि, कोयल से मधुर वाणी, बादलों से वर्षा, कल्पवृक्ष से कल्पित वस्तु, चिंतामणि से चिंतित वस्तु, औषधि से आरोग्य, दुर्विचारों से विकारी भाव, राग-द्वेष से संसार, संवर-निर्जरा से मोक्ष प्राप्त होता है उसी प्रकार सज्जनों से गुणों की प्राप्ति होती है।

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते, सा कामधुक्कामितमेव दोग्धि।
चिंतामणिश्चिन्तितमेव दत्ते, सतां हि संगः सकलं प्रसूते।।

कल्पवृक्ष केवल कल्पित वस्तुएँ ही देता है, कामधेनु केवल इच्छित भोग ही प्रदान करती है व चिंतामणि रत्न चिंतित पदार्थ देता है किंतु सत्पुरुषों का संग सभी कुछ देता है।

सज्जनों की क्षणमात्र की संगति भी गुण को प्रदान करती है।

साधु या साधु प्रवृत्ति के लोगों की क्षमाशीलता, विनम्रता, सरलता, करुणा देखकर सामान्य जनों के चित्त में भी उन्हीं गुणों का प्रादुर्भाव होता है। शांत चित्त वालों को देखकर क्रूर परिणाम वाले भी शांत हो जाते हैं। साधु-संतों की तपस्या के प्रभाव से जन्म-जात विरोधी भी मित्र रूप हो जाते हैं। विद्युच्चर चोर ने भी जब जंबूस्वामी और उनकी नववधुओं की वार्त्ता सुनी तो उनकी चर्चा मात्र से वैरागी होकर विद्युच्चर ने दिगंबर दीक्षा धारण की। बनारसी दास के यहाँ चोरी करने आए चोरों का भी हृदय परिवर्तन हुआ।

निःसंदेह सज्जनों के माध्यम से गुणों की प्राप्ति होती है। जैसे जल पीने से तृषा स्वयं शांत होती है वैसे ही सज्जनों की संगति से गुणों का संवर्द्धन स्वयं होता है। यहाँ ग्रंथकार सज्जनों की महत्ता भी बताते हैं और सामान्य जन को सज्जनों की संगति का ही निर्देश देते हैं जिससे गुणों को प्राप्त कर शाश्वत अवस्था को प्राप्त कर सकें।

आगम में कई ऐसे उदाहरण हैं जहाँ सत्पुरुषों की संगति प्राप्त कर मानव वा पशु के जीवन में सम्यक् परिवर्तन हुआ। यह सुनिश्चित है कि सत्पुरुषों की संगति से मानव में ही नहीं पशुओं में भी परिवर्तन आ जाता है। यहाँ तक कि सम्यग्दृष्टि देवों द्वारा संबोधित होने पर नारकी भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं। तीर्थंकरों के सान्निध्य में रहने वाले भव्य जीव संयम ग्रहण कर अपने योग्य सिद्धि पा लेते हैं। संतों के सान्निध्य में रहने वाले जीवों की संतों सी प्रवृत्ति हो या ना हो किंतु संतोषी प्रवृत्ति तो हो ही जाती है। क्रूर हिंसक प्राणी भी अहिंसा को स्वीकार करते हैं, व्रत अंगीकार कर लेते हैं। कहीं सिंह जैसे पशु के आँख से पश्चाताप के अश्रुपात होते हैं तो कहीं सियार रात्रि भोजन त्याग करता है तो कहीं गजराज सूखे पत्तों के माध्यम से जीवन बिताने का संकल्प लेते हैं। धन्य है सत्पुरुषों की संगति जिससे लोगों की दुष्ट भावनाओं का परिहार हो जाता है। आचार्य श्री अतिगति स्वामी का कथन है–

तृष्णां छिन्ते शमयति मदं ज्ञानमाविष्करोति।
नीतिं सूते हरति विपदं संपदं संचिनोति॥
पुंसां लोकद्वितय सुखदा संगतिस्सज्जनानां।
किं वा कुर्यान्निफलममलं दुःखनिर्नाशदक्षा॥

सज्जनों की संगति मनुष्य की तृष्णा और मद को शांत कर देती है, अज्ञान को हटाकर ज्ञान का आविर्भाव करती है, नीति को जन्म देती है, विपत्ति का क्षय और संपत्ति का संचय करती है, पुरुषों को दोनों लोक में सुख प्रदान करने वाली है। दुःखों का दलन करने में दक्ष यह सज्जनों की संगति भला कौन सा निर्मल फल नहीं दे सकती? अर्थात् सर्व गुणों को प्रदान करती है।

सुसंस्कार प्राप्ति

जहा सुट्ठु तरू देंति, सुट्ठु पुप्फ-फलाणि य।
तहेव सुजणा देंति, सुसक्कारा हु सव्वदा॥24॥

अर्थ–जिस प्रकार श्रेष्ठ वृक्ष श्रेष्ठ पुष्प व फलों को देते हैं उसी प्रकार अच्छे लोग सर्वदा सुसंस्कारों को ही देते हैं।

Just as the best trees give the best flowers and fruits, similarly good people always give good qualities.

भावार्थ–संसार में कई प्रकार के लोग होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो न तो स्वयं संस्कारित होते हैं, न दूसरों को संस्कारित ही करना चाहते। कुछ ऐसे होते हैं जो स्वयं तो संस्कारित नहीं होते किंतु दूसरों को संस्कारित देखना चाहते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो स्वयं को संस्कारित प्रतीत होते हैं किंतु ईर्ष्या रूपी राक्षसी के वशीभूत हो दूसरों को संस्कारित नहीं देखना चाहते और कुछ उत्तम श्रेणी के लोग ऐसे होते हैं जो सही रूप में स्वयं संस्कारित होते हैं और दूसरों को भी सुसंस्कारों से अलंकृत करते हैं, उनके लिए प्रेरणास्रोत बनते हैं।

''न हि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति''

खरगोश किसी को सींग नहीं देते क्योंकि वे स्वयं उनसे रहित होते हैं। सुजनों के पास जो भी आते हैं वे उन्हें सुसंस्कार ही प्रदान करते हैं। जिस प्रकार उत्तम वृक्ष सदैव उत्तम पुष्प-फलादि ही प्रदान करते हैं चाहे कोई उस वृक्ष को पानी दे या कष्ट दे। कहा भी है–

कदर्थिताश्चापि खलैः सदापि विकारभावं न भजन्ति सन्तः।
सन्ताडिता युष्टचुपलैस्तथापि चूतद्रुमा एव फलाय सन्ति॥

सत्पुरुष दुर्जनों के द्वारा ताड़ित होने पर भी विकारभाव को प्राप्त नहीं होते जैसे कि लाठी और पत्थरों से ताड़ित होने पर आम्रवृक्ष फल के लिए ही होते हैं, फल ही प्रदान करते हैं।

किसी नगर में दो पड़ोसी थे। उनमें से एक थोड़ा ईर्ष्यालु था। ईर्ष्या की इसी चिंगारी में कब उसके गुण जल गए उसे स्वयं भी ज्ञात नहीं हुआ। ईर्ष्या के विष ने उसके क्रियाकलापों को मानो विषाक्त कर दिया। कुछ नया तरीका उसने अपने पड़ोसी को परेशान करने का निकाला। प्रातःकाल होते ही उसने दुर्गंध युक्त कचरे की बाल्टी अपने पड़ोसी के गेट के आगे फैला दी और घंटी बजाकर भाग गया।

पड़ोसी नीचे उतरकर आया, गेट खोला तो यह समझते देर न लगी कि यह कार्य किसका है। उसने चुपचाप सफाई कर ली। लगभग सप्ताह हो गया किंतु वह व्यक्ति अपने इस बुरे कार्य को

छोड़ नहीं रहा था। मानो इसे अपने दैनिक कार्यों में ही शामिल कर लिया हो। एक दिन पड़ोसी ने उस व्यक्ति के आने से पहले ही एक बाल्टी उस बुरे व्यक्ति के घर के आगे रख दी।

उस व्यक्ति ने ऊपर खिड़की से देख लिया और चिल्लाता हुआ नीचे उतरा। यह व्यक्ति लड़ना तो चाहता ही था। सोचा आज इसे छोड़ूँगा नहीं और बहुत गुस्से में दरवाजे खोले। देखा सामने एक बाल्टी रखी है जो फल व सुगंधित फूलों से भरी है। यह देख उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। वह बाल्टी को देखता पुनः उस व्यक्ति को देखता।

पड़ोसी ने कहा ''भैया! ऐसे आश्चर्य क्यों करते हो। जिसके पास जो होता है वह वही देता है। तुम्हारे पास मुझे देने के लिए कचरा था और मेरे पास फल व फूल।'' यह सुनकर उस व्यक्ति की आँखों में आँसू आ गए। उसे समझ में आ गया हम सामने वाले को जो कुछ भी देते हैं उससे स्वयं का ही मूल्यांकन होता है।

ग्रंथकार यही बात यहाँ बताते हैं कि अच्छे लोगों के पास देने के लिए अच्छे विचार, अच्छी बातें, अच्छे संस्कार होते हैं और वही उनके द्वारा प्रदत्त अच्छे संस्कार सामने वाले के जीवन को भी समीचीनता प्रदान करते हैं।

कुलाचार

दाण-धम्म-दया-पूया-सच्च-सील-खमा-जुदो।
वसण-पाव-हीणो य, कुलायारो हु मण्णदे।।25।।

अर्थ–दान, धर्म, दया, पूजा, सत्य, शील, क्षमा से युक्त और व्यसन व पापों से हीन ही कुलाचार माना जाता है।

Charity, religion, mercy, truth, modesty, forgiveness and negation of addiction and sins are considered as ***kulachaar***.

भावार्थ–आचार अर्थात् आचरण। व्यक्ति का आचरण उसके परिवार, मित्र, वंश, कुलादि सभी का परिचय दे देता है। ''आचार: कुलमाख्याति'' जैसे नदी की शोभा जल से, शर्वरी की शोभा शर्वरीनाथ से, हाथों की शोभा दान से, मानव जीवन की शोभा व्रतों से, मानसरोवर की शोभा राजहंस से, विद्यालय की शोभा अनुशासन से, सभा की शोभा वृद्धों से, वक्ता की शोभा मिष्ट, आगमयुक्त वचन से, स्त्री की शोभा शील से, साधु की शोभा समता से, शिष्य की शोभा विनय से, गृहस्थ की शोभा धन से, राज्य की शोभा न्याय से, भोजन की शोभा नमक से, मुख की शोभा नयनों से, वाणी की शोभा सत्य से, काय की शोभा सेवा से तथा मन की शोभा विशुद्ध परिणामों से होती है वैसे ही मनुष्यों की शोभा आचरण से होती है।

सत् या सम्यक् आचरण ही धर्म कहलाता है। व्यक्ति के जिस व्यवहार से व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तर पर संतुलन-समता-सुख-शांति बनी रहे वही सम्यक् आचरण है। अत: **''आचार प्रथमो धर्म:''** कहकर ऋषि-मुनियों ने सदाचरण को धर्म माना है। कहा भी है–

आचारलक्षणो धर्म:, संतश्चारित्र लक्षणा:।
साधूनां च यथा वृत्तं, एतदाचार-लक्षणं।।

आचारण ही धर्म का लक्षण है। चारित्र युक्त ही संत है। संत पुरुषों का व्यवहार ही उनके चारित्र की पहचान है।

जैसे शरीर में से प्राण निकल जाने के बाद कुछ नहीं बचता उसी प्रकार आचरण नष्ट हो जाने पर उस व्यक्ति की भी वही स्थिति होती है। भारतीय संस्कृति में सर्वप्रथम आचरण की शिक्षा दी जाती है, चारित्रिक निर्माण के पश्चात् ही व्यक्ति का सम्यक् उत्थान संभव है। चारित्रवान् ही लोक में आदरणीय, पूजनीय व वंदनीय होता है। चारित्र ही नर की अमूल्य संपत्ति है। कहा भी है–

वित्तं हि नष्टं किंचिन्न नष्टं,
स्वास्थ्यं हि नष्टं किञ्चिद् विनिष्टम्।
वृत्तं हि नष्टं सर्वं विनष्टं,
तस्माच्च वृत्तं परिरक्षणीयम्।।

यदि धन नष्ट हुआ है तो कुछ नष्ट नहीं हुआ, यदि स्वास्थ्य नष्ट हुआ है तो कुछ नष्ट हुआ है और यदि चारित्र नष्ट हुआ है तो सब कुछ नष्ट हो गया; इसीलिए चारित्र अच्छी तरह रक्षा करने योग्य है।

संस्कृति व सभ्यता का उल्लंघन न करता हुआ मर्यादा से परिवेष्टित सज्जनों का कुलाचार कैसा था और कैसा होना चाहिए ग्रंथकार उसका यहाँ कथन करते हैं। सर्वप्रथम कहा-दान। सज्जनों में दान के संस्कार प्रारंभ से ही होते हैं। व्यक्ति को देना भी अत्यावश्यक है। जैसे ऑक्सीजन ग्रहण करते ही जाएँ और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड न छोड़ें तो व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार संचय मात्र करना प्राणी के लिए अहितकारक ही है।

कौटिल्य के अनुसार धर्म और काम अर्थ पर निर्भर है। आचार्य श्री सोमदेव ने नीतिवाक्यामृतम् में धर्म और काम के लिए अर्थोपार्जन की आवश्यकता बतायी है-''**धर्मकामयोरर्थमूलत्वात्**'' और भी कहा कि ''**यतः सर्वप्रयोजन सिद्धिःसोऽर्थः**'' अर्थात् अर्थ से सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

सुखी और संतुलित जीवन के लिए मनुष्य धर्माचरण पूर्वक आदर्श जीवनयापन करने के साथ न्यायोपार्जित धन का संग्रह करे और विवेकपूर्वक परोपकारार्थ व्यय करे। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य श्री उमास्वामी जी ने कहा है-

''अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्''

अपने और दूसरे का उपकार करना अनुग्रह है और उस स्व और पर के लिए अपना धनादि देना दान है। दान एक ऐसा आचरण वा धर्म है जिसमें स्व व पर दोनों का हित समन्वित है। दान से सामने वाले का तो उपकार है ही और स्वयं को भी विशिष्ट पुण्य का संचय होता है। आचार्य श्री वासुपूज्य ने 'दानशासन' ग्रंथ में निरूपित किया है-

दानं ख्यातिकरं सदा हितकरं संसार सौख्यकरं।
नृणां प्रीतिकरं लसद्गुणकरं लक्ष्मीकरं किंकरं॥
स्वर्गावासकरं गतिक्षयकरं निर्वाणसंपत्करं।
वर्णायुर्बलबुद्धिवर्धनकरं दानं प्रदेयं बुधैः॥ -8/7

दान की महिमा अचिंत्य है, वह त्रिलोक में कीर्ति करने वाला है, देहात्महित को करने वाला है। दान संसार में सुख प्रदान करने वाला व सबके प्रेम को संपादन करने वाला है। दान देने से अनेक गुणों की प्राप्ति होती है, लक्ष्मी संपत्ति की प्राप्ति होती है। दान से इच्छित कार्य पूर्ण होते हैं। मनोरथ पूर्ण होते हैं। स्वर्गगति भी जीव दान से प्राप्त करता है व नीच गति का नाश करता है, विशेष क्या? परंपरा से मोक्ष लक्ष्मी की भी प्राप्ति होती है। देहकान्ति, आयु, बल, बुद्धि आदि की भी वृद्धि होती है। इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त दान को बुद्धिमान जन को सदैव करना चाहिए।

दानपूर्वक जीवन जीने का संदेश देते हुए कहा भी है

सांई इतना दीजिए, जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

जैन श्रावक भामाशाह ने राष्ट्र के लिए अपना धन त्यागकर राष्ट्रभक्ति का एक अनूठा उदाहरण प्रदर्शित किया तो अत्तिमब्बे, जीवराल पापड़ीवाल आदि ने जिनबिंबों की स्थापना, सिद्धांत ग्रंथों का लेखन कर जिनशासन को दृढ़ता प्रदान की। समय-समय पर दानवीरों ने अपने दान से राष्ट्र, जिनशासन आदि को सुदृढ़ किया।

न्यायप्रिय, पराक्रमी राजाओं की कीर्ति अद्यापि दान से प्रसिद्ध है। यहाँ तक की राजाओं के दरबार में तो किमिच्छिक दान की परंपरा भी रही।

दान का संग्रह मात्र व्यक्ति को पतित करता है अतः देना अत्यंतावश्यक है।

बहता नदी का जल शुद्ध रहता है। गड्ढे का संग्रहीत जल गंदा होता है। जल से भरे बादल काले रहते हैं, वे कृष्ण बादल बरसने पर शुभ्र श्वेत हो जाते हैं। वस्तुतः संग्रह काला होता है, वितरण ही शुद्धता है।

गौरवं प्राप्यते दानात् न तु वित्तस्य संग्रहात्।
स्थितिरुच्चैः पयोदानां पयोधीनामधः स्थितिः॥

धन के देने से गौरव प्राप्त होता है, संग्रह से नहीं। मेघों की उच्चस्थिति देने से ही है और समुद्र की नीचे स्थिति संग्रह से है।

दूसरी बात कही धर्म अर्थात् व्यक्ति का आचरण धर्ममय हो। मनुष्य की दैवीय वृत्ति 'धर्म' है। जितने अंशों में जहाँ-जहाँ यह धर्माचरण है, वहाँ-वहाँ उतने ही अंशों में सुख, शांति और वैभव का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। धर्माचरण की महत्ता के विषय में आचार्य भगवन् श्री गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में कहते हैं–

''धर्मोवसेन्मनसि यावदलं स तावत्,
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्ट्वा परस्पर हतिर्जनकात्मजानाम्,
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥

जब तक मनुष्य के मन में धर्माचरण रहता है, तब तक वह मारने वाले को भी नहीं मारता किंतु जब यह धर्म मनुष्य के मन से निकल जाता है तब और तो क्या पिता-पुत्र का और पुत्र-पिता का हनन कर देता है। यह देखकर निश्चित ही कहा जा सकता है कि इस जगत् में रक्षा करने वाला केवल धर्म ही है।

मानव को मानव से जोड़ने वाला, पशुओं में भी कुछ मानवीय गुणों का उत्पादन करने वाला, विश्व में शांति की स्थापना करने वाला धर्म ही है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा कि ''धर्म एक वास्तविकता है मात्र परंपरा नहीं है। जो मुक्ति आत्मसाधना व धर्माचरण से प्राप्त होती है, बाह्याडंबरों वा कर्मकाण्डों में लिप्त होने से नहीं। धर्म कभी भी आदमी-आदमी में भेद नहीं करता। महावीर की यह विचारधारा आश्चर्यजनक रूप से व्यापक रूप से प्रसारित हो गई और जातिभेद की दीवारों को तोड़ उसने सारे देश को जीत लिया।''

वस्तुतः पृथ्वी को तो टुकड़ों में, सीमाओं में विभाजित किया जा सकता है किंतु आकाश सदैव से अविभाजित है उसे आज तक कोई बाँट नहीं पाया, वह अखंड है। जिस प्रकार आकाश अखंड है उसी प्रकार धर्म भी अखंड है। जिस धर्म से मैत्री भाव उत्पन्न हो सके, परिवार-देश-राष्ट्र सुख-शांति से रह सकें, पशु व मानव सभी को जीने का समान अधिकार प्राप्त हो सके, **''स्वयं जिएँ व सभी को जीने दें''** कि भावना का प्रादुर्भाव हो सके, स्वार्थ से उठकर सर्वहित चिंतन कर सकें, सबके कल्याण व मंगल की भावना भा सकें, वहीं वास्तव में धर्म है और ऐसा धर्म वह है जिसमें अहिंसा, संयम व तप निहित है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

अहिंसा, संयम व तप युक्त धर्म जो मंगलमय व उत्कृष्ट है। ऐसा धर्ममय जिसका आचरण है देव भी उसे नमस्कार करते हैं।

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की सुरक्षा एवं सुख-शांति के लिए धर्माचरण अत्यावश्यक है, इसके बिना मानव जीवन निरर्थक है इसीलिए ऋषि-मुनियों ने **''धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः''** कहकर जीवन में धर्माचरण की आवश्यकता प्रतिपादित की है। धर्म के कारण ही मानव मानवेतर प्राणियों में श्रेष्ठ गिना जाता है। धर्ममय जीवन स्व व पर सभी के लिए सुख-शांतिदायक होता है किंतु धर्म से हीन जीवन दोनों के लिए ही दुःख का हेतु होता है, पाप का कारण व अभिशाप स्वरूप वह जीवन हो जाता है। धर्ममय आचरण ही मंगलमय जीवन है। धर्माचरण को कहते हुए कहा भी है–

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां, न समाचरेत्॥

धर्म का यह सर्वस्व सुनकर अपने जीवन में उतारो कि अपने को प्रतिकूल लगने वाला आचरण दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए।

अगली बात कही-**दया।** दया-धर्म का मूल आधार है। जिस प्रकार बिना जड़ के वृक्ष का स्थायित्वपना संभव नहीं, बिना नींव के भवन का स्थायित्वपना संभव नहीं उसी प्रकार बिना दया के

धर्म संभव नहीं और धर्म के बिना सुख-शांति संभव नहीं। जब-जब मानव के हृदय में दया का विघात हुआ है, करुणा का ह्रास हुआ है तब तब क्रूर शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है और क्रूरताओं की शक्ति का बढ़ना ही इस शताब्दी का सबसे बड़ा अभिशाप है। इस अभिशाप से मुक्त होने का मात्र एक ही उपाय है वह है दया से युक्त मानव।

प्राचीन भारत जिस समय वह सोने की चिड़िया कहलाता था अथवा कहा जाता था कि दूध की नदियाँ बहती थीं उन सबका कारण भारत में अहिंसक संस्कारों का होना था, मानव के हृदय में दया करुणा की भावनाओं का होना था ''चीनी यात्री फाह्यान का यात्रा-विवरण में उस समय भारत की दशा को चित्रित करते हुए लिखा है कि ''सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज खाता है; सिवाय चांडाल के। दस्यु को चांडाल कहते हैं, वे नगर के बाहर रहते हैं और जब नगर में आते हैं तो सूचना के लिए लकड़ी बजाते चलते हैं ताकि लोग जान जायें और बचकर चलें कहीं उनसे कोई छू न जाये। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं न कहीं सूनागार और मद्य की दुकाने हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चांडाल मछली मारते, मृगया करते और माँस बेचते हैं।

कुलीन मानवों की करुणा का द्योतक यह तथ्य है। दया-अहिंसामय आचरण वाले पशु, पक्षी, मानव वन संरक्षण करते हैं जो प्राकृतिक संतुलन बनाए रखने में भी सहायक है। पर्यावरण के प्रदूषित होने की समस्या हिंसा से जुड़ी है और अहिंसा प्रदूषण-मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है वह प्रदूषण चाहे जल का हो, हवा का हो या वैचारिक ही हो। पैट्रोल या विदेशी मुद्रा के लिए पशुधन को समाप्त कर विदेशी लोगों की आपूर्ति करना, भारत के द्वारा किया जाने वाला यह कृत्य उसके लिए हितकर नहीं अपितु प्राकृतिक-प्रकोप के भयावह परिणाम ही दृष्टिगोचर होना संभावित है।

प्राकृतिक संकटों से बचाव के लिए समय पर जागृत होना आवश्यक है। करुणा, दया, अहिंसा के साथ देश की सामाजिक, आर्थिक आदि किसी भी समस्या का हल संभव है।

कोई कुतर्क देते हैं कि यदि सारे लोग शाकाहारी हो जाएँगे तो शाकाहार कम पड़ जाएगा और पशु-पक्षियों की आबादी समस्या बन जाएगी तो ऐसा सोचना बिल्कुल गलत है। एक अर्थशास्त्री माल्थ्स का कहना है कि खाने-पीने की चीजों और जनसंख्या के बीच संतुलन प्रकृति स्वयं बनाए रखती है।

जिनशासन तो दया के वह संस्कार भी देता है कि छोटा सा बालक भी कपड़े से पानी छानकर पिये जिससे जल में रहने वाले जीवों के प्राणों की रक्षा हो सके, रात्रि में भोजन न कर सूक्ष्म जीवों की रक्षा कर सके। जैन धर्म के पहलू वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी सर्वोत्तम हैं।

ग्रंथकार के द्वारा लिपिबद्ध प्रत्येक तथ्य पर्यावरण, मन-शांति व राष्ट्रहित से समन्वित है। जब जब दया-करुणा-अहिंसा का ह्रास होता है तब-तब मैत्री, प्रेम भावनाएँ घटती हैं और पारिवारिक

जन भी संयुक्त रूप से रहने में समर्थ नहीं होते हैं और जब-जब इनका संवर्द्धन होता है तब-तब जन्मजात विरोधी (शेर-गाय) भी एक घाट पर पानी पीते दृष्टिगोचर हुए हैं। दया के महत्व को प्रदर्शित करते हुए कहा है–

सर्व दानं कृतं तेन, सर्वे यज्ञाश्च भारतं।
सर्व तीर्थाभिषेकाश्च यः कुर्यात् प्राणिनां दयाम्॥

हे युधिष्ठिर! जो प्राणियों पर दया करता है, उसने सब दान कर लिए, सब यज्ञ कर लिए और सब तीर्थों में स्नान कर लिया।

अगली बात कही-**पूजा।** अपने आराध्य, ईश्वर की भक्ति, स्तुति, वंदना करना भी कुलीन पुरुषों का आचार है। जो उनकी आस्तिकता, कृतज्ञता आदि गुणों को प्रदर्शित करता है। जिनपूजा वह निर्मल धारा है जिससे मानव के चित्त से पाप कर्दम धुल जाता है, जिसमें अवगाहन कर उसे शीतलता प्राप्त होती है। **''जिनपूजा सम पुण्य न दूजा''** कह मनीषियों ने इसकी महत्ता प्रकट की। जिनेन्द्र प्रभु की पूजा से कषाय शमित होती है। मानव का हृदय परिशुद्ध व विशुद्ध होता है, और विशुद्ध हृदय स्वस्थता प्रदान करता है। हृदय में छल, कपट, चिंता, शोकादि का जितना आधिक्य होता है मानव देह में उतने रोग उत्पन्न होते हैं और कषायों का शमन पुण्यवर्द्धन के साथ-साथ उसकी स्वस्थता का भी कारण है।

जिनपूजा का अर्थ है ''जिनेन्द्र प्रभु के गुणों में अनुराग करना, उनके ही जैसे बनने की भावना से उनके मार्ग का अनुसरण करना। प्रभु का गुणोत्कीर्तन, स्तुति-वंदना-भक्ति आदि सभी पूजा में गर्भित हैं। कहा है–

सारां श्वभ्रगृहार्गलां सुखखनिं विहनादिवज्रोपमां,
स्वर्मोक्षैकनिबन्धनां गुणधरां स्वैनोऽरिनाशंकरीम्॥
कृत्स्नश्रीजननीं शुभाकरमहीं पूजां जिनेशां शुभां,
भक्त्या चाष्टविधां सदाप्यनुपमां शक्त्या कुरुध्वं जनाः॥

जो नरकरूपी घर की सुदृढ़ अर्गला है, सुख की खान है, विघ्नरूपी पर्वतों को नष्ट करने के लिए वज्र के तुल्य है, स्वर्ग और मोक्ष की कारण है, गुणों को धारण करने वाली है, अपने पापरूप शत्रुओं का नाश करने वाली है, समस्त लक्ष्मियों को उत्पन्न करने वाली है और पुण्य की खानरूप भूमि है; ऐसी शुभ, अनुपम, अष्ट प्रकार की जिनपूजा को हे भव्यजनो! सदा शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक करो। प्रीतिंकर, धण्णंकर-पुण्णंकर, जिनदत्ता, कुसुमलता-पुष्पलता, धनंजय सेठ, मैनासुंदरी, आ. श्री मानतुंग स्वामी, आचार्य श्री वादीराज स्वामी आदि ने भक्ति के अतिशय फल को प्राप्त किया। अनादिकालीन अघपंक, कर्म कल्मष को नष्ट करने में पूजा उपकारी सिद्ध होती है अष्ट द्रव्यों से पूजन की बात तो दूर जिनबिंब दर्शन मात्र से सैकड़ों, हजारों वा भावानुसार करोड़ों

उपवास के फल की प्राप्ति होती है। जिनबिंन दर्शन से निज चैतन्य बिंब की अनुभूति संभव है। वीतरागी मुद्रा के दर्शन बिना कोई सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता, कभी न कभी उसने जिनमुद्रा के दर्शन किए ही होंगे।

आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने अर्हत् भक्ति में लिखा है–

श्रीमुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत्।
आलोकनविहीनस्य, तत् सुखावाप्तयः कुतः।

श्री जी अर्थात् जिनेन्द्र देव के मुख का अवलोकन करने मात्र से मानो श्री अर्थात् केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी या मोक्ष लक्ष्मी का मुखावलोकन कर लिया हो अथवा सांसारिक लक्ष्मी-संपदा का मुखावलोकन कर लिया हो। जो इस अवलोकन से रहित है उसे जीवन में सुख की प्राप्ति कहाँ हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।

जिनदर्शन-पूजन से अंतरंग में सुख-शांति का झरना स्वयमेव निःसृत होता है, संसार में परिभ्रमण कराने वाले दुःखों को देने वाले संपूर्ण कर्मों का क्षय होता है तथा शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। ग्रंथकार ने कुलाचार में पूजा को सम्मिलित किया जिससे वे सांसारिक व पुनः मोक्ष सुख प्राप्त कर सकें।

अगली बात कही–**सत्य।** सत्य से व्यक्ति सभी का विश्वासपात्र होता है। असत्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को धूमिल कर देता है। जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को तपाकर शुद्ध कर देती है उसी प्रकार सत्य रूपी अग्नि व्यक्ति को संघर्ष रूप तपाकर उच्च पद पर आसीन कर देती है।

जीवन-धर्म में सत्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। लालच से झूठी गवाही देना व औरों को ठगना यह तो कलियुग का ही माहात्म्य है अन्यथा सत्य रूपी कोहिनूर के होते हुए क्यों कोई कुछ ही समय में टूटने वाले असत्य रूपी काँच की ओर आकर्षित होगा? बुद्धिमान या मनस्वी मनुष्य तो नहीं। मनस्वी पुरुष सत्य को जीवन में उतारते हैं। एक बार का सच सहस्रों बाधाओं दुखों को नष्ट कर देता है। समस्त लोकधर्म व आत्मधर्म में सत्य का अत्यन्त महत्त्व है। सत्य प्राप्ति के पश्चात् तीन लोक में अन्य किसी वस्तु की प्राप्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सत्यता वा शुद्धता का लेबल लगाकर व्यक्ति असत्य वा अशुद्ध बेचते हैं। यही असत्य जीवन में अत्यंत पापास्रव का कारण हो जाता है। जीवन में कोई भी क्रिया असत्य से अनुस्यूत नहीं होनी चाहिए। यह उत्कृष्ट जीवन का लक्षण है। तथ्य सत्य हो किंतु उसके साथ प्रिय व हितकर भी हो।

प्रजापालक व साधु इन दोनों में सत्य के दर्शन हो सकते हैं। यदि प्रजापालक अन्याय से, असत्य से धन प्राप्त करे, अपना पद बनाये रखने हेतु गुप्त रूप से धन प्राप्त करे तो वह सत्यनिष्ठ शासक नहीं हो सकता। अपने वक्तव्य में पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि मैंने डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी को कभी असत्य बोलते नहीं देखा न कभी सुना। अर्थात् राजनीति में रहकर भी सत्य का

प्रयोग किया जा सकता है। सत्य ही मानव को शाश्वत सत्ता प्रदान करने में समर्थ है। पुराणों में निहित है कि किंचित् असत्य भाषण भी अनेक दुविधाओं व पतन का कारण बन जाता है।

सत्यवादी सदैव निर्भीक रहता है, उसे पद-प्रतिष्ठा व सम्मान प्राप्त होता है। व्यवहार जगत् में कहते भी हैं कि–**''साँच बराबर तप नहीं''** मानव-जीवन को पवित्र बनाने, मन को स्वच्छ व निर्मल रखने हेतु सत्य अति आवश्यक है। मनुस्मृति ने कहा है **''धर्मः सत्येन वर्धते''** सत्य से धर्म वृद्धिंगत होता है। सत्य सत्पुरुषों का मार्ग है। झूठ बोलने से तो व्यक्ति की वाणी की शक्ति ही निस्तेज हो जाती है और सत्यवादी के मुख से निकली वाणी अक्षरशः सत्य हो जाती है। कहा भी है–

सत्यवाक् सत्यसामर्थ्यात् वचः सिद्धिं समश्नुते।
वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्रयत्रोपजायते॥

सत्यवादी मनुष्य सत्य के सामर्थ्य से वचनसिद्धि को प्राप्त होता है। वह जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसकी वाणी मान्य होती है।

सत्य ग्रीवा का सर्वश्रेष्ठ अलंकार है। मानव को सदैव सत्यनिष्ठ रहने का निर्देश ग्रंथकार यहाँ उसका आचरण बताते हुए देते हैं क्योंकि मनुष्य सत्य से ही उन्नत बन सकता है। हमारा समाज व देश तभी सुखी हो सकता है जब प्रत्येक मनुष्य में सत्य रहेगा। देश के दो पहिये माने जाते हैं–शासक व साधु। जब तक ये सत्यमार्ग पर चलते रहेंगे तब तक देश की उन्नति होती रहेगी। वही याद दिलाने के लिए हमारे देश का जयघोष भी है–**''सत्यमेव जयते।''** अर्थात् सत्य की सदैव विजय होती है।

पुनः कहा-**शील।** शील जीवन का सौंदर्य है। जीवन में इस सौंदर्य को बनाए रखने की परिपाटी आर्यों और इक्ष्वाकुवंश में रही। देश में विषमता न फैले, अत्याचार व अनाचार न पनपे, एतदर्थ सदाचार, शील को जीवन के प्राण के समान कहा। शासक इस बात पर गर्व करते थे कि **''न मे स्तेनो जनपदे न स्वैरी स्वैरिणी कुतः''** मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई व्यभिचारी भी नहीं है तो फिर व्यभिचारिणी कहाँ हो सकती है? रामायण में उल्लेख है कि जब रावण सीता को चुराकर ले गया तब सीता ने अपने शरीर से आभूषण उतार-उतार कर मार्ग में फेंक दिए। ढूंढते हुए रामचंद्र जी को जब कुंडल और केयूर मिले तो उन्होंने लक्ष्मण को पहचानने के लिए दिए कि क्या वे सीता जी के हैं? तब लक्ष्मण ने जो कहा वह संस्कृति का मुकुट बनाने योग्य श्लोक है–

नाहं जानामि केयूरे नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्य पादाभिवन्दनात्॥

भ्राता श्री! मैं माता सीता के भुजाओं के आभूषण (बाजूबंद) तथा कानों के भूषण कुंडलों को नहीं जानता। मैं तो माता के चरणनूपुरों को जानता हूँ। वह भी नित्य प्रणाम करने से मुझे दिखाई दे जाते हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम राम व सीता चौदह वर्ष तक यौवनावस्था में वनवास में संयम से रहे। उत्तरपुराण में गुणभद्राचार्य ने लिखा है कि उनके शुद्ध एवं मर्यादित आचरण के कारण अयोध्यावासियों ने उन्हें इक्ष्वाकुवंश-कुलकेसरी की उपाधि से विभूषित किया। राम की पूजा का सच्चा यश सीता को मिलना चाहिए जिन्होंने भयंकर प्रतिकूलताओं में भी शील की रक्षा कर विश्व के सामने अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया–

किसी भी परिस्थिति में शील व मर्यादा का पालन करना ही चाहिए। आज इस विज्ञान युग में अज्ञान को प्रसारित करने वाले चलचित्र स्वयं भी देखते हैं और अपनी संतानों को भी दिखाते हैं ये तो वे अपने व अपनी संतानों के अहित की तैयारी कर रहे हैं। संतान वृद्धावस्था में सेवा न करेगी और स्वयं का भ्रष्ट जीवन नरक रूप होगा अतः अपने बच्चों को युवकों को, भगवान् महावीर व राम के जीवन आदर्शों की, सयंम की शिक्षा दें। मर्यादा का पालन व शील का संरक्षण सिखाएँ।

शील को भंग करने वाले गाने, साहित्य व चलचित्रों पर प्रतिबंध लगाना होगा। शिक्षण संस्थानों में संयम-व शील का शिक्षण कथाओं के माध्यम से देना होगा तभी चारित्र-निर्माण हो सकेगा। वेद में निर्दिष्ट है–**''ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं रक्षति''** अर्थात् राजा, राष्ट्र, संस्कृति व समाज की रक्षा संयम, शील व ब्रह्मचर्य व्रत पालन से ही संभव है।

ग्रंथकार ने कहा–**''क्षमा''** क्षमा शीतल जल का स्रोत है। क्रोध प्राणी के लिए बहुत खतरनाक है। क्रोधी व्यक्ति स्वपर का अहित करने वाला होता है। क्रोध को अग्नि के गोले की उपमा दी गई। जिस प्रकार अग्नि के गोले को हाथ में लेने वाला पहले स्वयं जलता है पुनः दूसरों को जलाता है उसी प्रकार क्रोध करने वाला पहले स्वयं का अहित करता है पुनः दूसरे का। क्रोध आत्मा के गुणों को नष्ट कर देता है। महर्षि वासुपूज्य ने दान शासन में कहा है कि क्रोध की चिंगारी व्यक्ति के सम्यग्दर्शन को जलाकर नष्ट कर देती है।

क्रोध का अभाव ही क्षमा है। क्षमा–क्ष का आशय है क्षय, मा का आशय है रक्षा करना अर्थात् आत्मा के गुणों की क्षय से रक्षा करने वाली है क्षमा। क्षमाशील व्यक्ति को कई रोग पीड़ा नहीं देते, अनेक कठिनाईयों से वह बच जाता है। क्षमा आत्मा का अद्वितीय और अक्षय गुण है। क्षमा मनुष्य का सर्वोच्च धर्म और आत्मा का स्वाभाविक गुण है। क्षमा स्वयं को शीतलता, संतुष्टि प्रदान करती है और दूसरों को भी शीतलता देती है। मन और मस्तिष्क को शीतल रखने हेतु यह क्षमा अमृत है।

क्षमा दुर्बलों का नहीं अपितु वीरों का आभूषण है। इसीलिए कहा भी है **'क्षमा वीरस्यभूषणं।'** क्षमा का मुकुट वीरों को ही शोभा देता है, कायर के मुख से क्षमा शब्द सुशोभित नहीं होते।

बहुमूल्य रत्न को कमजोर की हथेली पर कौन रहने देता है? क्षमा रूप महामणि को महा प्राण ही धारण कर सकते हैं। बलशाली आत्मवान् पुरुष ही क्रोध पर नियंत्रण रखने में समर्थ हो सकते हैं। क्षमा परलोक-विजय हेतु उत्तम साधन है। आदिपुराण में उल्लिखित भी है–**''परलोकजिगीषूणां क्षमा साधन मुत्तमम्''** क्षमा में अविरोध भावना है जो सबके साथ मैत्री भाव उत्पन्न करती है। **'ज्ञानस्याभरणं क्षमा'** ज्ञान का आभरण क्षमा है। हजारों जाप, लाखों स्तोत्र व करोड़ों बार परमात्मा के ध्यान से बढ़कर यदि कोई चीज है तो वह है क्षमा धारण करना। क्षमा से व्यक्ति स्वयं को बहुत ऊँचा उठा सकता है।

क्षमा उस शक्कर की तरह है जो सभी के जीवन को मिष्टता प्रदान करती है। पति-पत्नी, सास-बहू, भाई-भाई और पड़ौसी सभी आपस में प्रेमभाव से रहें और एक-दूसरे से क्षमा भाव रखें, यही भारतीय संस्कृति के अनुरूप है। एक व्यक्ति या एक समाज क्षमा को जितना धारण कर सकता है उतना ही वह बड़ा और महान् है। धर्म, संप्रदाय कोई भी हो सभी में क्षमा को महत्वपूर्ण कहा है। क्षमा जीवन को उत्कृष्टता प्रदान करती है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्षमा को धारण कर हम कठिनाईयों को हल कर सकते हैं तथा समाज व राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी मधुर संबंध स्थापित कर सकते हैं। जीवन में अनुभव भी करते हैं कि यदि प्रतिदिन अपनी छोटी या बड़ी गलती के लिए क्षमा माँगते हैं अथवा दूसरों को क्षमा कर देते हैं तो तीव्र रोष का वातावरण भी स्नेहपूर्ण बन जाता है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो अनन्त वैभवशाली आत्मा का क्षमा अद्वितीय और अक्षय गुण है। क्षमा एक महान् तत्त्वज्ञान है। दूसरों को क्षमा करना तो सामान्य व्यवहारिक रूप है किंतु सर्वोत्कृष्ट क्षमा तो अपनी आत्मा पर है।

जिस प्रकार सूखी घास में अग्नि गिरने पर वह घास जल जाती है। जहाँ घास अथवा अन्य ज्वलनशील पदार्थ नहीं होते, वहाँ पर यदि अग्नि गिर भी जाती है तो स्वयं जलकर बुझ जाती है, शांत हो जाती है। इसी प्रकार यदि हम शांत रहें, ज्वलनशील व उत्तेजित न हों तो दूसरा व्यक्ति हमारे समक्ष कितना ही क्रोध करे किंतु अपने क्रोध के अभाव में उसका क्रोध स्वयं शांत हो जाएगा। जीवन में सदैव क्षमा धारण करें। पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक व आध्यात्मिक जीवन का आधार क्षमा है। जीवन निराबाध रूप से चलता रहे अतः ग्रंथकार ने क्षमा को कुलाचार कहा।

पुनः कहा कि श्रावक का आचरण पाप व व्यसनों से रहित होना चाहिए। आचार्य सोमदेव सूरि के अनुसार **''व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति-व्यसनम्''** व्यक्ति को कल्याण मार्ग से विचलित करने वाले कार्य ही व्यसन हैं। विषयानुरक्त होकर मनुष्य द्वारा किए गए अकरणीय कार्य ही व्यसन हैं। अथवा सामान्यतः जो मानव को व्यस्त बनाये रखें वे व्यसन हैं इस दृष्टि से सत्कार्यों में व्यस्त रहना सद्व्यसन और असत्कार्यों में लगे रहना कुव्यसन कहलाता है। अणुमात्र कुव्यसन भी व्यक्ति को

इहभव व परभव दोनों भवों में अत्यंत कष्ट, दुःख क्लेश को देने वाले होते हैं। ये व्यक्ति की बुद्धि को भ्रमित कर निंद्य से निंद्य कार्य करने को तत्पर होते हैं। आचार्य भगवन् श्री वादीभसिंह ने 'क्षत्रचूड़ामणि' में उल्लिखित किया है–

व्यसनासक्त चित्तानां गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

व्यसनासक्त मनुष्यों के कौन से गुण नष्ट नहीं होते? वहाँ न विद्वत्ता, न मानवता, न कुलीनता और न ही सत्यवादिता रहती है।

धर्म व सदाचरण से युक्त जीवन रूपी महल में प्रवेश सप्तव्यसन को त्यागकर ही संभव है। व्यसनों से आक्रांत होकर व्यक्ति अपने मार्ग से विचलित हो जाता है। सप्त व्यसन नियम से दुर्गति का कारण हैं। कहा भी है–

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपरांगनाः।
सप्तैव व्यसनानि स्युः सप्तश्वभ्रप्रदानि तै॥

जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री ये सात ही व्यसन हैं तथा निश्चय से सात नरकों को देने वाले हैं।

एक-एक व्यसन भी प्राणी के लिए महा दुःख का कारण है तब सप्त व्यसनों में लिप्त व्यक्ति के दुःख, पीड़ा की कथा तो क्या कही जाए। जुआ से पांडव, माँसभक्षण से राजा बक, मदिरा से यादव, वेश्या से चारूदत्त, चोरी से श्रीभूति, शिकार से ब्रह्मदत्त और परस्त्री के राग से रावण नष्ट हुआ है, ऐसा जानकर इन व्यसनों का त्याग करना चाहिए।[1] महापाप के स्थानभूत व्यसन बुद्धिमानों के द्वारा सदैव त्याज्य हैं। जो दुर्बुद्धि मनुष्य इन सात व्यसनों में से एक भी व्यसन का सेवन करता है वह अपने आप को श्रावक कहता हुआ मनुष्यों में हास्य या उपहास का पात्र बनता है।[2]

व्यसनी व्यक्ति स्वयं के साथ परिवार व समाज को भी संकट में लाता है। एवं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह ये पाँच पाप कहे जाते हैं। दुःखों से बचने के लिए इनसे बचना आवश्यक है। नियम का भंग करने से और देव-शास्त्र-गुरु की आज्ञा का लोप करने से महापाप होता है। धर्म

---

1. **द्यूतेन पाण्डवा नष्टा नष्टो मांसाशनाद् बकः,**
   मद्येन यादवा नष्टा चारुदत्तश्च वेश्यया।
   चौर्याच्छ्रीभूतिराखेटाद् ब्रह्मदत्तः परस्त्रियाः,
   रागतो रावणो नष्टो मत्वेत्येतानि संत्यजेत्॥
2. **यः सप्तस्वेकमप्यत्र व्यसनं सेवते कुधीः।**
   श्रावकं स्वं ब्रूवाणः स जने हास्यास्पदं भवेत्॥

आदि में विघ्न करने से, मिथ्यात्व का पोषण करने से निरंतर मिथ्या उपदेश देने से और मन, वचन, काय की कुटिलता से पापबंध होता है।[3] आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने इन्हीं पापों को दु:ख कहा है–**''दु:खमेव वा।''**

महादु:ख रूपी अग्नि को बढ़ाने के लिए ईंधन, नरकादि दुर्गतियों का कारण तथा रोग-क्लेश आदि के सागर स्वरूप पाप को परम शत्रु जानो अथवा इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है। जगत् में जो कुछ भी विरूप, दु:ख, दारिद्रय तथा रोगादिक हैं, वे सब पाप से उत्पन्न हुए हैं।[4]

इस प्रकार कल्याण की भावना से परिपूरित ग्रंथकार दान, धर्म, दया, पूजा, सत्य, शील, क्षमादि पुण्यकार्यों से युक्त तथा व्यसन व पापों से रहित आचरण का निर्देश देते हैं जिससे श्रावक धर्म का पालन कर गृहस्थ परंपरा से मुक्ति को प्राप्त कर सके और वर्तमान में उत्तम व आदर्श जीवन व्यतीत कर सके।

---

3. **नियमस्य विभंगेन महापापं प्रजायते।**
   प्राणिनां देवसच्छास्त्रगुरुलोपनयोगत:।।
   धर्मादिविघ्नकरणात्पापं मिथ्यात्वपोषणात्।
   सततं मिथ्योपदेशात् कौटिल्याज्जायते पुन:।।
4. **पापं शत्रुं परं विद्धि महादु:खानलेन्धनम्।**
   श्वभ्रादिदुर्गतेर्बीजं रोगक्लेशादिसागरम्।।
   किमत्र बहुनोक्तेन यत्किंचिद्धि विरूपकम्।
   दु:खदारिद्रच रोगादि सर्वतत्पापजं भवेत्।।

विद्या

असुहादो णिवत्तीए, सुपवत्तीइ कारणं।
सा लोए भणिदा विज्जा, हेदू संति-सिवाण य॥26॥

अर्थ–जो अशुभ से निवृत्ति का और शुभ प्रवृत्ति का कारण है वह लोक में शांति और शिव की हेतु विद्या कही जाती है।

Knowledge is that which is the cause of cessation from sins or inauspicious and tendency in auspicious. It is understood as the reason of tranquility in the world.

भावार्थ–'विद्या' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'विद्' (ज्ञान) धातु में क्यप् व टाप् प्रत्ययों के योग से हुई है। विद् + क्यप् + टाप् = विद्या, जिसका अर्थ है जानना या ज्ञान प्राप्त करना। 'शिक्षा' शब्द को 'विद्या' के पर्याय रूप में भी ग्रहण किया है। 'शिक्षा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'शिक्ष' धातु में 'अ' व टाप् प्रत्यय के योग से हुई है शिक्ष + अ + टाप् = शिक्षा जिसका अर्थ होता है–सीखना और सिखाना।

विद्या व शिक्षा में कथंचित् भेद भी है। भौतिक उन्नति, प्रगति, विकास और ज्ञान का संबंध शिक्षा से है। अक्षरज्ञान, पुस्तकीय ज्ञान, सूचना संग्रह, अच्छे नंबर व डिग्रियों तक ही शिक्षा संभव है। यह शारीरिक सुख प्रदान करती है। विद्या आत्मिक उन्नति, परमात्म चिंतन और जीवन को श्रेष्ठ एवं पवित्र बनाती है, जीवन में धार्मिकता, नैतिकता, सदाचार, शिष्टाचार आदि की भावना जाग्रत करती है। विद्या-सुखी, निरोगी, प्रसन्न जीवन की कुंजी कहलाती है। भर्तृहरि ने कहा भी है–

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।
विद्या बंधुजने विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूजते न च धनं विद्याविहीनः पशु॥

विद्या ही मनुष्य का सौंदर्य और गुप्त धन है। विद्या ही भोग, यश और सुख को देने वाली है। विद्या ही गुरुओं का भी गुरु है। परदेश में विद्या ही बंधु है। विद्या परा (श्रेष्ठ) देवता है। विद्या ही राजाओं में पूजी जाती है धन नहीं, अतः विद्याहीन नर निरा पशु है।

भारत सदा से विद्या का उपासक रहा है अन्य देशों ने शिक्षा के क्षेत्र में तो उन्नति की किन्तु जीवन में विधा और परमार्थ विद्या में पिछड़ गया। विद्या से मनुष्य सही अर्थ में मानव बनता है यही मानव पुनः भगवान् बनता है। कहा भी है **''विद्या सा या विमुक्तये''** सच्ची विद्या वह है जो हमें वचनों, बुराइयों, दोषों एवं अवगुणों से छुड़ाए, मनुष्य के अंदर भगवत्ता प्रकट करे। जिससे समीचीन रूप से तत्त्वों का बोध हो, कषायों का शमन हो, अशुभ का निरोध हो व शुभ में प्रवृत्ति

हो। कहा भी है–

''असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माअमृतंगमय''

असत्य से सत्य की ओर प्रयाण करना, अज्ञान रूपी अंधकार से ज्ञान रूपी आध्यात्मिक प्रकाश की ओर गमन करना, मृत्यु तथा विनयशीलता से अविनश्वर मोक्ष रूपी अमृत का पान करना।

आचार्य श्री वट्टकेर स्वामी ने मूलाचार में लिपिबद्ध किया है–

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।267।।

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिनशासन में उसका नाम ज्ञान है।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।268।।

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है। महावीर के शासन (भगवान की शिक्षा) में वह ज्ञान कहा गया है।

जिससे पाप पंक में प्रवेश न किया जा सके, गुणों से अलंकृत हो, पुण्य का वर्द्धन हो वह समीचीन शिक्षा या विद्या है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में भौतिक ज्ञान तो है उस पर धन समयादि भी व्यय किया जा रहा है किंतु चारित्रिक निर्माण में पिछड़ी सी प्रतीत होती है और चारित्र, सदाचार के बिना, पापों की हीनता के बिना अध्ययन करना मात्र शब्दों को इकट्ठा करना वैसे ही है जैसे नींव के बिना भवन निर्माण करना।

विद्या शुभ प्रवृत्ति का कारण है। **''विद्या धर्मेण शोभते''** विद्या धर्म से बढ़ती फलती फूलती और शोभा को प्राप्त होती है। विद्या से ही जीवन में जीने की कला आती है। मात्र शिक्षा ''स्टैंटर्ड ऑफ लिविंग बढ़ाती है, जबकि सम्यक्ज्ञान वा विद्या ''स्टैंडर्ड ऑफ लाइफ'' बढ़ाते हैं अर्थात् जीवन को ऊँचा उठाते हैं। शांति की स्थापना बिना विद्या के संभव नहीं। भौतिक ज्ञान के साथ अध्यात्म विद्या का समन्वय जगत् में सुख-शांति, प्रसन्नता एवं विश्वबंधुत्व की भावना आविर्भूत करने में समर्थ है।

उपनिषद में भी कहा **''विद्यया अमृतं अश्नुते''** विद्या से अमृतत्व व आनंद की प्राप्ति संभव है। अनंत आनंद का ताला विद्या रूपी कुंजी से ही खुलेगा। समीचीन व श्रेष्ठ जीवन जीने के लिए विद्या की अत्यंतावश्यकता है। उसी से वर्तमान समस्याओं, उलझनों, विवादों, दु:खों, कष्टों अशांति आदि का समाधान संभव है। भारतीय दर्शन में विद्यालय और विद्यार्थी बहुत श्रेष्ठ शब्द हैं। यहाँ शिक्षालय शिक्षार्थी नहीं कहा। इनको विद्या से जोड़ा गया। जिसका संबंध उभय लोकों के साथ है। ये शब्द ही भौतिक व आध्यात्मिक दोनों वैभव की ओर संकेत करते हैं। विद्या के माध्यम से

सांसारिक सुख को प्राप्त करते हुए आध्यात्मिक सुख या मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है और इसी विद्या के कारण भारत संपूर्ण जगत में विश्व गुरु के नाम से भी जाना जाता है।

आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी कहते हैं–

विज्जारहमारूढ़ो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥236॥

जो आत्मा विद्या रूपी रथ पर चढ़कर मन रूपी रथ के मार्ग में भ्रमण करता है, वह जिनभगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

ग्रंथकार भी विद्या को परिभाषित करते हुए यही कहते हैं विद्या वह है जिससे पापों से निवृत्ति हो, पाप से मानव बच सके, अच्छे कार्यों-पुण्य में प्रवृत्त हो सके और जिससे शांति पुनः मोक्ष प्राप्त कर सके तभी वह विद्या कही जा सकती है। विध्वंस, विनाश, प्रलय की ओर ले जाने वाले शब्द ज्ञान या जिससे जीवन में सुख-शांति का प्रादुर्भाव न हो सके अथवा मानव अपने चरम-परम लक्ष्य को प्राप्त न कर सके उस शब्द ज्ञान से क्या?

ग्रंथकार ने विद्या को परिभाषित करते हुए इसी प्रकार की विद्या का निर्देश दिया है कि जिसमें ये सब गुण हों वही विद्या है और वही ग्रहण करने योग्य है। इस परिभाषा के अनुसार आधुनिक शिक्षा प्रणाली में भी कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं जो मानव के गुणों का प्रकटीकरण करने में समर्थ हों।

सम्यक् शिक्षा प्राप्ति हेतु यत्न

अणेग-जदणं किच्चा, सुसिक्खं पाउणेज्ज हु।
सा हि संति-सयायार-समिद्धि-सुह-कारणं।।27।।

अर्थ–अनेक यत्न करके भी सुशिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। वह ही शांति, सदाचार, समृद्धि और सुख का कारण है।

Even after endeavouring a lot, one should get education. That is the cause of peace, virtue, prosperity and happiness.

भावार्थ–विश्व में अनेक प्रजाति के अनंतानंत जीव हैं परंतु उनमें से मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक धर्म, दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि मनुष्य के शरीर की रचना, बौद्धिक क्षमता, शिक्षा-दीक्षा का आदान-प्रदान, एकाग्रता, पुरुषार्थ, गवेषणा की शक्ति, खोज-बुद्धि, जानने की जिज्ञासा, सुख प्राप्त करने की उत्कृष्ट इच्छा मनुष्य में अधिक पाई जाती है। उपर्युक्त गुण ही अन्य जीवों से मनुष्य को पृथक् कर लेते हैं।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषः ज्ञानेन हीनाः पशुभि समानाः।।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये पशुओं और मनुष्यों में समान है, मनुष्यों में केवल ज्ञान ही अधिक है और जो ऐसे विशिष्ट गुण से रहित होता है वह मनुष्य तो पशु के समान है।

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्माः।
ते मर्त्यलोके भुवि भार भूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति।।

जो विद्या अध्ययन नहीं करते हैं, सत्कार्य के लिए तपस्या अर्थात् पुरुषार्थ नहीं करते हैं, परोपकार के लिए दान नहीं देते हैं, ज्ञानार्जन नहीं करते हैं, शालीनता, नम्रता, सौजन्यता आदि गुण से युक्त नहीं होते हैं, अहिंसा, सत्य, सेवा, परोपकार आदि जो धर्म का पालन नहीं करते हैं वह इस मनुष्य लोक में पृथ्वी के भार स्वरूप होकर मनुष्य रूप में पशु के समान विचरण करते हैं।

विद्या या सुशिक्षा के माध्यम से ही मानव का सर्वांगीण विकास संभव है। शिक्षा को अंग्रेजी में Education कहते हैं जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के मूल शब्द education से हुई। E का अर्थ 'अंदर से' व duco का अर्थ 'अग्रसर करना या बाहर निकालना।' इस प्रकार education का अभिप्राय हुआ कि अन्तर्निहित शक्तियों को बाहर की ओर अग्रसर करना। सभी की आत्मा गुणों से परिपूर्ण है। शिक्षा के माध्यम से तो उन गुणों का प्रकटीकरण होता है। यहाँ ग्रंथकार सुशिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं क्योंकि इसी से जीवन का सौंदर्य निखरता है।

जगद्गुरु श्री वृषभदेव ने अपनी संतानों को एवं संपूर्ण विश्व को शिक्षा देकर शिक्षा की महत्ता को प्रदर्शित कर दिया और पुत्रों से पहले पुत्रियों को शिक्षा देकर सिद्ध किया कि शिक्षा दोनों के

लिए ही समान रूप से आवश्यक है। उन्होंने बताया कि विद्या से संस्कृत पुरुष विश्व में विद्वान् के द्वारा सम्मान को प्राप्त होता है, उसी प्रकार नारी भी विद्या से संस्कृत होने पर नारी समाज में अग्रगण्य हो जाती है।[1]

ग्रंथकार सुशिक्षा को शांति, सदाचार, समृद्धि और सुख का कारण बताते हैं। शिक्षा मानव के शारीरिक, मानसिक विकास का मूलभूत कारण है। निरोगी शरीर व मानसिक स्वस्थता शांति का कारण है। **''ज्ञानस्य फलं आचरणं''** ज्ञान का फल आचरण है। **'साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम्'** विपरीत आचरण करने वाले साक्षर व्यक्ति राक्षस है। शिक्षा से चारित्र निर्माण होता है। और चारित्र निर्माण से व्यक्ति निर्माण, समाज निर्माण व देश निर्माण होता है।

दुर्गुणों को दूरकर, सदाचरण करता हुआ व्यक्ति राष्ट्र प्रगति करने में अधिक समर्थ होता है। सांस्कृतिक विकास, व्यवसायिक कुशलता व वैज्ञानिक दृष्टि शिक्षा से ही संभव है जो समृद्धि का कारण है। तथा शिक्षा का अंतिम लक्ष्य आध्यात्मिक विकास ही है। आध्यात्मिक विकास अर्थात् पापों का क्षय व आत्म गुणों का प्रकटीकरण। सर्व कर्मों का क्षय ज्ञान से ही संभव है अतः सम्यक् शिक्षा वह है जो मोक्ष का कारण हो।

सुशिक्षा या विद्या का महत्व बताते हुए आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण में प्रतिपादित किया है कि विद्या ही मनुष्यों का यश करने वाली है, विद्या ही पुरुषों का कल्याण करने वाली है, अच्छी तरह से आराधना की गई विद्या देवता ही सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली है।[2] विद्या कामधेनु है, विद्या ही चिंतामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ व कामरूप फल से सहित संपदाओं की परंपरा उत्पन्न कराती है।[3] विद्या ही मनुष्यों का बंधु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ-साथ जाने वाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है।[4]

ऐसी विद्या, सम्यक् शिक्षा अवश्यमेव प्राप्त करने योग्य है। अनेक यत्न करके भी यदि शिक्षा प्राप्त होती है तो बुद्धिमानों को जीवन में अंगीकार करना ही योग्य है।

---

1. **विद्यावान् पुरुषो लोके संपत्ति याति कोविदैः।**
   नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदं॥
2. **विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता।**
   सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी॥
3. **विद्या कामदुहाधेनुर्विद्या चिंतामणिर्नृणाम्।**
   त्रिवर्गफलितां सूते विद्या संपतपरंपराम्॥
4. **विद्या बंधुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम्।**
   सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधिनी॥

गुरु सम्मान

सया करेज्ज सम्माणं, विणयं भत्ति-मच्चणं।
गुरुवरा सयेज्जा सा, णिच्चं देदि परं सुहं॥28॥

अर्थ–गुरुवरों का सदा सम्मान, भक्ति, अर्चन, विनय और सेवा करनी चाहिए वह नित्य श्रेष्ठ सुख को देती है।

One should always have respect, adoration, devotion, humility and service to one's Preceptor, which always gives supreme pleasure.

भावार्थ–जो महत्व संतान के जीवन में माता-पिता का, भक्त के लिए भगवान् का होता है, वही महत्व शिष्य के जीवन में गुरु का होता है। गुरु के माध्यम से ही विद्यार्थी या शिष्य समीचीन लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। गुरु के बिना ना समीचीन शिक्षा प्राप्त की जा सकती है और ना ही उसका समीचीन उपयोग ही किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति में गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है क्योंकि अज्ञान के महातम को नष्ट करने गुरु ही समर्थ होते हैं।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अर्थात् जो ज्ञान रूपी शलाका के माध्यम से अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट कर ज्ञान चक्षु उन्मीलित करते हैं उन गुरु को नमस्कार हो।

गुरु शिष्य के लिए विद्या दान करता है इसीलिए गुरु का स्थान सर्वोपरि है कहा भी है–

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव॥
त्वमेव विद्या द्रविडं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गुरु ही माता, पिता, बंधु, सखा, विद्या, द्रव्य और परमात्मा हैं और क्या कहें गुरु ही शिष्य के लिए सर्वेसर्वा हैं, इसीलिए गुरु की सेवा व रक्षा करना शिष्य का परम कर्त्तव्य है।

योग्य व्यक्ति में एक कृतज्ञता गुण होता है अर्थात् वह अपने प्रति किसी के द्वारा किए गए उपकार को नहीं भूलता। **''नहि कृतमुपकारं साधवः विस्मरन्ति''**। गुरु और शिष्य का संबंध बहुत अद्भुत और गहरा होता है। गुरु का संरक्षण शिष्य का सबसे बड़ा रक्षाकवच होता है।

एक बार भ्रमण करते-करते अलेक्जेंडर (सिकंदर) और उनके गुरु अरस्तु एक नदी के पास पहुँचते हैं। उन्हें नदी पार करना था। अरस्तु कहते हैं कि पहले मैं नदी पार करूँगा उसके बाद तुम नदी पार करना। सिकंदर कहता है–नहीं, पहले मैं पार करूँगा। अरस्तु बोले–नहीं, तुम देश के भविष्य हो इसीलिए तुम्हारी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है क्योंकि ये अपरिचित नदी है। नदी में पत्थर, हिंस्र जल-जंतु, काँटे-गड्ढे आदि हो सकते हैं इसीलिए पहले मैं पार करके देख लूँ कि पार करने

में तुम्हें कोई खतरा तो नहीं होगा।

तब सिकंदर बोला ''गुरुदेव! मेरी सुरक्षा से भी अधिक आवश्यक आपकी सुरक्षा है क्योंकि आप तो मेरे जैसे सैकड़ों सिकंदर बना सकते हो परंतु सैकड़ों सिकंदर भी आप जैसे महान् गुरु को नहीं बना सकते इसीलिए पहले मैं नदी पार करूँगा। तब अपनी गुरु भक्ति प्रदर्शित करते हुए सिकंदर ने पहले नदी पार की।

गुरु भक्ति के बहुत से उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं। गुरु की आज्ञा का पालन के लिए और गुरु रामदास के पेट की पीड़ा दूर करने के लिए शिवाजी शेरनी का दूध ले आते हैं। गुरु आज्ञा के पालन के लिए ही अरुणि टूटी हुई मेढ़ की जगह जाकर लेट जाता है और गुरु आज्ञा स्वीकार कर एकलव्य अपना अंगूठा काटकर द्रोणाचार्य को समर्पित कर देता है।

भारतीय परंपरा में गुरु ईश्वर की प्रतिमूर्ति हैं इसीलिए कहा–''गुरुर्विधाता'' गुरु विधाता अर्थात् ईश्वर के समान पूजनीय, वंदनीय, अर्चनीय हैं। यहाँ ग्रंथकार गुरुओं के सम्मान, भक्ति, विनय, सेवादि का निर्देश देते हैं क्योंकि उससे विद्या, यश, सम्मान, योग्यता आदि गुण प्राप्त होते हैं।

गुरुभक्ति-सतीमुक्त्यै, क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकी मूल्यरत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः।।

यदि गुरु भक्ति से मोक्ष रूपी अत्यंत मूल्यवान् वस्तु मिल सकती है तो क्या अन्य क्षुद्र कार्यों की सिद्धि नहीं हो सकती? जिस अमूल्यरत्न से तीन लोक मिल सकता है उस रत्न से क्या सामान्य तुष नहीं मिल सकता? अर्थात् अवश्य मिल सकता है इसीलिए श्रेयार्थियों को सतत् प्रयत्नशील होकर गुरुओं की सेवा करनी चाहिए कहा भी है–

हरिसु जनसु हेत कर, कर हरिजन सुहेत।
माल मुलक हरि देत है, हरिजन हरि ही देत।।

भगवान् की सेवा करने से वे धन-संपत्ति दे सकते हैं, परंतु गुरुओं की सेवा करने से गुरुजन, भगवान् को ही दे देंगे।

गुरु की सेवा, अर्चना, विनय, भक्ति आदि से विद्या आदि की जो उपलब्धि होती है उसका आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण है। जब शिष्य के मन में गुरु के प्रति भक्ति की भावना होती है तो उसका भाव शुभ, प्रशस्त एवं निर्मल होता है। जिसके कारण उसके ज्ञानावरण कर्म व अन्य पाप कर्म शिथिल हो जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं। जब पाप कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं तो आत्मा के ज्ञान आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि जब शिष्य गुरु की भक्ति करता है तो गुरु प्रसन्न होकर उसको हृदय से, प्रेमभाव से अधिक से अधिक पढ़ाते हैं, मार्गदर्शन देते हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार यहाँ बताते हैं सफलता प्राप्ति सम्यकोपलब्धि स्वोन्नति, सम्यक् पथ पर गमन, एवं सुख-शान्तिमय श्रेष्ठ जीवन के लिए गुरुओं की विनय, भक्ति सेवा कल्पद्रुम के समान सिद्ध होती है।

श्रेष्ठ कला

सेट्ठकला महासत्ती, सेट्ठकला महागुणो।
सेट्ठकला धणं सुट्ठु, सेट्ठकला हु जीवणं।।29।।

अर्थ–सत्कला ही महाशक्ति है, सत्कला ही महागुण है, सत्कला ही श्रेष्ठ धन है, सत्कला ही अच्छा जीवन है।

Good art is the superpower. Good art is great virtue. Great art is the best wealth and best wealth is a life.

भावार्थ–कला शब्द की उत्पत्ति 'कल' धातु से हुई। 'कल' धातु का अर्थ है–सुंदर व मधुर। 'ला' धातु का अर्थ है प्राप्त होना। अतः कला का शाब्दिक अर्थ-सुंदरता को प्राप्त करना है। **''कलयति, निर्मापयति स्वरूपं इति कलां''** जो स्वरूप का निर्माण करती है वह कला है। मैथलीशरण गुप्त के शब्दों में अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है। कला मन के अंतःकरण की सुंदर प्रस्तुति है। कला जीवन को सत्यं शिवं सुंदरं से समन्वित करती है।

अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना कला है ऐसा आचार्य शुक्ल कहते हैं। फ्रांसीसी समालोचक फागुए के अनुसार भाव की उस अभिव्यक्ति को कला कहते हैं जो तीव्रता से मानव हृदय को स्पर्श कर सके। विभिन्न दार्शनिकों, विद्वानों, साहित्यों ने कला को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया। टॉलस्टॉय के अनुसार अपने भावों की क्रिया, रेखा, रंग, ध्वनि या शब्द द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्ति करना कि उसे देखने या सुनने से भी वही भाव उत्पन्न हो जाए कला है। गेटे ने कहा कि महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करना ही कला की सबसे बड़ी समस्या है। जहाँ क्रोचे का कहना है कि कला प्रभावों की अभिव्यक्ति है तो वहाँ अरस्तू का कथन है कि कला अनुकरण है। सौंदर्य या लालित्य के आश्रय से व्यक्त होने वाली कलाएँ ललित कला कहलाती हैं। प्लेटो कहता है कि कला सत्य की अनुकृति है।

कला व्यक्ति के मन में बनी स्वार्थ, परिवार, क्षेत्र, धर्म, भाषा व जाति आदि की सीमाएँ मिटाकर व्यापकता प्रदान करती है। कला मनुष्य को स्व से निकालकर **''वसुधैव कुटुंबकम्''** से जोड़ती है। सत्कला ही महाशक्ति है जिसके माध्यम से देश का विकास संभव है। यह सत्कला ही महागुण है। इससे युक्त मनुष्य सदैव प्रशंसनीय होता है। राजा शुभमति व रानी पृथुश्री की पुत्री केकया कला गुण के अनुरूप उत्पन्न व लोगों के मन को आकृष्ट करने वाली थी। उसकी कीर्ति तीनों लोकों में अद्वितीय थी।[1] केकया की कलाओं का वर्णन आचार्य श्री रविषेण स्वामी ने किया

---

1. **कलागुणाभिरूपं च समुद्भूता त्रिविष्टये।**
   अद्वितीया बभौ तस्याः कीर्तिराकृष्टमानसा।।24/84 प.पु.

है। इन सद्कलाओं के माध्यम से ही सामान्य व्यक्ति भी विशेष की श्रेणी में आ जाता है। उसका यश तीनों लोकों में विस्तृत होता है।

यह सद्कला ही श्रेष्ठ धन है। बाहर का धन, रत्न, स्वर्णादि तो चुराये जा सकते हैं किंतु कला रूपी धन किसी के द्वारा छीना नहीं जा सकता और उसके माध्यम से पुनः धनादि का अर्जन भी कर सकता है। परदेस में मात्र विद्या, कला ही मित्र है, वही सर्वत्र सदैव श्रेष्ठ धन है। तथा सद्कला ही अच्छा जीवन है। नीतिकारों ने कला से रहित मनुष्य को पूँछ व सींग से हीन पशुओं के समान कहा है। **''साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात् पशु पुच्छविषाण हीनः।''** कला सहित जीवन ही अच्छा व श्रेष्ठ जीवन है।

कला व कलाविशारद

जहिं हवदि सम्माणो, कला कला-विआण य।
संपदा य सुहं संती, तहिं देसे पवड्ढदि॥30॥

अर्थ–जिस देश में कला और कला विशारदों का सम्मान होता है उस देश में सुख, शांति व संपदा प्रवृद्धित होती है।

Where there art and artists are respected, prosperity and tranquility enhance there.

भावार्थ–संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है क्योंकि उसके पास बुद्धि और विवेक ये दो नैसर्गिक शक्तियाँ हैं और ये शक्तियाँ ही मानव को अन्य जीवों से ऊँचा उठाती हैं। अपनी बुद्धि और विवेक का जब वह समीचीन उपयोग कर अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है तो संभवत: वह कला के रूप में आविर्भूत होती है। इटली के एक विद्वान् ने भी कला को अभिव्यक्ति का साधन मानते हुए कहा है कि ''कला का संबंध केवल स्वानुभूति से प्रेरित प्रक्रिया से है। जब कोई कलाकार स्वानुभूति को सहज, स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त कर देता है तो वही कला का रूप धारण कर लेती है अत: अभिव्यक्ति की पूर्णता ही कला है, अभिव्यक्ति ही उसका सौंदर्य है।

अन्य विद्वान् ने भी कहा है कि ''कला, कलाकार के आनंद के श्रेय और प्रेम तथा आदर्श और यथार्थ को समन्वित करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।'' यथार्थ में कला सौंदर्य की अभिव्यक्ति है और समृद्धि की परिचायक है। जिस देश की कला जितनी समृद्ध और सुंदर होगी, वह देश उतना ही गौरवशाली और प्राचीन होगा। इसीलिए कला को किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का मापदंड भी कहा जाता है।

कला निरंतर ऊँचा उठने के प्रगतिशील विचार की परिचायक है। इसी के माध्यम से नवीन विचारों, आचार और मूल्यों का सृजन होता है। देश की समृद्धता का परिज्ञान वहाँ की कलाएँ कराती हैं, कलाओं के माध्यम से ही विभिन्न देशों के बीच वह देश विशिष्ट रूप से पहचाना जाता है। जैसे वस्त्राभूषण व्यक्ति के सौंदर्य को वृद्धिंगत करते हैं वैसे ही विविध कलाओं के माध्यम से सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है। कला भारतीय संस्कृति का विशेष व महत्वपूर्ण हिस्सा है। यहाँ की कलाओं के माध्यम से ही देश की समृद्ध और गौरवशाली विरासत का अनुमान होता है।

कला और जीवन का बहुत घनिष्ठ संबंध है। कला के विकास का उद्देश्य कभी आत्मानुभूति होता है, तो कभी आनंद और विनोद। कला के माध्यम से कभी संघर्ष किया जाता है तो कभी संघर्षों से मुक्ति पाई जाती है। कला यश प्राप्ति, धन व शांति प्राप्ति तथा समाज व देश को सही राह दिखाने का भी माध्यम बनती है।

हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् बाबू गुलाबराय ने जीवन में कला की महत्ता को दर्शाते हुए लिखा है कि ''कला का उदय जीवन से है, उसका उद्देश्य जीवन की व्याख्या ही नहीं वरन् उसे दिशा देना भी है। वह जीवन में जीवन डालती है। वह स्वयं साधन न बनकर एक वृहत्तर उद्देश्य की साधिका होकर अपने को सार्थक बनाती है। वह जीवन को जीने योग्य बनाकर उसे ऊँचा उठाती है। जीवन में नए आदर्शों की स्थापना कर उसका प्रचार करती है और जीवन में उत्पन्न समस्याओं पर नव प्रकाश डालती है।'' अत: कहा जा सकता है कि कला केवल उल्लास, हर्ष और आनंद को प्रकट करने का माध्यम ही नहीं है अपितु समाज व देश को परिवर्तन की ओर उन्मुख कर उसमें एक नवीन चेतना जागृत करती है। कला तो तनाव की दलदल में फंसे व्यक्ति को भी खींचकर बाहर लाने में समर्थ है। कभी साहित्य कला तो कभी संगीत कला तो कभी चित्रकला व अन्य कलाओं ने मानव जाति को एक नई राह दिखाई है।

यदि कला संस्कृति व सभ्यता का पोषण करने वाली, कुरीति वा निरर्थक व अवांछनीय परंपराओं पर प्रहार करने वाली, समीचीन शिक्षा देने वाली और सुसंस्कारों का संवर्द्धन करने वाली हो तो नि:संदेह प्रशंसनीय है यही कला देश के विकास में सहायक भी है। कहा है–**''साहित्यसंगीत कलाविहीन:, साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीन:''** यह सूक्ति ही कला की महत्ता को प्रदर्शित करती है कि बिना कला के देश की उन्नति संभव नहीं।

कला से सुख शांति का प्रादुर्भाव तो जीवन में होता ही है साथ ही व्यक्ति की समृद्धि का प्रतीक भी है कला व्यक्ति को आभ्यंतर-बाह्य दोनों समृद्धि प्रदान करती है। कहा है–

कला बहत्तर जीव की, तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।।

जीविका–यह कला जीव को बाह्य रूप से समृद्ध करती है व जीव उद्धार यह कला जीव को आन्तरिक रूप से समृद्ध करती है।

ग्रंथकार ऐसी कला और कलाविदों के सम्मान का निर्देश देते हैं क्योंकि सम्मान प्रोत्साहन का अतिमहत्वपूर्ण साधन है। अच्छे कार्यों तथा उनको संपादित करने वालों का सम्मान उन्हें भी व अन्यों को भी अच्छाई की ओर प्रेरित करता है। यदि कलाकारों की कला का, उनकी विशेष प्रतिभाओं का सम्मान न किया जाए तो उनकी प्रतिभा कहीं सुप्त हो जाएगी। जैसे रेगिस्तान की भूमि पर कोहिनूर बालू से आच्छादित होने पर समृद्धि का कारण नहीं बनता उसी प्रकार प्रोत्साहन, सम्मानादि के अभाव में कलाकारों का उत्साह भी गिर जाता है जो स्वयं उनका या देश की समृद्धि-उन्नति का कारण नहीं बन पाता।

अतः कलाविदों का और उनकी कला का सम्मान आवश्यक है। और समाज व देश का यह दायित्व भी है। जहाँ, कला व कलाकारों का सम्मान होता है वहीं विकास व उन्नति के साथ-साथ परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों का सम्मान तथा सांस्कृतिक संरक्षण होता है। वही देश या समाज जागृत चेतन व संवेदनशील कहलाता है। कलाकार समाज व देश का महत्वपूर्ण अंग होते हैं जो उसकी संस्कृति को प्रतिबिंबित करते हैं। समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का मूल्य समझकर कला व कलाकारों का सम्मान करके ही अपनी दिव्य व भव्य धरोहर को सहेज कर रखा जा सकता है। समीचीन कला व कलाविदों का सम्मान आज भी देश व समाज करता है जो प्रत्यक्ष रूप से उनका सम्मान करता है और परोक्ष रूप से देश की उन्नति को बढ़ावा देता है। प्राचीन भारत में शासक भी कलाप्रेमी रहे और उन्होंने कला विशारदों का सम्मान कर अपनी राज्यसभा में सुशोभित कर उन्हें उत्साह से परिपूरित कर दिया। यही कारण है कि भारत में कला पग-पग पर बिखरी पड़ी है।

ग्रंथकार की यह विचारधारा उन्हें स्वयं बहुमुखी व्यक्तित्व के रूप में सम्मानित करती है जो कलाओं की महत्ता, कलाविदों के श्रम, देश की उन्नति, समृद्धि और मानव जीवन के सौंदर्य को एक साथ प्रदर्शित करते हैं।

विश्व गुरु

मुत्ति-संगीद-थावच्च, कव्व-आई वराकला।
जम्मि देसम्मि विज्जंति, सो हु विस्स-गुरू सया॥31॥

अर्थ–निश्चय से स्थापत्य, संगीत, मूर्ति और काव्यादि सत्कला जिस देश में विद्यमान है वह देश विश्व गुरु माना जाता है।

Where there is architecture, music, sculpture, poetry and other arts, that country is known as Vishwa Guru (World's Preceptor).

भावार्थ–समाज आदि के साथ ललित कलाओं का विशेष संबंध है। किसी समाज, राज्य व देश में कलाओं का विकास किस प्रकार हुआ है यह उनकी बौद्धिक स्थिति पर निर्भर है। कलाएँ समाजादि के रहन-सहन, वेशभूषा, आभूषण और आचार-विचार को प्रदर्शित करती हैं। अनेक प्राचीन देशों को सभ्य बनाने और उनके विकास में कलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। देश के उत्थान के लिए ऋषि, मुनियों, नीतिकारों ने स्वतंत्रता, एकता, आर्थिक निर्भरता, प्रशासनिक न्याय, ज्ञान-विज्ञान, कला आदि मुख्य घटक कहे हैं। कलाओं का यथोचित विकास ज्ञान बुद्धि का प्रमुख अंग था।

राज्य और जनता दोनों का कर्त्तव्य जीवन में सौंदर्य, सौहार्द तथा शांति के लिए ललित कलाओं को विकसित करना है। कला व्यक्ति के आध्यात्मिक व सांसारिक वैभव को व्यक्त करती है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की भावनाओं तथा विचारों का प्रत्यक्षीकरण कला के द्वारा हो जाता है। प्रत्येक प्रकार की कलात्मक प्रक्रिया का ध्येय सौंदर्य तथा आनंद की अभिव्यक्ति है। वास्तु कला, संगीत कला, मूर्ति कला, काव्य कला आदि का देश के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। जिस देश में ये कलाएँ विद्यमान हैं वह देश सभी ओर से विकसित होता है चाहे वह सांसारिक विद्या हो या अध्यात्मिक विद्या। इन्हीं कलाओं व विद्याओं से युक्त होने के कारण भारत 'विश्वगुरु' की उपाधि से मंडित है।

षट् शिक्षा

असी विज्जा य वाणिज्जं, सिप्पं किसी मसी तहा।
पयाए परिपालेदुं, उसहेण पडिपादिदा॥32॥

अर्थ–प्रजा के परिपालन के लिए असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य व शिल्प इन षट्कर्मों का प्रतिपादन श्री आदिदेव के द्वारा किया गया।

Asi, masi, agriculture, art and crafts, commerce and other arts were performed by shri Rishabnath Swami for the nurturing of the subjects.

भावार्थ–हुण्डावसर्पिणी के तृतीय काल में उत्पन्न चौदहवें कुलकर राजा नाभिराय व मरुदेवी के पुत्र श्री आदिनाथ ने ही धर्म व कर्म का उपदेश दिया। इससे पूर्व तो भोगभूमि थी, दस प्रकार के कल्पवृक्षों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य कर लिया करते थे। अनेक प्रकार के भोगों का अनुभव करते हुए भगवान् का बीस लाख पूर्व वर्षों का कुमारकाल पूर्ण हुआ। इसी बीच काल के प्रभाव से महौषधि, दीप्तौषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गयीं थी। मनुष्यों के निर्वाह के लिए जो बिना बोये हुए उत्पन्न होने वाले धान्य थे वे भी काल के प्रभाव से पृथ्वी में प्रायः विरलता को प्राप्त हो गये थे।

जब कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक आदि से रहित हो गये तब वहाँ की प्रजा रोग आदि अनेक बाधाओं से व्याकुलता को प्राप्त होने लगी। कल्पवृक्षों के रस, वीर्य और विपाकादि के नष्ट होने से व्याकुल प्रजा जीवित रहने की इच्छा से महाराज नाभिराय के समीप गयी[1] और पुनः राजा नाभिराय की आज्ञा से प्रजा भगवान् ऋषभदेव के समीप गयी और अपने जीवित रहने के उपाय प्राप्त करने की इच्छा से उन्हें मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगी।[2] पुनः अपनी आकुलता, व्याकुलता, दुख, भय, कष्ट, पीड़ा व्यक्त करते हुए बोले हे देव! आप इस युग के आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्ष के समान उन्नत हैं आपके आश्रित हम लोग भय के स्थान किस प्रकार हो सकते हैं? अतः जिस प्रकार हम लोगों की आजीविका निरूपद्र व हो जाए, आज उसी प्रकार उपदेश देने का प्रयत्न कीजिए।

प्रजा के दीन वचन सुनकर दया से परिपूरित भगवान् विचार करने लगे कि जिस प्रकार असि, मसि आदि षट्कर्म व क्षत्रियादि वर्ण व्यवस्था पूर्व-पश्चिम विदेह क्षेत्र में है वही यहाँ पर भी होनी

---

1. **तत्प्रहाणान्मनोवृत्तिं दधाना व्याकुलीकृताम्।**
   नाभिराजमुपासेदुः प्रजा जीवितकाभ्यया॥16/133॥ आ०पु०-1
2. **नाभिराजाज्ञया स्रष्टुस्ततोऽन्तिकमुपाययुः।**
   प्रजाः प्रणतमूद्धानों जीवितोपायलिप्सया॥16/134॥ आ०पु०-1

चाहिए। इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब कर्मभूमि प्रकट हुई है इसीलिए प्रजा को असि, मसि आदि षट्कर्मों के द्वारा आजीविका करना ही उचित है।

असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह प्रजा की आजीविका के कारण हैं। भगवान् वृषभदेव ने अपनी बुद्धि की कुशलता से प्रजा के लिए इन्हीं छह कर्मों द्वारा वृत्ति अर्थात् आजीविका करने का उपदेश दिया था।[3] क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान् सरागी ही थे, वीतरागी नहीं। उन छह कर्मों में से तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर आजीविका करना मसिकर्म कहलाता है, जमीन को जोतना-बोना कृषि कर्म कहलाता है। शास्त्र अर्थात् पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदि के द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म है, व्यापार करना वाणिज्य है और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्पकर्म है। वह शिल्प कर्म चित्र खींचना, फूलपत्ते काटना आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार का माना गया है।[4]

उस समय संसार में जितने पाप रहित आजीविका के उपाय थे वे सब भगवान् वृषभदेव की सम्मति में प्रवृत्त हुए थे। यह ठीक ही है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ही हैं।[5] क्योंकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारंभ किया था इसीलिए पुराण के जानने वाले उन्हें कृतयुग नाम से जानते हैं।[6] व कृतयुग का प्रारंभ कर प्राजापत्य अर्थात् प्रज्ञापतिपने को प्राप्त हुए थे, प्रजापति कहलाने लगे थे।

---

3. **असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।**
   कर्माणीमानि षोढास्युः प्रजाजीवन हेतवः॥16/179॥ आ०पु०-1
   तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मति कौशलात्।
   उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः॥16/180॥ आ०पु०-1
4. **तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता।**
   कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने॥ 16/181 आ०पु०-1
   वाणिज्यं वणिजां कर्म, शिल्पं स्यात् करकौशलम्।
   तच्च चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम्॥ 16/182 आ०पु०-1
5. **यावती जती वृत्तिरपापोपहता च या।**
   सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः॥ 16/188 आ०पु०-1
6. **युगादिब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतोयुगः।**
   ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः॥16/189॥ आ०पु०-1

षट् विद्या प्रतिपादन

देइदं आदिणाहेण, पुत्ता विज्जा अणेगहा।
विस्सकम्मं सुपुत्तं हु, सुहा वत्थुकला जहा॥33॥

अर्थ–श्री आदिनाथ भगवान् ने अपने पुत्रों को अनेक प्रकार की विद्या प्रदान की जैसे विश्वकर्मा को शुभ वास्तु कला।

Shri Adinath Swami gave many kinds of education to his sons such as architectural art to Vishvakarma.

भावार्थ–आदि ब्रह्मा श्री वृषभदेव भगवान् का विवाह यशस्वती व सुनंदा नाम की दो गुणों की आकर-कन्याओं के साथ हुआ। यशस्वती से भरत चक्रवर्ती आदि निन्यानवे पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री हुई। तथा सुनंदा से कामदेव बाहुबली पुत्र व सुंदरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। किसी एक समय भगवान् वृषभदेव सिंहासन पर सुख से बैठे हुए थे कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओं के उपदेश देने में व्यावृत किया। उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी व सुंदरी से कहा कि हे पुत्रियों! तुम विद्या ग्रहण करो क्योंकि तुम दोनों के विद्या ग्रहण करने का यही काल है। भगवान् वृषभदेव ने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुत देवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से अ, आ आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि (लिखने का) उपदेश दिया और अनुक्रम से इकाई, दहाई आदि अंकों के द्वारा उन्हें संख्या के ज्ञान का भी उपदेश दिया।[1] ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बाँये हाथ से संख्या लिखी थी।

तदनंतर जो भगवान् के मुख से निकली हुई है, जिसमें **"सिद्धं नमः"** मंगलाचरण अत्यंत स्पष्ट है। जिसका नाम सिद्धमातृका है। जो स्वर व व्यंजन के भेद से दो प्रकार की है। ऐसी अकार को आदि लेकर हकार पर्यंत तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह पर्यंत समस्त शुद्ध अक्षरावली को पुत्री ब्राह्मी ने धारण किया। और सुंदरी ने इकाई, दहाई आदि स्थानों के क्रम से गणित शास्त्र को अच्छी तरह धारण किया। पुनः इन पुत्रियों के लिए व्याकरण शास्त्र, छंद शास्त्र, अलंकार, माधुर्य, ओजादि 10 प्राण अर्थात् गुणों का निरूपण किया।

जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये। भगवान् ने भरत पुत्र के लिए अत्यंत विस्तृत बड़े-बड़े

---

1. **इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।**
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया॥ 16/103 आ. पु.-1
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपिं संख्या स्थानं चांकैरनुक्रमात्॥ 16/104 आ. पु.-1

अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह (प्रकरण) सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया था।[2] उन्होंने अपने पुत्र वृषभसेन के लिए जिसमें गाना बजाना आदि अनेक पदार्थों का संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय हैं ऐसे गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया था।[3] अनंतविजय पुत्र के लिए नाना प्रकार के सैकड़ों अध्यायों से भरी हुई चित्रकला-संबंधी विद्या का उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभासहित समस्त कलाओं का निरूपण किया।[4]

विश्वकर्म के लिए उन्होंने वास्तु विद्या अर्थात् सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया। उस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे।[5] बाहुबली पुत्र के लिये उन्होंने कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा, हाथी आदि के लक्षण जानने के तंत्र और रत्नपरीक्षा आदि के शास्त्र अनेक प्रकार के बड़े-बड़े अध्यायों के द्वारा सिखलाये।[6] लोक का उपकार करने वाले जो-जो शास्त्र थे भगवान् आदिनाथ ने वे सब अपने पुत्रों को सिखलाये थे।[7]

इस प्रकार श्री आदिनाथ भगवान् ने अपने पुत्रों को शिक्षा प्रदान की।

---

2. **भरतायार्थ शास्त्रं च भरतं च ससंग्रहम्।**
   अध्यायैरति विस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः॥ 16/119 आ. पु.-1
3. **विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यर्थ संग्रहम्।**
   गन्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परश्शतम्॥ 16/120 आ. पु.-1
4. **अनन्तविजयायाख्यद विद्यां चित्रकलाश्रिताम्।**
   नानाध्यायशताकीर्णा साकलाः सकलाः कलाः॥ 16/121 आ. पु.-1
5. **विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत्।**
   अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः॥ 16/122 आ. पु. 1
6. **कामनीतिमथ स्त्रीणां, पुरुषाणां च लक्षणम्।**
   आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चाश्वेभगोचरम्॥ 16/123 आ. पु. 1
   तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्याख्यसूनवे।
   व्याचख्यौ बहुधाम्नातैर ध्यायैरतिविस्तृतैः॥ 16/124 आ. पु. 1
7. **किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत्।**
   तत्सर्वमादिकर्त्ता सौ स्वाः समन्वशिषत् प्रजाः॥ 16/125 आ. पु. 1

वास्तुकला

सोवाण-णयरुज्जाणं, जिणालय-गिहाण य।
णिम्मणं थंभ आईण, मण्णे वत्थुकला वरा॥34॥

नगर, स्तंभ, जिनालय, गृहसोपान, उद्यान आदि की निर्माण कला वास्तु कला कहलाती है।

Construction of stairs, city, groves, temples, homes and pillars etc. is considered as architecture.

वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वस्' धातु से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है–निवास की भूमि। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो वास्तु एक व्यवस्था है जो सूर्य की किरणों, चुम्बकीय तरंगों एवं गुरुत्वीय आकर्षण के अनुसार कार्य करती है। अनादिकाल से मनुष्यों एवं देवों द्वारा जिनमंदिर, समवशरणादि की रचना होती रही है यह तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार आदि ग्रंथों से ज्ञात हुआ है, जो यह सिद्ध करता है कि जब से सृष्टि है तब से जैन धर्म है और तभी से वास्तु-विद्या भी है।

इस युग में श्री आदिनाथ भगवान् ने अपने पुत्र विश्वकर्म को वास्तु विद्या दी। आदिपुराण में वर्णित है कि कल्पवृक्षों के समाप्त होने पर आजीविका हेतु भगवान् आदिनाथ ने लोगों को विदेह क्षेत्र की परंपरानुसार षट्कर्म करने का उपदेश दिया था। उसमें शिल्पकर्म द्वारा मंदिर और गृह बनाने का उपदेश दिया था।

यह वास्तु विद्या तीर्थंकर प्रभु के मुखकमल से निर्गत, गणधरदेव द्वारा रचित बारह अंगों और चौदह पूर्व में ही समाहित है। द्वादशांग के 12वें अंग के पाँच अधिकार हैं– 1. परिकर्म 2. सूत्र 3. प्रथमानुयोग 4. पूर्वगत 5. चूलिका चूलिका के पाँच भेद हैं–जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता व आकाशगता। इनमें स्थलगता चूलिका 20989200 पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण आदि तथा वास्तु विद्या एवं भूमि-सम्बन्धी शुभ व अशुभ कारणों का वर्णन करती है। जैनागम में वास्तु-विज्ञान का वर्णन अनादिकाल से प्राप्त है।

नगर, राजपथ, राजप्रसाद, भवन, वातायन, आँगन, स्नानागार, सोपान, स्तंभ, वन, उद्यान, वापी, कूप, क्रीड़ाशैल, देवालय, गुफाएँ आदि का विवेचन वास्तुकला के अंतर्गत ग्रहण किया जा सकता है।

श्री आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती जिनके नाम पर देश का नाम भारत पड़ा, उन्होंने कैलाश पर्वत पर 72 जिनचैत्यालयों का निर्माण कराया अर्थात् 1 कोड़ा-कोड़ी सागर पूर्व ही मनुष्यों द्वारा जिनालयों आदि का निर्माण प्रारंभ हो गया था। पुनः चक्रवर्ती बलभद्र, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, मुकुटबद्ध राजा, श्रावकों आदि ने नगर, भवन, महल, मंदिर आदि का निर्माण कराया।

आदिपुराण में वर्णन है कि शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न के समय तथा सूर्यादि ग्रहों के अपने-अपने उच्च स्थानों में स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान् के हर एक प्रकार की अनुकूलता होने पर इंद्र ने प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्यापुरी के बीच में जिनमंदिर की रचना की। इसके पश्चात् पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओं में भी यथाक्रम से जिनमंदिरों की रचना की। कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदि से सुशोभित राजधानी थी। नगर के विषय में कहा है जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकार से सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाबों से सहित हो, जो उत्तम रीति से अच्छे स्थान पर बसा हुआ हो, जिसमें पानी का प्रवाह पूर्व और उत्तर के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो और जो प्रधान पुरुषों के रहने के योग्य हो वह प्रशंसनीय पुर या नगर कहलाता है।

पद्मपुराण में वर्णित है कि भवन एक बहुत बड़े अहाते में बनाया जाता था। सामान्य घर छोटे-छोटे होते थे जो अधिकांशतः सफेद रंग के होते थे। राजाओं के भवन भव्य होते थे। राजा के भवन में अनेक द्वार, उच्च गोपुर, रानी का शयनकक्ष, खजानों, सभाभवन, शाला, प्रासाद, कूट, प्रेक्षग्रह अनेक कार्यालय, रानियों के महल आदि होते थे। राजभवन ऊँचे बनाए जाते थे। भवन का फर्श पक्का होता था जिसके चारों ओर बगीचे बनाए जाते थे। भवनों के द्वार अत्यधिक सुंदर बनाए जाते थे।

यशस्तिलक चंपू में वर्णन है कि यशस्तिलक का त्रिभुवन प्रासाद श्वेत पाषाण अर्थात् संगमरमर का बनाया गया था। शिखर पर स्वर्ण कलश लगाए गए थे। आस्थायिका (राजा का रानियों सहित संगीतादि के आस्वादन का स्थान), नाट्यशाला, अश्वशाला, गजशाला, आस्थान मंडप (सभा मंडल), स्नानागार, तोरणद्वार अंतःपुर, आयुधशाला, अखाड़े, प्रमद वन, उद्यान आदि की परंपरा प्राचीन काल से ही थी, यह पुराणों आदि को पढ़ने पर ज्ञात होता है।

समवशरण रचना का मानस्तंभ एक महत्वपूर्ण प्रतीक है। यह तीर्थंकर की महत्ता का प्रतीक है। मानस्तंभों की ऊँचाई तीर्थंकरों की ऊँचाई से बाहर गुना होती है। मानस्तंभ खंडों में विभाजित होता है। जैन मंदिर के सम्मुख विशाल स्तंभ बनवाने की प्रथा मध्यकालीन भारत में रही है। जैन वास्तुकला का यह प्रमुख अंग है। ये स्तंभ मंदिर के सामने पूर्व या उत्तर दिशा में मंदिर की ऊँचाई से सवा या डेढ़ गुने ऊँचाई के बनाये जाते हैं।

चक्रवर्ती, राजादि के महल 84 खंड, 7 खंड आदि के शास्त्र में वर्णित हैं। ऊपर से नीचे आने-जाने के लिए सोपान अर्थात् सीढ़ियाँ थीं। समवशरण जो अनादिकाल से है उसमें 20 हजार सीढ़ियाँ चारों दिशाओं में होती हैं। उपवनादि का कथन राजा-रानी के महलों आदि में आता है। समवशरण में उपवन भूमि होती है। हरिवंश पुराण, प्रद्युम्न चरित्रादि में वर्णन है कि श्री कृष्ण की

पटरानी सत्यभामा का बहुत सुंदर बगीचा था जो तालाब, पुष्पादि से परिपूरित था। रानियों के सुंदर उपवन होते थे। जिनदत्त चरित्र में वर्णित है कि जिनदत्त अपनी पत्नी विमला को प्रमद वन में छोड़कर गया और दधिपुर नगर में उजड़े हुए बाग को अपनी कला से पुनः हरा-भरा किया।

उमास्वामी श्रावकाचार में वर्णित है श्रावक को अपने घर की पूर्व दिशा में श्रीगृह, आग्नेय में रसोई, दक्षिण में शयन, नैऋत्य में आयुध, पश्चिम में भोजन क्रिया, उत्तर में जल स्थान एवं ईशान में देवगृह बनाना चाहिये। आदि पुराण में कथन है कि इस कर्मभूमि के प्रारंभ में कुलकरों एवं प्रथम तीर्थंकर ने भी गृह, मंदिर आदि की संरचना, अवधिज्ञान के द्वारा विदेह क्षेत्र आदि की व्यवस्था के अनुसार निर्देश दिये थे एवं वास्तु, ज्योतिष, कला, शिल्प, नृत्य, गीत, गणितशास्त्रादि लोकोपकारी विद्याओं का उपदेश दिया था। प्रतिष्ठा ग्रंथों में कथन है **''वास्तु शास्त्रं न लंघयेत्''** वास्तु शास्त्र का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। वास्तु शास्त्र के अनुसार ही गृह-मंदिर आदि का निर्माण करना श्रेयस्कर है।

प्राचीन काल में सामान्यतः ही गृह, महल, नगर आदि का निर्माण दिशाओं आदि को ध्यान में रखकर पूर्ण प्राकृतिक सामंजस्य के साथ होता था। तब से लेकर आज तक यह निर्माण-वास्तु कला प्रसिद्धि को प्राप्त है। गृहस्थ को चाहिए कि वह वास्तुशास्त्र का भी अध्ययन करे ताकि उसके द्वारा अपना निवास स्थान किसी तरह का बाधाकारक न हो।[1] इसके अनुसार कार्य करने से श्रावक समाज आदि सुख, शांति, समृद्धि को प्राप्त करते हैं।

---

1. **वास्तुशास्त्रमवलोकयेन्नरो नास्तु येन निलयो व्यथाकरः। 2/61 –जयो.**

चित्रकला

चित्ताण भित्ति-आईसु, चित्तकला सु-णिम्मणं।
चित्तरंजण हेदू सा, सुह-संतीइ कारणं।।35।।

अर्थ–दीवार (भित्ति) आदि पर चित्रों की निर्माण कला चित्रकला कहलाती है। वह चित्त का रंजन का हेतु और सुख-शांति का कारण है।

To paint on walls etc. is called painting. That art is the cause of entertainment and tranquility.

भावार्थ–नाना शुष्क और वर्जित के भेद से शुष्क चित्र दो प्रकार का कहा गया है तथा चंदनादि के द्रव से उत्पन्न होने वाला आर्द्रचित्र अनेक प्रकार का है। कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों के द्वारा पृथ्वी, जल तथा वस्त्र आदि के ऊपर इसकी रचना होती है। यह अनेक रंगों के संबंध ये संयुक्त होता है।[1] इस प्रकार इन समस्त चित्रकला का वर्णन आचार्य भगवन् श्री रविषेण स्वामी ने पद्मपुराण में किया है। युग के आदि तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान् ने अपने पुत्र अनंतविजय को चित्रकला का ज्ञान दिया।

चित्र निर्माण के उपकरण, चित्रों के प्रकार, उनकी विशेषताएँ, भित्तिचित्र, चित्रशाला, चित्रपट, पत्ररचना आदि का उल्लेख शास्त्रों में हुआ है।

शास्त्रों में कहा है कि जिस प्रकार प्रत्याहार शास्त्र व्याकरण शास्त्र में सूत्र, वर्ण और धातुओं के अनुबंध का क्रम स्पष्ट है उसी प्रकार चित्र में रेखाओं, रंगों और अनुकूल भावों का क्रम अत्यंत स्पष्ट दिखाई देना चाहिए, जहाँ जो रेखा चाहिए वहाँ वही रंग भरा जाना चाहिए, जहाँ जैसा भाव दिखना चाहिए वहाँ वैसा ही भाव दिखाना चाहिए। महापुराणों में कथन है चित्र निर्माण में तालिका, पटु तथा रंग का निर्माण किया जाता था। चित्रकार अपनी तूलिका या लेखनी से रेखांकन के पश्चात् ही रंग भरता था तथा नवरस संबंधी भावों से उसे साकार रूप प्रदान करता था।

चित्रकला के अंतर्गत जो चित्र लकड़ी, कपड़े तथा पत्थर पर अनेक रंगों के संयोग से उकेरे जाते थे, उन चित्रों का सामूहिक नामकरण लेपकंप है। प्राचीन काल में भी मिट्टी, पत्थर आदि पर चित्र निर्मित किए जाते थे। चावलों के चूर्ण से भी चित्र का निर्माण करते थे। ग्रंथों से 'अल्पना चित्रों' की परंपरा का भी ज्ञान होता है, जो लोककला के उन्नत स्वरूप का परिचायक है।

जैनधर्म में प्रतीकों के माध्यम से चेतन तत्त्व को जड़ से ऊपर उठाने एवं आत्मतत्त्व प्रदान करने की कला का प्रतिपादन किया है। अतदाकार प्रतीक भावनात्मक तथा तदाकार प्रतीत चित्रात्मक

---

1. **कृत्रिमाकृत्रिमैरंगैर्भूजलाम्बरगोचरम्।**
वर्णकश्लेषसंयुक्तं सा विवेदाखिलं शुभा।।24/37।। प. पु. 1

होते हैं। चित्र चारित्र वर्द्धक, ज्ञानवर्द्धक, पुण्यवर्द्धक, उत्साहवर्द्धक एवं सम्यग्दर्शनवर्द्धक होते हैं। जैनाचार्यों ने चित्र के महत्त्व को बताते हुए कहा है चित्र कला की श्रेष्ठता के सूचक ये चित्र (समवशरण जिनप्रतिमा, स्वास्तिक आदि) घर में जहाँ भी सद्भाव स्थापित किया जाता है और उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ भी प्राप्त होते हैं।[2] ग्रंथों में चित्रकला का पर्याप्त वर्णन है।

हरिवंश पुराण में केशर के रस से नाना प्रकार के चित्रों के निर्माण का उल्लेख हुआ है। इसमें वर्णित है कि नारद ने श्रीकृष्ण को रुक्मणी का चित्रपट दिखाया उसके पश्चात् कृष्ण ने रुक्मणी का हरण किया। पद्मपुराण में भी आता है सीता के चित्र को देखकर भामंडल कामासक्त होकर मोहित हो गया था। राम के पूर्व भवों में सेठ पद्मरुचि की पर्याय में मंदिर में दीवार पर बने चित्र को देखा जिसे वृषभध्वज ने जातिस्मरण होने पर बनवाया था। श्रेणिक चरित्र में कथन है कि राजा चेटक की पुत्रियों के चित्र चित्रकार भरत ने बनाए। हरिवंश पुराण में लिखा है नारद ने धातकी खंड के राजा पद्मनाभ को द्रोपदी का चित्रपट दिखाया जिससे द्रोपदी का हरण हुआ। चित्रसेन पद्मावती चरित्र में वर्णन है कि पद्मावती जो पुरुषों से विद्वेष करती थी उसका विद्वेष चित्रसेन ने चित्रपट दिखा मिटाया था। जिनदत्त चरित्र में कथन है जिनदत्त के पिता जीवदेव ने अपने पुत्र का चित्र बनवा विमल सेठ के यहाँ भेजा।

यशस्तिलक चंपू में भित्तीचित्रों के दो भेद किए व्यक्तिचित्र एवं प्रतीक चित्र। तीर्थंकरादि के चित्र व्यक्ति चित्र में तथा तीर्थंकर की माँ के द्वारा देखे जाने वाले 16 स्वप्नों के चित्र प्रतीक चित्र में लिए गए हैं। रंगावलि व धूलिचित्रों का भी इसमें कई बार उल्लेख है। चित्रशालाओं का वर्णन भी ग्रंथों के अंतर्गत आता है जहाँ तीर्थंकर, महापुरुष, शलाकापुरुषों आदि के चित्र लगे रहते थे। महापुराण के एक संदर्भ में एक चित्र का वर्णन किया गया है।

एक पात्र कहता है कि इस चित्रपट पर जो यह चित्र चित्रित किया गया है इसको देखकर ऐसा मालूम होता है कि मानो इस चित्रपट में लिखा हुआ चरित्र मेरा पहले का जाना हुआ है। यह रस और भावों से सहित है, मनोहर है तथा रेखाओं की मधुरता से संयत है। इस चित्र में कितने ही गूढ़ विषय दर्शाये गए हैं। इसमें कल्पवृक्षों की पंक्ति है, फूले हुए कमलों से शोभायमान सरोवर है, यह मनोहर ढोला गृह है, सुंदर कृत्रिम पर्वत है, तट भाग पर लगे हुए मणियों की फैलती हुई प्रभारूपी परदा से तिरोहित मेरुपर्वत के तट पर हम दोनों की मनोहर क्रीड़ा दिखलाई गई है। चित्रशाला में कई चित्रपटों पर अनेक मनोरम दृश्यों का चित्रण किया गया है।

---

2. **कलानां प्रवरं चित्रं, धर्म-कामार्थ-मोक्षदम्।**
   मांगल्यं प्रथमं चैतद्, गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥

खजुराहो, दिलवाड़ा, सिन्नवासल (जैन गुफा मंदिर), हेलिविड आदि जैन मंदिर अत्यंत सुंदर चित्रों से चित्रित हैं। जैन चित्रों की निर्मलता, स्फूर्ति एवं गतिशीलता से मुग्ध होकर डॉ. आनंदकुमार स्वामी ने कहा है कि जैन चित्रों की परंपरा का अनुकरण अजंता, एलोरा, बाघ, सितन्नवासल के भित्ति चित्रों में है। इसी बात को चित्रकला के मान्य विद्वान श्री एन.सी. मेहता ने कहा है–जैन चित्रों में एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गति वेग है, जिससे डॉ. आनंदकुमार जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रों की परंपरा अजंता, एलोरा, बाघ, सितन्नवासल के भित्ति-चित्रों की है। समकालीन सभ्यता के अध्ययन के लिए इन चित्रों से बहुत कुछ ज्ञानवृद्धि होती है। खासकर पोशाक, सामान्य उपयोग में आने वाली चीजों आदि के संबंध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं। मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम से ''Tirupatti kunram'' नामक एक मूल्यवान् पुस्तक श्री टी.एन. रामचंद्रन् द्वारा लिखित प्रकाशित हुई है। इसमें प्रकाशित चित्रों से दक्षिण भारत की जैन चित्रकला पद्धति का अच्छा आभास मिलता है। इनमें से अधिकांश चित्र भगवान् ऋषभदेव व महावीर स्वामी की घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं। उस समय के पहनावे, नृत्यकलादि का परिचय देते हैं। स्मिथ और व्यूलर ने जैन चित्रकला की प्रशंसा करते हुए उल्लेख किया है कि जैन चित्रों में नैसर्गिक अंत:प्रवाह गति दोलन एवं भाव निदर्शन विद्यमान है।

चित्रकला में विनोदार्थ भी चित्रों का अंकन किया जाता है, चित्त रंजायमान होता है। यह चित्रकला सुख व शांति का कारण है। देशोन्नति में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

मूर्तिकला

पडिमाणं, णराईणं, मुत्तिकला सुणिम्मणं।
देदि कला सुसक्कारं, जीवंततं सुसक्किदिं॥36॥

अर्थ–नर आदि की प्रतिमाओं की निर्माण कला मूर्तिकला है। कला सुसंस्कृति और सस्कार को जीवंतता प्रदान करती है।

To make statues of men and others is called sculpture. This art gives rituals, life and culture.

भावार्थ–देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि की निर्माण कला मूर्तिकला है। जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा को चैत्य संज्ञा से भी संबोधित किया गया है। ये कृत्रिम व अकृत्रिम दो प्रकार की है। समवशरणादि में भी चैत्य विराजमान होते हैं, अथवा तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, जंबूद्वीप पण्णत्ति आदि ग्रंथों में वर्णित है जब हिमवन् कुलाचल पर स्थित पद्म सरोवर से गंगा नदी नीचे गिरती है तब उसकी मोटी धार अकृत्रिम जिनबिंब पर अभिषेक करती हुई आगे बढ़ती है। श्री राम ने जिनेन्द्र भगवान् की हजारों जिन प्रतिमाएँ बनवायी थीं। भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर रत्नों की जिन प्रतिमाओं को विराजमान किया। रावण, विभीषण आदि के महलों में भी जिनबिंब विराजमान थे। जिनदत्त चरित्र में भी वर्णन है कि मंदिर के बाहर कन्या की पुत्तलिका या मूर्ति को देख वह उस पर मुग्ध हो गया।

मंदिरों के आगे गज, सिंह आदि की मूर्तियाँ रहीं इनका भी वर्णन आया है। राजा श्रेणिक के समय में भी एक सेठ ने अपने घर में कई पशु-पक्षियों की मूर्तियों की जोड़ी तैयार की थी। समवशरण में मानस्तंभ में चारों दिशाओं में चार प्रतिमाएँ स्थापित रहती हैं। राजा कोटिभट्ट श्रीपाल के माध्यम से बहुत समय से बंद, किसी के द्वारा भी नहीं खोले जाने वाले प्राचीन मंदिर का द्वार खुला और वहाँ जिन प्रतिमा के दर्शन किए। श्री आदिनाथ भगवान् के समय से उनके द्वारा दी गई शिक्षा से मूर्ति कला प्रचलित है। चतुर्थ काल की जिन मूर्तियाँ आज भी भूगर्भ से प्राप्त होती हैं। भूगर्भ से प्राप्त हुई जिन मूर्तियाँ प्राचीन काल से ही मूर्ति कला का परिचय देती हैं। महापुराण में कथन है सुलोचना ने श्री जिनदेव की अनेक प्रकार की बहुत सी रत्नमयी प्रतिमाएँ बनवायीं।

अष्टाह्निकादि पर्वों में जिन प्रतिमाओं को पूजने का उल्लेख कई शास्त्रों में मिलता है। अंजना ने कनकोदरी की पर्याय में 22 पल के लिए जिनप्रतिमा छिपायी। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में 24वें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान महावीर स्वामी की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय तैयार की गयी थी। श्री रायकृष्णा दास ने लिखा है कि मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यत: जैन संप्रदाय की है। खंडगिरि और उदयगिरि में ई. पू. 188-30 तक की शुंगकालीन मूर्ति शिल्प के

अद्‌भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं। श्रवणबेलगोला की श्री गोमटेश बाहुबली भगवान् की मूर्ति विश्व को जैन मूर्तिकला की अनुपम देन है। यह मूर्तिकला संस्कारों और संस्कृति को जीवंतता प्रदान करती है। विश्व में कोने-कोने से भूगर्भ से प्राप्त जैन मूर्तियाँ उसकी संस्कृति को जीवंतता देती हैं और जैन धर्म कितना व्यापक था इसका परिचय भी स्वत: प्राप्त हो ही जाता है।

खुदाई से प्राप्त होने वाली मूर्तियों के माध्यम से तब की संस्कृति, सभ्यता, संस्कार ज्ञात होते हैं अत: ये मूर्ति कला नि:संदेह संस्कृति को जीवंतता प्रदान करने में समर्थ है।

गंधर्व विद्या

गीदं णच्चं च वादित्तं, संगीदं खलु मण्णदे।
गंधव्वा तिविहा विज्जा, तालू सरो पदं तहा।।37।।

अर्थ–गीत, नृत्य व वाद्य ये संगीत (गंधर्व) में ही माने जाते हैं। गंधर्व तालुगत, सुरगत व पदगत रूप से तीन प्रकार का है।

Songs, dances and musical instruments are considered music. ***Gandharva Vidya*** is of three kinds ***talu*** (palatine), ***swar and pada***.

भावार्थ–संगीत के लिए गंधर्व संज्ञा प्राप्त होती है। संगीत के अंतर्गत गीत, वाद्य और नृत्य तीनों को ग्रहण किया गया है। हरिवंश पुराण में वर्णित है कि गंधर्व की उत्पत्ति में वीणा, वंश और गान ये तीन कारण हैं तथा स्वरगत, तालगत और पदगत के भेद से वह तीन प्रकार का माना गया है। श्रुति, वृत्ति, स्वर, ग्राम, वर्ण, अलंकारादि वैण स्वर माने गए हैं और जाति, स्वर, वर्ण, ग्राम, स्थान, साधारण क्रिया और अलंकार विधि ये शरीर स्वर के भेद कहे हैं। जाति, तद्धित, छन्द, सन्धि, स्वर, विभक्ति, सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग व वर्ण आदि पदगत गंधर्व की विधि है और आवाय, निष्काम, विक्षेप, प्रवेशन, शम्यातात, परावर्त, सन्निपात, सवस्तुक, मात्रा, अविदार्य, अंग, लय, गति, प्रकरण, यति, दो प्रकार की गीति, मार्ग, अवयव, पादभाग और सपाणि ये तालगत गंधर्व के 22 प्रकार हैं।

दूसरी प्रकार से स्वर सात प्रकार के होते हैं। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद के भेद से सात प्रकार के हैं। बूदित जैसे स्वर को निषाद, बैल जैसे स्वर को ऋषभ, धनुष्टंकार जैसे स्वर को गंधार, मयूर जैसे स्वर को षड्ज, क्रौंच जैसे स्वर को मध्यम, घोड़े के ह्वेषित जैसे स्वर को धैवत तथा कोयल के कूकने जैसे स्वर को पंचम स्वर कहते हैं।

स्वरों के प्रयोग करने के वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी ये चार प्रकार हैं। संगीत दर्पण में भी इसका विशद वर्णन है। सात स्वरों का क्रमानुसार प्रयोग मूर्च्छना कहलाता है। महर्षि भरत ने आडुवित और षाड्विक अवस्था को तान और संपूर्ण अवस्था को मूर्च्छना कहा है। मूर्च्छना का प्रधान लक्षण सप्तस्वरता है। अथवा 'अंश' स्वर से आरंभ होने वाले स्वर-सप्तक का आरोहावरोह 'मूर्च्छना' कहलाता है। पद्मपुराण में आठ एवं दश स्वरों में संचार करने वाली जातियों का वर्णन है। धेवती, आर्षभी, षड्ज षड्जा, उदीच्या, निषादिनी, गनधरी, षड्जकैलशी, षटजमध्यमा ये 8 जातियाँ हैं अथवा गंधारोदीच्या, पंचमी, गंधारपंचमी, रक्तगंधरी, मध्यमा, आंधी, मठयमो, दीच्याकमरिवी, नंदिनी और कैचुकी ये 10 जातियाँ हैं।

गीत के विषय में यशस्तिलक में वर्णन है कि यशोधर कहता है उसका गला इतना मधुर है कि उसके गाने से सूखे वृक्ष भी पल्लवित और पुष्पित हो जाते हैं। गाने में निपुण मनुष्य यदि

स्वभाव से क्रूर भी हो तो भी स्त्रियाँ उसकी ओर आकर्षित होती हैं। गायक यदि कुरूप भी हो तो भी वह स्त्रियों के लिए कामदेव के समान सुंदर व प्रियदर्शन होता है। नेमिचंद्र शास्त्री ने गायन के आठ गुण कहे हैं–पूर्णकला से गाना, राग के रज्जक बना के गाना, अन्य स्वर विशेषों से अलंकृत करके गाना, स्पष्ट गाना, मधुर स्वर युक्त गाना, रंग के स्वर से मिलाकर गाना, मूर्च्छताओं का ध्यान रखते हुए गायन करना।

मध्यम और पंचम का संबंध रति और हास से, षड्ज और ऋषभ का संबंध उत्साह, क्रोध और विस्मय से, गांधार और निषाद का संबंध करुणा से तथा धैवत का संबंध जुगुप्सा और भय से है।

डॉ. हेम भटनागर का कथन है कि ''जैन मुनि संगीत का ज्ञान भी अधिक मात्रा में रखते थे, ऐसा उनके ग्रंथों का अवलोकन करने से विदित होता है। जैन मुनियों में रागमालाएँ लिखने का बड़ा प्रचार था। कवि अपने किसी तीर्थंकर का यश वर्णन करते समय राग तथा रागिनियों में बांधकर काव्य रचना करता है। जैन कवियों की संगीत-प्रियता असंदिग्ध है। जैन रागमालाओं में हिंदी रागमालाओं का मूल मानना उचित होगा।''

जैनाचार्य पार्श्वदेव कृत संगीत समयसार अपने आप में एक अनूठी कृति है।

चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख शास्त्रों में है तत, अवनद्ध, घन और सुषिर। जो तार से बजते हैं ऐसे वीणा आदि तत कहलाते हैं। जो चमड़े से मढ़े जाते हैं ऐसे मृदंग आदि अवनद्ध कहलाते हैं। काँसे के झांझ, मंजीरा आदि घन कहलाते हैं। और बाँसुरी आदि को सुषिर कहते हैं। इनमें तत नाम का वादित्र कर्णेन्द्रिय को तृप्त करने वाला होने से प्रायः प्राणियों के लिए अधिक प्रीति उपजाने वाला है। महापुराण में वीणा के स्वर को सर्वश्रेष्ठ स्वर कहा गया है। मुरज यह चर्मवाद्य है इसकी समता मृदंग से की गई है, पुष्कर वाद्य को पखावज कहा गया है। यह मुरज विशेष है। पणव मृदंग के समान यह भी पुष्कर वाद्य की तरह है। पटह का अर्थ नगाड़ा और दुंदुभि है परंतु संगीत की दृष्टि से पटह का तात्पर्य ढोलक से है। दुन्दुभि इसको नगाड़ा कह सकते हैं। यह तबले की भाँति दो नगों से निर्मित होता है, इसका प्रयोग युद्ध एवं शुभ अवसरों पर होता है। यदि यह शहनाई सहित बजती है तो इसे नौवत की संज्ञा से संबोधित करते हैं।

आनक की समता नगाड़े से की जा सकती है। भेरी यह मृदंग जाति का वाद्य यंत्र है। सिंहनाद, घंटा, शंख, बाँसुरी, झांझ मंजीरा, कंसबादक, काहला, संगीत रत्नाकर में काहला को धतूरे से फल के समान मुँह वाला वाद्य कहा है। काहला तीन हाथ लंबा छिद्र युक्त तुरही जैसा सुषिर वाद्य है। यह सोना, चांदी तथा पीतल का बनाया जाता था। तूर्य यह प्राचीन वाद्य है इसकी गणना सुषिर वाद्यों में है। वर्तमान में इसे तुरही कहते हैं। पाणिध (तबला), अमलातक, गुन्जा, झरझर, भंभा, लंबाक, शंख आदि अनेक वाद्य यंत्रों का उल्लेख पुराणों में प्राप्त है।

उत्सव, विजय, हर्षादि विशेष अवसरों पर या राज-दरबारों में नृत्य की परंपरा अति प्राचीन है। पद्मपुराण में वर्णित है कि सीता उसी प्रकार नृत्य करती थी जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के राज्याभिषेक के समय सुमेरू पर्वत पर श्रीदेवी करती थी। वह समस्त सुंदर नृत्यों के लक्षण जानती थी, मनोहर वेशभूषा से युक्त थी, परम लीला से सहित थी, हार-माला आदि से अलंकृत थी जो हाव-भाव आदि के दिखलाने में निपुण थी, उसके चरण कमलों का विन्यास शब्द रहित था, उसके शरीर की समस्त चेष्टाएँ संगीत शास्त्र के अनुरूप थी।

आदि पुराण में वर्णन है कि भगवान् के जन्म के समय पुरवासी जन गीत, नृत्य वादित्र व अनेक मंगल कार्यों में व्यग्र हो रहे थे। संगीत के शब्द से नगर की समस्त दिशाएँ भर रही थीं। जन्माभिषेक हेतु देवगण जब भगवान् को सुमेरु पर्वत पर लेकर पहुँचे तब देवों का समूह नाट्यवेद का प्रयोग कर रहा था–नृत्य कर रहा था। गंधर्व देवों के द्वारा प्रारंभ किए संगीत व मृदंग की ध्वनि से मिला हुआ दुंदुभि बाजों का गंभीर शब्द आनंद बढ़ा रहा था। तब देवांगनाएँ, अप्सरायें हाथ उठाकर, शरीर हिलाकर और ताल के साथ-साथ फिरकी लगाकर लीलासहित नृत्य कर रही थीं। तब नांदी, तुरही आदि बाजों के शब्द सब ओर पृथ्वी-आकाश के बीच अंतराल को भर रहे थे। जब अभिषेक कर लौटते हैं तब बड़ा महोत्सव करते हैं। पहले किसी के द्वारा किये हुए कार्य का अनुकरण करना नाट्य कहलाता है।[1] इन्द्र ने सबसे पहले ताण्डव नृत्य किया, फिर नांदी किया पुनः रंगभूमि में प्रवेश किया। उसमें वीणा भी मनोहर शब्द कर रही थी, मधुर मुरली मधुर शब्दों से बज रही थी। इंद्र के तांडव नृत्य का विस्मयकारी वर्णन हरिवंश पुराण में किया गया है। वर्णित है कितनी ही देवियाँ इन्द्र के हाथों की अंगुलियों पर अपने चरण पल्लव रखती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं मानो सूचीनाट्य (सूई के नोंक पर किया जाने वाला नृत्य) कर रही हों। इंद्र ने नृत्य करते हुए 1000 भुजाएँ बनाईं जिन सभी पर अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं।

श्री आदिनाथ भगवान् जब राजदरबार में नीलांजना का नृत्य देख रहे थे तब नृत्य करते-करते उसका आयु कर्म पूर्ण हो गया और यही देख श्री आदिनाथ भगवान् को वैराग्य हुआ। पद्मपुराण में वर्णन है कि जब वनवास के समय राम व भरत को समाचार मिला कि राजा अतिवीर्य भरत से युद्ध करने हेतु तत्पर है तब उसे रोकने राम और लक्ष्मण ने राजा अतिवीर्य के दरबार में नर्तकी बन नृत्य किया। नीलांजना नृत्य, सूचीनृत्य, बांसुनृत्य, लास्यनृत्य, पुतली नृत्य, बुहरूपिणी नृत्य, अगुष्ठनृत्य, कटाक्षनृत्य, निष्क्रमण नृत्य, अलातचक्र नृत्य, इंद्रजाल नृत्यादि के भेद से कई प्रकार के नृत्य हैं।

संगीत से व्यक्ति को मानसिक शांति उपलब्ध होती है एवं उसका मनोरंजन भी होता है। यह संगीत सभी के चित्त का हरण करने में समर्थ है।

---

1. **कृतानुकरणं नाटयं तत्प्रयोज्यं यथागमं। –॥14/97॥ –आ. पु. –1**

पुरुष व नारी की कला

चउसट्ठी य णारीणं, पुरिसाणं बहत्तरा।
कला लोए पसिद्धा य, जणकल्लाण-कारणं॥38॥

अर्थ–नारियों की चौंसठ और पुरुषों की बहत्तर कलाएँ हैं। कला जनकल्याण के कारण लोक में प्रसिद्ध हैं।

There are sixty-four arts of females and seventy-two arts of males. Art is famous in the world due to welfare of people.

भावार्थ–कला एक प्रकार का कृत्रिम निर्माण है जिसमें शारीरिक और मानसिक कौशलों का प्रयोग होता है। नारियों की चौंसठ और पुरुषों की बहत्तर कला कहीं गई हैं।

आचार्य भगवन् श्री रविषेण स्वामी ने समस्त कला पारगामी केकया की कलाओं को कहते हुए जिस प्रकार स्त्रियों की कला का वर्णन किया है वही यहाँ बताते हैं–

1. **नृत्य कला**–अंगहाराश्रय, अभिनयाश्रय और व्यायामिक के भेद से यह तीन प्रकार की है।
2. **संगीत कला**–कंठ, शिर व उरस्थल इन स्थानों से अभिव्यक्त, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद इन सात स्वरों में संवेत, द्रुत, मध्य व विलंबित इन तीन लयों से सहित, अस्त्र व चतुरस्र इन ताल की दो योनियों का धारक, स्थायी, संचारी, आरोही व अवरोही इन चार वर्णों से सहित, संस्कृत, प्राकृत व शौरसेनी भाषा से युक्त, धैवती आदि 8 जाति या गान्धारों दीज्या आदि 10 जातियों से युक्त, प्रसन्नादि 13 अलंकारों से संयुक्त संगीत होता है।
3. **वाद्य कला**–तंत्री अर्थात् वीणा से उत्पन्न होने वाला तत, मृदंग से उत्पन्न होने वाला अवनद्ध, बांसुरी से उत्पन्न होने वाला सुषिर और ताल से उत्पन्न होने वाला घन ये चार प्रकार के वाद्य हैं। ये सभी वाद्य नाना भेदों से सहित होते हैं।
4. **नाट्य कला**–गीत, नृत्य, वादित्र का साथ होना नाट्य है।
5. **अनुवृत्त कला**–जो लिपि अपने यहाँ आमतौर से चलती है उसका परिज्ञान अनुवृत्त कला है।
6. **विकृत कला**–लोग अपने-अपने संकेतानुसार जिसकी कल्पना कर लेते हैं वह विकृत है उसका ज्ञान विकृत कला है।
7. **सामयिक कला**–प्रत्यंग आदि वर्णों में जिसका प्रयोग होता है वह सामयिक है।
8. **नैमित्तिक कला**–वर्णों के बदले पुष्पादि पदार्थ रखकर जो लिपि का ज्ञान किया जाता है उसे नैमित्तिक कहते हैं।

9. **विन्यास कला**–पदवाक्य, महावाक्य आदि के विभाग सहित कथन करना विन्यास कला है।
10. **समुदाय कला**–गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चंपू की अपेक्षा यह तीन प्रकार की समुदाय कला है।
11. **विराम कला**–किसी विषय का संक्षेप से उल्लेख करना विराम कला है।
12. **सामान्याभिहित कला**–एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना सामान्याभिहित कहा गया है।
13. **समानार्थता कला**–एक शब्द के द्वारा बहुत अर्थ का प्रतिपादन करना समानार्थता है।
14. **भाषा कला**–बहुत प्रकार की भाषाओं को जानना। अथवा आर्य, लक्षण और म्लेच्छ के नियम से यह तीन प्रकार की कही गई है।
15. **लेख कला**–जिसका पद्य रूप व्यवहार होता है उसे लेख कहते हैं।
16. **मातृका कला**–व्यक्तवाक्, लोकवाक् और मार्गव्यवहार ये मातृकाएँ कहलाती हैं।
17. **उक्तिकौशल कला**–स्थान, स्वर, संस्कार, विन्यास, काकु, समुदाय, विराम, सामान्याभिहित, समानार्थत्व और भाषा इन सबसे सहित जो भाषण चातुर्य है वह उक्तिकौशल कला है।
18. **चित्रकला**–नाना शुष्क और वर्जित के भेद से शुष्क चित्र दो प्रकार का कहा गया है तथा चंदनादि के द्रव से उत्पन्न होने वाला आर्द्र चित्र अनेक प्रकार का है। कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों के द्वारा पृथ्वी, जल तथा वस्त्र आदि के ऊपर इसकी रचना होती है।
19. **क्षयजन्य पुस्त कर्म**–लकड़ी आदि को छील-छीलकर जो खिलौना आदि बनाए जाते हैं वह क्षयजन्य पुस्त कर्म है।
20. **उपचयजन्य पुस्त कर्म**–ऊपर से मिट्टी आदि लगाकर कर्म करना उपचयजन्य पुस्त कर्म कला है।
21. **संक्रमजन्य पुस्त कर्म**–जो प्रतिबिंब अर्थात् साँचे आदि गाढ़कर बनाए जाते हैं उसे संक्रमजन्य पुस्त कर्म कहते हैं।
22. **बुष्किम कला**–सुई अथवा दन्तादि के द्वारा बनाना बुष्किम कला है।
23. **छिन्नकला**–कैंची से काटकर जो बनाया जाता है तथा जो अन्य अवयवों के संबंध से युक्त होता है उसे छिन्न कहते हैं।
24. **अच्छिन्नकला**–जो कैंची आदि से काटकर बनाया जाता है तथा अन्य अवयवों के संबंध से रहित होता है उसे अच्छिन्न कहते हैं।

बुष्किम, छिन्न व अच्छिन्न ये क्रिया पत्र, वस्त्र तथा स्वर्णादि के ऊपर की जाती हैं तथा स्थिर व चंचल दोनों प्रकार की होती हैं।

25. **आर्द्र माल्य कर्म**–ताजे पुष्पादि से माला बनाना आर्द्र माला निर्माण कला है।
26. **शुष्कमाल्य कर्म**–सूखे पत्रादि से माला बनाना शुष्क माला निर्माण कला है।
27. **तदुज्झित माल्यकर्म**–चावलों के सीथ अथवा जवादि से बनाना तदुज्झित है।
28. **मिश्र माल्यकर्म**–ताजे पुष्पादि, सूखे पत्रादि व चावलों के सीथ या जवादि इन तीनों चीजों के मेल से माला बनना मिश्र माला निर्माण कला है।
29. **परिकर्म कला**–तेल आदि पदार्थों का शोधना व धोना आदि परिकर्म है।
30. **गुणदोष विज्ञान**–वस्तुओं के गुण व दोष का जानना गुणदोष विज्ञान कला है।
31. **कौशल**–परकीय व स्वकीय वस्तु की विशिष्टता जानना कौशल है।
32. **गंधयोजना कला**–सुगंधित पदार्थों का निर्माण करना गंध योजना कला है।
33. **आस्वाद्य विज्ञान कला**–स्वादिष्ट भोजन (खाद्य-स्वाद्य-लेह्य) बनाना आस्वाद्य विज्ञान कला है। यह आस्वाद्य विज्ञान वाचन, छेदन, उष्णत्वकरण व शीतत्वकरणादि से सहित है।
34. **पानक रस निर्माण कला**–शीतल शर्बतादि बनाना पानक रस निर्माण कला है।
35. **रत्नपरीक्षण कला**–वज्र (हीरा), मोती, वैडूर्य (नीलम) आदि रत्नों को उनके लक्षणों आदि से जानना रत्नपरीक्षण कला है।
36. **धातु परीक्षण कला**–स्वर्णादि धातुओं को लक्षणादि से जानना धातुपरीक्षण कला है।
37. **वस्त्रादि परीक्षण कला**–आयुध व वस्त्र, शंखादि को उनके लक्षणों से अच्छी तरह से जानना वस्त्रादि परीक्षण कला है।
38. **कढ़ाई कला**–वस्त्र पर धागे से कढ़ाई करना कढ़ाई कला है।
39. **वस्त्र रंगना**–वस्त्रों को अनेक रंगों में रंगने की कला।
40. **उपकरण निर्माण कला**–लोहा, दन्त, लाख, क्षार, पत्थर तथा सूत आदि से नाना उपकरणों का निर्माण करना।
41. **मान**–मेय, देश, तुला व काल के भेद से यह मान चार प्रकार का है। इसमें से प्रस्थ आदि के भेद से जिसके अनेक भेद हैं उसे मेय कहते हैं। वितस्ति हाथ देशमान कहलाता है। पल, छटाक, सेर आदि तुलामान कहलाता है और समय, घड़ी, घंटा आदि कालमान कहा गया है।
42. **भित्तिकला**–दीवार व भूमि आदि पर बेलबूटा खींचने का ज्ञान भित्तिकला है।
43. **निधिज्ञान**–गड़े हुए धन का ज्ञान निधिज्ञान कला है।

44. **रूपज्ञान**–रूप का पहचानना रूपज्ञान कला है।
45. **वाणिग्विधि**–व्यापार जानना वणिग्विधि है।
46. **जीव विज्ञान**–जीव की भौतिक व आध्यात्मिक स्थितियों का परिज्ञान।
47. **चिकित्सा**–मनुष्य, हाथी, गौ, अश्वादि की शल्यादि चिकित्सा जानना।
48. **इंद्रजाल**–दृष्टिबंधन, जादू-चमत्कारादि दिखाना।
49. **मंत्र कला**–विभिन्न मंत्रों को जानना।
50. **औषधि कला**–वृक्षादि से प्राप्त औषधियों द्वारा रोग निदान का ज्ञान।
51. **दर्शनकला**–पाखंडी जनों द्वारा कल्पित सांख्य आदि मतों को उनमें वर्णित चारित्र तथा नाना प्रकार के पदार्थों के साथ अच्छी तरह जानना।
52. **चेष्टा**–शरीर से उत्पन्न होने वाली क्रीड़ा चेष्टा है।
53. **उपकरण**–गेंद आदि खेलना उपकरण कला है।
54. **वाणी कला**–नाना प्रकार के सुभाषित आदि कहना।
55. **कलाव्यासंग**–जुआ आदि खेलना कलाव्यासंग है।
56. **लोकज्ञता**–इसी लोक में जीव की नाना पर्यायों में उत्पत्ति हुई है, उसी में यह स्थिर रहा है तथा उसी में इसका नाश होता है यह सब जानना लोकज्ञता है।
57. **कर्मसंश्रया संवाहन कला**–त्वचा, माँस, अस्थि और मन इन चार को सुख पहुँचाने के कारण कर्मसंश्रया के चार भेद हैं। संवाहन से एक, दो, तीन या चारों को ही सुख प्राप्त होता है। जिस संवाहन से मात्र त्वचा को सुख होता है वह मृदु या सुकुमार कहलाता है। जो त्वचा व माँस को सुख पहुँचाता है वह मध्यम कहा जाता है और जो त्वचा, माँस व हड्डी को सुख देता है वह प्रकृष्ट कहलाता है। इसके साथ जब कोमल संगीत और होता है तब वह मनः सुख संवाहन कहलाता है।
58. **शय्योपचरिका**–जो संवाहन क्रिया अनेक कारण अर्थात् आसनों से की जाती है वह चित्त को सुख देने वाली शय्योपचरिका है।
59. **शरीर संस्कार वेष कौशल कला**–स्नान करना, सिर के बाल गूंथना तथा उन्हें सुगंधित आदि करना शरीर संस्कार वेष कौशल नामक कला है।
60. **वाहन संचालन कला**–अश्व, रथादि संचालन का ज्ञान वाहन संचालन कला है।
61. **युद्ध कौशल कला**–युद्धादि कला में निपुण होना।
62. **समस्यापूर्ति**–प्रहेलिका पूछने व उत्तर देने में कुशलता।
63. **निमित्तज्ञान**–प्रश्नोत्तरों में शुभाशुभ बतलाना व शकुन-अपशकुनादि जानना।
64. **वाङ्मय**–छंद, व्याकरण, वाङ्मय है। उसका परिज्ञान वाङ्मय कला है।

पुरुषों की 72 कलाएँ कही गई हैं जो इस प्रकार हैं–

1. **लेख कला**–सुंदर-सुस्पष्ट लिपि लिखना एवं अपने भावों, विचारों की सम्यक् अभिव्यंजना लेख कला के अंतर्गत आता है।
2. **रूप कला**–चित्र खींचना धूलि चित्र, सदृश चित्र और रस चित्र बनाने का ज्ञान इसमें होता है।
3. **गणित विद्या**–इस विद्या के अंतर्गत अंकगणित, बीजगणित एवं रेखागणित का समावेश दृष्टव्य है।
4. **नाट्य कला**–यह कला नाटक लिखने और खेलने के एक-एक अभिनय का वर्णन करती है।
5. **गीत कला**–यह कला स्वरों का एवं उनके आलापने के समय व प्रभाव का ज्ञान कराती है।
6. **वादित्र कला**–संगीत के स्वर भेद और ताल आदि के अनुसार, वाद्यों के अनुसार वाद्यों का परिज्ञान इस कला के द्वारा होता है।
7. **पुष्करगत कला**–इस कला के माध्यम से बाँसुरी, भेरी, शहनाई, आदि के वादन का प्रशस्त ज्ञान होता है।
8. **स्वरगत कला**–यह कला षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम तथा पंचम, धैवत और निषाद स्वरों का ज्ञान देती है।
9. **समताल कला**–वाद्यानुसार हाथ-पैर-कमर की गति साधना सिखाती है।
10. **द्यूत कला**–भूपालों को दिया जाने वाला ज्ञान, मनोविनोद का मनोज्ञ साधन द्यूत कला द्वारा अनेक रहस्य भी प्रकट किए जाते हैं।
11. **जनवाद कला**–यह कला मनुष्य के शरीर, रहन-सहन, बातचीत, बौद्धिक स्तर और अन्नपानादि का ज्ञान देती है।
12. **प्रोक्षत्व कला**–इसके अन्तर्गत वाद्य विशेषों का ज्ञानाभ्यास होता है।
13. **अर्थ-पद कला**–इसमें अर्थशास्त्र अर्थात् रत्न-परीक्षा और धातुवाद का सूक्ष्म विवेचन होता है।
14. **उदक-मृत्तिका कला**–जो सलिल किस भूमि पर है और किस भूमि पर नहीं है का निर्णय मिट्टी के माध्यम से कर लेता है वह इस कला का जानकार कहलाता है।
15. **अन्न-विधि कला**–यह कला पाकशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान कराती है।
16. **पान विधि कला**–यह कला विविध प्रकार के पेय पदार्थ निष्पन्न करने की प्रक्रिया प्रदान करती है।

17. **वस्त्र विधि कला**–यह कला वस्त्र निर्माण के प्रत्येक पहलू का विश्लेषणात्मक संपूर्ण ज्ञान देती है।
18. **शयन विधि कला**–यह विधा शैया, बिछौना आदि के प्रमाण करने का निखिल ज्ञान प्रदान करती है।
19. **आर्याछंद कला**–आर्याछन्द लिखने और उसके विविध प्रकारों की प्रत्येक दृष्टि से जानकारी इससे प्राप्त होती है।
20. **प्रहेलिका कला**–पहेली बूझने की योग्यता यह कला देती है।
21. **मागधिका कला**–यह मागध भाषा और साहित्य के हृदय को समझने की कला है।
22. **गाथा कला**–यह गाथा सूत्र लिखने एवं तद्गत मर्मों भावों को समझाने की कला है।
23. **श्लोक कला**–यह श्लोक लिखने एवं उनके हार्द को समझाने की अनुपम विधा है।
24. **गंध-युक्ति कला**–यह गंधित द्रव्यों संबंधी गुण-दोषों को समझने की कला है।
25. **मधु-सिक्थ कला**–यह मोम अथवा आलता तैयार करने की विधि-विधान को जाहिर करने वाली कला है।
26. **आभरण-विधि कला**–यह तरह-तरह के आभूषण निर्माण एवं धारण करने की पद्धति का ज्ञान देती है।
27. **तरुणी-परिकर्म कला**–यह कला संपूर्ण विश्व के सभी प्राणियों को प्रसन्न करने की प्रक्रिया बतलाती है।
28. **स्त्री लक्षण कला**–यह कला नारियों की जातियाँ तथा उनके गुण दोषों का सम्यक् रीति से परिज्ञान कराती है।
29. **पुरुष लक्षण कला**–यह पुरुषों की जातियाँ एवं गुण-अवगुणों को प्रमाणित करने वाली स्वस्थ, अनूठी कसौटी है।
30. **हय लक्षण कला**–यह विधा घोड़ों की पहचान, उनके सदोष-निर्दोष लक्षणों के आधार पर करने की सलाह देती है।
31. **गज लक्षण कला**–यह विधा हाथियों की जातियों व उपजातियों की सकल जानकारी देती है।
32. **गो लक्षण कला**–यह कला गौ संबंधी तमाम जानकारियों का विपुल भंडार सौंपती है।
33. **दंड लक्षण कला**–यह दंड परीक्षा अर्थात् दंड से होने वाले शुभ-अशुभ कार्यों को प्रकट करने के लिए यंत्र सदृश है।
34. **असि लक्षण कला**–यह विधा असि परीक्षा तथा उससे संबंधित शुभाशुभ संकेतों को प्रदर्शित करती है।

35. **मणि लक्षण कला**—यह कला चंद्रकांत मणि, सूर्यकांत-मणि और नाग मणि आदि मणियों की परीक्षा का भेद विज्ञान कराती है।

36. **काकिणी लक्षण कला**—यह विधा सिक्कों/मुद्राओं के परीक्षण की विधिवत् जानकारी प्रदान करती है।

37. **कुक्कुट लक्षण कला**—यह विधा मुर्गा-मुर्गियों की नसल का बारीकी से वर्णन करती है।

38. **मेंढा लक्षण कला**—यह विधा मेढ़ों की विशिष्टताओं-अविशिष्टताओं का आमूल क्रमवार ब्यौरा प्रस्तुत करती है।

39. **चक्र लक्षण कला**—यह चक्र परीक्षा एवं चक्र संबंधित विमल-अविमल रहस्यों को उद्घाटित करती है।

40. **छत्र लक्षण कला**—यह छत्र परीक्षा तथा छत्र-समन्वित सर्वोत्तमानुसत्तम लांछनों द्वारा मनुज की शांति-अशांति का परिचय प्रदान कराने वाली कला है।

41. **ग्रह चरित कला**—सूर्य, चंद्र, राहु-त्रय ज्योतिष्क विमानों के अतिरिक्त अन्य ग्रहों की गति आदि का ज्ञान इसके माध्यम से होता है।

42. **सौभाग्यकर कला**—जीवन के सौभाग्यपूर्ण क्षणों की सूचना पूर्व में ही, कैसे मिल जाती है इसकी जानकारी देने वाली पथ-प्रदर्शिका कला है।

43. **दौर्भाग्यकर कला**—अशुभ संकेतों को बताने व उनसे जीवन रक्षित करने के उपायों को बताने वाली यह मातृवत कला है।

44. **विद्यागत कला**—यह मंगलकारी कला शास्त्र-ज्ञान, कब-कहाँ-कैसे करने आदि का ज्ञान देती है।

45. **चर्म-लक्षण कला**—यह शुभंकरी विधा शरीर के बहिरंग चिह्न तिल, भँवरी, मस्सा और चर्मगत स्निग्ध-रुक्षताओं द्वारा मर्त्यों के भाग्य निर्णय की सूचना देती है।

46. **चंद्र-चरित कला**—इसके माध्यम से चंद्रमा की गति, विमान, वैभव, परिवार एवं संबंधी ग्रहणादि द्वारा शकुन-अपशकुन का ज्ञान होता है।

47. **सूर्य-चरित कला**—सूर्य की गति, विमान, परिवार एवं तद्विषयक चंद्र-चरित कलावत अन्य जानकारियों का खजाना इस कला के माध्यम से ज्ञात होता है।

48. **राहु-चरित कला**—यह राहु से सबंधित सकल जानकारियों को सहज ही उपलब्ध कराने वाली कला है।

49. **प्रतिचार कला**—यह कला रोगी की परिचर्या सेवा सुश्रूषा कब कैसे करने आदि का सद्ज्ञान देती है।

50. **ब्यूह कला**—युद्ध के समय सेना को टुकड़ियों में विभक्त कर दुर्लघ्य स्थानों में स्थापित करने की निपुणता यह कला देती है।
51. **प्रतिव्यूह कला**—यह कला शत्रु द्वारा व्यूह रचना करने पर प्रतिव्यूह रचने का प्रबोध कराती है।
52. **स्कन्धावा-निवेशन कला**—छावनियाँ बसाने की प्रक्रिया एवं सेना को अन्न-पान आदि रसद प्रेषित करने का उचित प्रबंध कहाँ और कैसे करना है इसका ज्ञान यह कला देती है।
53. **मंत्रगत कला**—यह विधा दैहिक, दैनिक और भौतिक बाधाओं को दूर करने का वर्णन करती है।
54. **रहस्यगत कला**—यह विधा जादू-टोने एवं टोटकों का कुशलतापूर्वक कमनीय वर्णन करती है।
55. **संभव कला**—यह विधा प्रसूति संबंधी परिपूर्ण विज्ञान प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।
56. **चार कला**—यह विधा द्रुत गति से कदम बढ़ाने, रखने की युक्तियुक्त प्रक्रिया प्रदर्शित करती है।
57. **वास्तु-निवेशन कला**—यह कला सदन, प्रासाद, गृह एवं मंदिर निर्माण की समझ प्रस्फुटित करती है।
58. **इष्वस्त्र कला**—यह विधा सिखाती है कि दुश्मन के ऊपर किस समय कौन से बाण का प्रयोग करना है।
59. **सरूप्रवाद कला**—यह कला असि (तलवार) शास्त्र का व्यापक अध्ययन कराती है।
60. **अश्व शिक्षण कला**—यह विधा घोड़ों को चलाने, दौड़ाने, छलांग भराने की निष्प्रमाद श्रेष्ठ शिक्षा प्रदान करती है।
61. **नगर-निवेशन कला**—यह कला नगर बसाने की असंख्य जानकारियाँ अर्पित करती है।
62. **स्कंधावार-मान कला**—यह छावनी के प्रमाण, लंबाई, चौड़ाई एवं अन्य पदविषयक प्रमाणों की जानकारी देती है।
63. **नगर-मान कला**—कौन सा नगर कितनी लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि प्रमाण वाला होना चाहिए, यह कला इसकी जानकारी देती है।
64. **वास्तुमान कला**—भवन, प्रसाद, गृह और मंदिर के प्रमाण की सर्वोत्तम वृहद् जानकारियाँ देने वाली यह क्षेमंकरी विधा है।

65. **खेल कला**—यह कला सूत्र खेल, नासिका खेल एवं धर्म खेल आदि बहुविध खेलों को सिखलाती है।

66. **छेद्य कला**—यह कला पत्रच्छेद कटकच्छेद आदि का ज्ञान कराती है।

67. **सजीव-निर्जीव कला**—यह विधा मृत एवं मृतप्राय: मर्त्यों को जीवित करने की तथा यंत्र पौरस्त्य द्वारा काल ग्रसित करने की अनेक प्रणालियों का ज्ञान कराती है।

68. **शकुनरुत कला**—यह पक्षियों की कलरव-ध्वनि आवाज को सुन शुभाशुभ शकुन, संकेतों को समझाने का ज्ञान देने वाली कला है।

69. **हरित कला**—हाथियों को प्रशिक्षित करने के बेजोड़ तरीकों से परिचित कराने वाली यह श्रेष्ठ कला है।

70. **धनुर्वेद कला**—शब्द एवं लक्ष्य भेद की अचूक शिक्षा प्रदान करने वाली यह उत्तम कला है।

71. **हिरण्य, सुवर्ण, मणि, पाक कला**—यह धातुवाद का बोध कराने वाली कला है।

72. **आजि कला**—यह बाहु युद्ध, दण्ड युद्ध, मुष्टि युद्ध, दृष्टि युद्ध एवं जल और युद्धातियुद्ध का ज्ञान कराने वाली कला है।

भारतीय संस्कृति में कलाओं की खुशबू आज भी अपनी प्राचीन परंपरा से समृद्ध है। सत्य, अहिंसा, करुणा, समन्वय और सर्वधर्म समभाव से भारतीय संस्कृति के ऐसे तत्त्व हैं, जिन्होंने अनेक बाधाओं के बीच भी हमारी संस्कृति की निरंतरता को अक्षुण्ण बनाए रखा है। इन्हीं कलाओं ने भारतीय या आर्य संस्कृति के सकारात्मक पक्षों को चित्रित किया है। आर्यों के द्वारा इन कलाओं का और कलाविदों का सदा ही सम्मान किया जाता है। कला के माध्यम से देश की संस्कृति दूर-दूर तक विख्यात हुई अन्य देशों ने भी इन्हें अपनाया। कला देश की उन्नति व समृद्धि का मुख्य कारण भी है।

श्रेष्ठ परिवार

अणुजा पडि वच्छल्लं, अग्गजा पडि आयरो।
पालंते कुल-मज्जादा, कुडुंबं एरिसं वरं॥39॥

अर्थ–छोटों से प्रेम व बड़ों के लिये आदर व जहाँ मर्यादा का पालन होता है ऐसा परिवार श्रेष्ठ परिवार कहलाता है।

Where love for little ones, respect for elders and dignity of family is followed, it is the best family.

भावार्थ–समाज का निर्माण परिवारों से होता है। जन्म के समय मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में नहीं रहता किन्तु संपर्क और संगति से उसका मानवता की ओर विकास होता है। मानव को संस्कारित बनाने में परिवार की सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रथम तीन कालों में क्रमशः उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमियाँ थीं जिनमें मात्र आर्य-आर्या अपना व्यक्तिगत जीवन जीते थे। जीवन के अंत में उनसे (आर्य-आर्या) युगल संतानों का जन्म होता था। आर्य-आर्या में एक को छींक व दूसरे को जम्हाई बस इसी के साथ आयु का अवसान हो जाता था। पुनः वे युगल संतानें अर्थात् आर्य-आर्या वृद्धि को प्राप्त होते, संपूर्ण जीवन काल में भोगों को भोगते। तब मात्र आर्य-आर्या थे। परिवार का उल्लेख अंतिम कुलकर नाभिराय के समय से मिलता है।

आदिपुराण में वर्णित है कि 14वें कुलकर राजा नाभिराय ने अपने पुत्र श्री ऋषभदेव से समझाते हुए कहा कि ''आप इस संसार में किसी इष्ट कन्या के साथ विवाह करने के लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करने से प्रजा की सन्तति का उच्छेद नहीं होगा।'' पुनः भगवान् की अनुमति जानकर महाराज नाभिराज ने इंद्र की अनुमति से कच्छ-महाकच्छ की बहनें यशस्वती और सुनंदा के साथ उनका विवाह कर दिया। यशस्वती के भरतादि 99 पुत्र व ब्राह्मी पुत्री हुई तथा नंदा के बाहुबली व सुंदरी दो संतानें थीं। यहीं से पारिवारिक जीवन का इस युग में आरंभ हुआ।

परिवार का कार्य व पारिवारिक सदस्यों का संबंध एक-दूसरे के भावनात्मक आधार पर चलता है। इन्हीं भावनाओं के द्वारा माँ–पिता, पति-पत्नी, बहन-भाई आदि एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं, हित में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ ग्रंथकार पिता, माँ, पुत्र, पुत्री आदि से सहित परिवार जो अपनी मर्यादा का पालन करता हो पारस्परिक प्रेम व आदर की भावना हो उसे श्रेष्ठ परिवार कहते हैं। परिवार वह है जहाँ सभी सदस्य मिलकर धार्मिक व सामाजिक कार्यों में भाग लेते हैं, पारस्परिक हित की भावना हो। परिवार या कुटुंब ही समाज का आधार होता है अतः पारिवारिक जीवन संपूर्ण समाज को प्रभावित करता है।

सर्वप्रथम श्रेष्ठ परिवार का लक्षण देते हुए ग्रंथकार लिखते हैं कि श्रेष्ठ परिवार वह है जहाँ छोटों से प्रेम व बड़ों के लिए आदर हो। जिस प्रकार मात्र किसी भी मात्रा में मसाले आदि डालकर

तैयार की गयी सब्जी प्रशंसनीय नहीं होती, कभी खाने योग्य नहीं होती उसी प्रकार कर्त्तव्य पालन, प्रेम, आदर-सम्मान के बिना साथ रहने वाले सदस्यों का समूह श्रेष्ठ परिवार में परिगणित नहीं होता। परिवार वही है जहाँ सभी सदस्य अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों के प्रति जागरुक रहें, जहाँ एक-दूसरे के प्रति त्याग की भावना हो, जहाँ एक-दूसरे के प्रति प्रेम व सौहार्दता हो। पारस्परिक आदर व प्रेम से ही परिवार विकसित होता है, प्रगति करता है अन्यथा महापुराण में लिखा है यदि कुटुम्बियों में विरोध हुआ तो वह नष्ट हो जाता है।

छोटों को बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिये और बड़े छोटों को वात्सल्य की धारा से अभिषिक्त करें। छोटों के द्वारा बड़ों के सम्मान की परंपरा प्रारंभ से ही रही है। छोटे बड़ों के प्रति अपशब्दों का प्रयोग न करें, वहीं बड़े छोटों को प्रेम व स्नेह दें।

परस्पर प्रेम, आदर, सम्मान का यह संबंध परिवार को एक सूत्र में बांधे रखता है। किसी ने कहा है–

जा घर प्रेम न संचरे, ता घर जान मशान।
जैसे खाल लुहार की, श्वास लेत बिन प्राण॥

अर्थात् जिस घर में प्रेम नहीं वह श्मशान के समान समझना चाहिए। उस घर और श्मशान में कोई अंतर नहीं। परिवार में प्रेम का संचरण होना चाहिए, एक दूसरे के प्रति आदर-सम्मान की भावना होनी चाहिए तभी वह परिवार श्रेष्ठ परिवार कहलाता है। तिरुक्कुरल काव्य में लिखा है कि **''अपने रिश्तेदारों को एकत्रित कर उन्हें अपने स्नेह के बंधन में बांधना ही ऐश्वर्य का लाभ व उद्देश्य है।''** जीवन में परस्पर समरसता, आत्मीयता व मधुरता प्रस्फुटित होना चाहिए। एक-दूसरे के प्रति आदर-सम्मान की भावना बनी रहनी चाहिए। पुराणों को पढ़ने से ज्ञात होता है छोटे अपने बड़ों से पलटकर कुछ नहीं कहते थे। सभी एक-दूसरे की मर्यादा का ध्यान रखते थे। श्रेष्ठ परिवारों की श्रेणी में रहने के लिए परिवार के सदस्यों का मर्यादा पालन भी आवश्यक है।

यदि छोटे को बड़ों की कोई बात ठीक प्रतीत नहीं होती तो उस समय सभी की गरिमा को बनाये रखने के लिए प्रत्युत्तर न दे और बाद में विनम्रता के साथ अपनी बात को कहे। बड़ों को भी चाहिए की छोटों का अपमान न करें। वात्सल्य में वह शक्ति है जो तूफान का रुख भी बदल सकती है। जीवन में सहनशीलता को स्थान दें। जिस प्रकार हाथ में पहनीं दो या दो से अधिक चूड़ियाँ ध्वनि उत्पन्न करती ही हैं उसी प्रकार परिवार में रहने वाले सदस्यों की कभी कुछ खटपट संभव है किंतु सहनशीलता से उसे वहीं सुलझाया जा सकता है। विश्वास, बहुमान, आदर, प्रेम व मर्यादा पालन श्रेष्ठ परिवार का आधार है।

आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने परिवार को एक वृहद व्यवस्था के रूप में कुल के अर्थ में लिया है। उन्होंने लिखा है कि कुल की मर्यादा की सुरक्षा का दायित्व उसके सदस्यों पर है और

यदि इस मर्यादा में किसी प्रकार का व्यवधान हुआ अथवा आचार की रक्षा नहीं हुई तो समस्त क्रियाएँ विनाश को प्राप्त होती हैं। श्रेष्ठ परिवार वही है जहाँ अपने कुल की गरिमा के अनुरूप आचरण रखा जाता है। जहाँ आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन में बहुत अधिक ध्यान रखा जाता है। तिरुक्कुरल में लिखा है कि अपने पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा, देवपूजन, अतिथि सत्कार, माता-पिता की सेवा और आत्मोन्नति गृहस्थ के यह पंचकर्म हैं।[1] निष्कपट व्यवहार, चेहरे पर मुस्कान और अंदर से उदारता तथा आचार-विचार की शुद्धि यही उत्तम कुल की पहचान है। कुरल काव्य में कहा गया है कि ''भूमि की विशेषता का पता उसमें उगने वाले पौधे से लगता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य के व्यवहार से उसके कुल का संकेत मिलता है।''

इस प्रकार परिवार मर्यादित हो। आचार विचार, व्यवहार में मर्यादा, खाना, पीना, रहन-सहन, वेशभूषा आदि में मर्यादा। मर्यादा वह लक्ष्मण रेखा है जिसके अंदर व्यक्ति सुरक्षित है किंतु उसे लांघते ही व्यक्ति को दुख का सामना करना पड़ता है। बड़े छोटों की मर्यादा रखें उनके सामने अपशब्दों का प्रयोग न करें, बुरा व्यवहार न करें। कोई ऐसा कार्य न करें जो छोटों से ना चाहते हों। छोटे भी बड़ों की मर्यादा रखें। ये ही इस प्रणाली का मनुष्य रहस्य था। पलटकर अपने से बड़ों को जवाब न दें। विनम्रता का भाव रखें। जिन परिवारों में मर्यादा का पालन होता है। पारस्परिक आदर व प्रेम होता है वे श्रेष्ठ परिवार कहलाते हैं।

---

1. **गृहीणां पंचकर्माणि, स्वोन्नतिर्देवपूजनम्।**
   बंधु साहाय्यमातिथ्यं, पूर्वेषां कीर्ति रक्षणम्॥ –कु. प. द्वे –5

उन्नति शील कुटुम्ब

अणुआसो य पेम्मस्स, विणओ होज्ज जत्थ वि।
लीणा जणा सकत्तव्वे, तं कुडुंबं हु वड्ढदे।।40।।

अर्थ–जहाँ प्रेम विद्यमान है, जहाँ योग्य विनय है, जहाँ सभी अपने-अपने कर्त्तव्यों में तत्पर हैं निश्चय से वह कुटुंब उन्नति करता है।

Where love spreads, modesty exists and people are indulged in their own duties, that family surely developes.

भावार्थ–जिस प्रकार समीचीन पहियों के माध्यम से रथ आगे बढ़ता है उसी प्रकार प्रेम, विनय, कर्त्तव्यों रूपी चक्रों के माध्यम से परिवार रूपी रथ आगे गति करता है। सोपानों पर चढ़कर ही छत पर पहुँचा जा सकता है वैसे ही प्रेम, विनयादि सोपानों पर बढ़कर ही परिवार उन्नति करता है। जिस कुटुंब में प्रेम विद्यमान है वही उन्नति कर सकता है। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को जोड़ने के लिए जिस प्रकार स्निग्ध वस्तु की आवश्यकता होती है उसी प्रकार एक व्यक्ति को वात्सल्य ही दूसरे व्यक्ति से जोड़ता है। परिवार के सदस्य प्रेम रूपी स्निग्धता से आपस में बंधे रहते हैं परिवार को बांधे रखने के लिए प्रेम अति आवश्यक है। कहा भी है पारस्परिक प्रेम परिवार का मुख्य आधार है।

दूसरी बात ग्रंथकार यहाँ कह रहे हैं–**'विनम्रता'** यदि पारिवारिक सदस्य विनम्र होंगे तो टकराव नहीं होगा। जहाँ टकराव होता है वहीं अग्नि उत्पन्न होती है। किसी समय एक युवक एक गाँव से दूसरे गाँव की ओर जा रहा था। मार्ग में एक जंगल पड़ा। उस जंगल से जब वह गुजर रहा था तब उसे डर लगा। दूर-दूर तक बड़े-बड़े वृक्षों के अतिरिक्त कुछ नहीं था। उसे ऐसे लग रहा था कि कोई उसका पीछा कर रहा है। वह बार-बार पीछे मुड़कर देख रहा था किंतु उसे कोई नजर नहीं आ रहा था। वह जल्दी-जल्दी अपने कदम बढ़ाता है। अचानक से तेज-तेज हवा चलती है वह और जल्दी चलता है। वन को वह लगभग पार कर ही चुका था। वह वन बाँस के वृक्षों से परिपूरित था हवा से वे वृक्ष आपस में टकराये उस घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई और देखते ही देखते वन में आग लग गयी।

युवक भगवान् को धन्यवाद देता है कि इस अग्नि से तुमने मुझे बचा लिया। वह रात्रि में विश्राम कर सुबह-सुबह एक गाँव में पहुँचता है। बहुत ही मधुर ध्वनि उसके कर्णगोचर हो रही थी। वह चारों ओर देखता है कि यह मधुर संगीत आखिर कहाँ से उत्पन्न हो रहा है। कुछ समय पश्चात् दधिमंथन करती हुई ग्वालिनों पर उसकी दृष्टि जाती है। वह देखता है इस मधुर संगीत की उत्पत्ति यहीं से हो रही है। वह कुछ क्षण रुकता है उन ग्वालिनों को ध्यान से देखता है वे मथानी की एक रस्सी खींचती तो दूसरी छोटी हो जाती और दूसरी को खींचती तो पहली लंबी हो जाती।

रास्ते में घटी दोनों घटनाओं के विषय में वह गहराई से चिंतन कर निष्कर्ष निकालता है कि जहाँ पारस्परिक घर्षण हो, टकराव हो वहाँ बैर, क्रोध, विनाश की अग्नि उत्पन्न होती है और जहाँ पारस्परिक समझ हो, समझौता हो, विनम्रता हो, जहाँ एक को क्रोध आए वहाँ दूसरा जल बन जाए तो प्रेम का, स्नेह का, एकता का मधुर संगीत उत्पन्न होता है। अहंकार टकराव का कारण है और विनम्रता समझौते का। विनम्रता से व्यक्ति को गुणों की प्राप्ति होती है। विनीत मनुष्य की निर्मल कीर्ति मनुष्यों को सुखी करने वाली सेवनीय चन्द्रकान्ति के समान पृथ्वी तल में परिभ्रमण करती है।[1]

पुनः कहा कि सभी अपने कर्त्तव्यों में तत्पर हों। जीवन में कर्त्तव्यों का महत्व उसी प्रकार है जैसे शरीर के लिए भोजन। शरीर को जब संतुलित आहार मिलता है तब वह पूर्ण स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार व्यक्ति की गरिमा बनाए रखने के लिए कर्त्तव्य पालन या जिम्मेदारियों का निर्वहन अति आवश्यक है। कर्त्तव्य के प्रति सचेत रहने वालों को अधिकार स्वयं ही हस्तगत होते हैं। कर्त्तव्य बोध के अभाव में बड़े व्यक्तियों की बात का प्रभाव छोटों पर नहीं पड़ता। अधिकार की अनावश्यक लालसा अपने को अपनों से दूर करती है। कर्त्तव्य में प्रगति, समृद्धि, व्यक्तित्व निर्माणादि की संभावनाएँ छिपी होती हैं किंतु कर्त्तव्य का पालन इन सभी को अनावरणित कर उन्नति में सहायक होता है। परिवार में बड़े से लेकर छोटों तक सभी के अपने-अपने कर्त्तव्य हैं, जहाँ सभी निष्ठा से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं वह परिवार निश्चय ही उन्नति करता है। कर्त्तव्य की चोरी किसी भी परिवार, समाज, देश या राष्ट्र की अवनति का कारण है, उसकी प्रगति में बाधक है। अतः सभी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें उसका सुपरिणाम स्वतः ही सबके समक्ष प्रस्तुत हो जाएगा अर्थात् कर्त्तव्य पालन से हुई उपलब्धि को आप स्वयं देख सकेंगे, परिवार में सुख-शांति का वातावरण स्वयं ही बन जायेगा।

---

1. **विनीत स्थामलाकीर्तिर्बम्भ्रमीति महीतलम्।**
   सुखयन्ती जनं सेव्या कान्तिः शीतरुचेरिव॥

परिवार विनाश के लक्षण

सया कज्जेसु-आलस्सो, विस्सासो णो जहिं कुले।
परप्परे विरोहो हु, मज्जादा वि ण विज्जदे।।41।।
आयार-धम्मकज्जादो, हीणं अण्ण-गुणाउ य।
दया-णेह-विहीणं जं, तं कुडुंबं विणस्सदि।।42।।

अर्थ–जहाँ परस्पर में विरोध हो, मर्यादा भी विद्यमान नहीं है, धर्म-कार्य सदाचार आदि गुणों में हीनता है। जिस कुल में विश्वास नहीं है, सदा कार्यों में आलस रहता है जो दया और प्रेम से विहीन है वह कुटुंब विनष्ट हो जाता है।

Where there is no belief, laziness in task, mutual opposition and dignity doesn't exist and in family which is devoid of character, religious work, kindness, affection and other virtues, get destroyed.

भावार्थ–किसी भी वस्तु को ग्रहण करने के पूर्व उसकी हेयोपादेयता का ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के अभाव में संभव है हेय वस्तु को इकट्ठी करते चले जायें और उपादेय वस्तु को छोड़ते चले जायें। पूर्व गाथाओं में ग्रंथकार ने उल्लिखित किया कि किस प्रकार परिवार की उन्नति और प्रगति हो सकती है अत: वे उपादेय हैं और किस कारण परिवार का नाश हो सकता है उन कारणों को यहाँ कहा है। कुटुंब विनाश के ये कारण सदैव हेय हैं। परिवार की प्रगति समाज व देश की उन्नति में कारण है और इसका विनाश समाजादि के विनाश का कारण भी है।

सर्वप्रथम है–परस्पर विरोध। जिस प्रकार दो पत्थरादि के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि सब कुछ जलाकर नष्ट कर देती है उसी प्रकार परस्पर विरोध से उत्पन्न हुई क्रोध, क्लेश, कलह की अग्नि रिश्तों को जलाकर राख कर देती है। विरोध वह सर्वभक्षी अग्नि है जो पारस्परिक प्रेम, स्नेहादि सब कुछ जलाकर नष्ट कर देती है अत: एक दूसरे के विरोधी न बनें। परिवार के लोग सदैव व्यक्ति का साथ दे सकते हैं, यदि उनसे ही विरोध कर लिया तो बाहर वाला कोई साथ नहीं देगा। परस्पर विरोध में हानि स्वयं की ही होती है। दो सदस्यों के झगड़े में हार चाहे किसी की भी हो किंतु हानि तो उस परिवार की ही है। महापुराण में लिखा है कि यदि कुटुंबियों में विरोध हुआ तो वह नष्ट हो जाता है।

एक समय कुछ वृक्षों का परिवार एक स्थान पर रहा करता था। एक दिन वृक्षों के बीच में कुछ विरोध हुआ। वृद्ध वृक्ष उनके विरोध को देखकर अत्यंत दुखी हुआ। उसने बुहत समझाने का प्रयास भी किया किंतु युवा वृक्ष, वृद्ध वृक्ष की बात को सुनने को तैयार ही नहीं थे। धीरे-धीरे यह विरोध बढ़ता गया। वृद्ध वृक्ष ने समझाया देखो परस्पर की लड़ाई में अपने कुटुंब का ही नाश होता है। तभी एक युवा वृक्ष सामने आया और कहा मैं देखता हूँ ये सभी वृक्ष भाई किस प्रकार जीवित

रहेंगे। वह वृक्ष जाकर लकड़हारे से मिल जाता है लकड़हारा उससे प्राप्त लकड़ी से कुल्हाड़ी तैयार करता है और कुछ ही दिनों में वह लकड़हारा वृक्ष परिवार को नष्ट कर देता है। अंत में बचा एक युवा वृक्ष, वृद्ध वृक्ष से क्षमा माँगता हुआ कहता है कि जैसा आपने कहा था हमने मान लिया होता तो हमारी यह हालत बिल्कुल नहीं होती, हमारा कुटुंब नष्ट नहीं होता। कल वह लकड़हारा हमें भी नष्ट कर देगा। वृद्ध वृक्ष ने कहा जब अपना ही शत्रु बन जाये तो रक्षा किस प्रकार हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती। अतः परिवार की अखंडता व प्रगति के लिए परस्पर विरोध एक कुल्हाड़ी के समान है। परिवार की सुरक्षा व उन्नति के लिए यह त्याज्य है।

पुनः ग्रंथकार ने कहा जिस परिवार में मर्यादा का पालन नहीं होता, धर्म कार्य नहीं होते, सदाचार, सेवा आदि से हीन है वह परिवार विनाश को प्राप्त होता है। मर्यादा में रहने वाली प्रत्येक वस्तु स्वयं की भी उन्नति में सहायक है और दूसरों को भी खुशी देने वाली होती है। जैसे दोनों तटों के बीच बहती हुई सरिता स्वयं भी गंतव्य तक पहुँच जाती है और मार्ग में सभी को हरियाली और खुशहाली बाँटती है। पति, पत्नी, बेटा, बेटी, पुत्रवधू आदि सभी अपनी मर्यादा का पालन करें। जिसे अपने कुल की मर्यादा का ज्ञान नहीं वह अपने दुराचारों से कुल को दूषित कर सकता है अतः कुल मर्यादा का पालन आवश्यक है।

महापुराण के अनुसार कुलाचार का योग्य रीति से पालन करते हुए पुत्र-पौत्रादि संतति में एकरूपता का बना रहना कुलशुद्धि है। कुल के आचार की रक्षा करनी चाहिए। कुल के आचार की रक्षा न होने पर पुरुष की समस्त सद्क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। परिवार की सर्वव्यापकता का कारण कुलाचार है। परिवार के सभी सदस्य धार्मिक क्रियाओं में संलग्न रहें। पूजा, दान आदि गृहस्थों के लिए कहा गया है। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने रयणसार में गृहस्थों के लिए पूजा व दान ये दो कर्तव्य कहे। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने दान,पूजा, शील व उपवास ये 4 आवश्यक कर्त्तव्य गृहस्थों के लिए कहे। आचार्य श्री पद्मनंदी स्वामी ने देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों के छः करने योग्य आवश्यक कार्य कहे।

परिवार के सदस्य सदाचारी हों। कौटुंबिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने एवं समाज को अनाचार या दुराचार से बचाने के लिए कुलाचार का पालन आवश्यक है। सदाचार अर्थात् अच्छा आचरण। परिवार के सदस्य आचरणवान् हों। आचरण से ही कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त होती है। आचरण, चारित्र ही सबसे बड़ा धन है। शील से रक्षित मनुष्य किसी के द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत नहीं होता क्योंकि महाह्रद में निमग्न पुरुष का दावानल क्या करता है?[1] चारित्र, सदाचरण समस्त

---

1. **शीलेन रक्षितो जीवो, न केनाऽप्यभिभूयते।**
   महाह्रदनिमग्नस्य, किं करोति दवानलः॥

गुणसमूह का मस्तकमणि है व समस्त सुखों का अद्वितीय कारण है। जिस परिवार में सदाचार नहीं, सेवादि गुण नहीं वह निश्चित ही विनाश को प्राप्त होता है। बच्चों को माता-पिता, दादा-दादी आदि की सेवा करनी चाहिए। सेवा से बड़ों का स्नेह प्राप्त होता है, पारस्परिक प्रेम वृद्धिंगत होता है। सेवा मात्र तेलमर्दनादि नहीं है अपितु सेवा से आशय मान-सम्मान से भी है, उनके अनुकूल आचरण से भी है।

जिस परिवार में विश्वास नहीं वह परिवार उसी प्रकार स्थित नहीं रह सकता जिस प्रकार बिना नींव के भवन नहीं ठहर सकता। विश्वास परिवार की नींव है। एक-दूसरे के विश्वास पर ही परिवार के सभी सदस्य मिल-जुलकर रहते हैं, एक साथ रहते हैं। आधार के नहीं होने पर आधेय भी नहीं ठहरता। विश्वास के नहीं होने पर परिवार भी विनष्ट हो जाता है। शंका के चूहे परिवार रूपी वृक्ष की जड़े खोखली कर देते हैं। जहाँ सदा कार्यों में आलस रहता है, **''शुभस्य शीघ्रं''** की सूक्ति चरितार्थ नहीं करता वहाँ सफलता कभी प्रवेश नहीं करती। आलस्य व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। जिसके कारण व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। आचार्यों ने प्रमाद को पाप भी कहा है। अतः यह सदैव त्याज्य है।

प्रेम व स्नेह परिवार को एकसूत्रता प्रदान करता है। किंतु प्रेम, स्नेह से रहित परिवार सम्यक्, श्रेष्ठ परिवार नहीं कहलाता। इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ बताया कि जिस परिवार में विरोध हो, मर्यादा विद्यमान न हो, धर्म कार्य, सदाचार, सेवादि गुणों से रहित हो, परस्पर में विश्वास न हो, सदैव एक-दूसरे के प्रति शंकित रहते हों, जहाँ प्रेम, स्नेह, वात्सल्य की स्निग्धता न हो, जहाँ सदैव कार्यों में आलस्य रहता हो, उद्यमशीलता न हो वह परिवार निश्चित ही नष्ट हो जाता है।

गुणी माँ

ममदा-करुणा-मुत्ती-सा सया मग्गदंसिणी।
संताणस्स सुमित्तं वं गुणी मादू हिदंकरा॥43॥

अर्थ–जो ममता, करुणा की मूर्ति, हितैषी, मार्गदर्शिका, संतान के लिये अच्छे मित्र के समान है वह सदा गुणी माता है।

A mother who is an idol of affection and compassion, who is benevolent, a guide for a good friend to her child, is always a virtuous mother.

भावार्थ–सभी संस्कृतियों में 'माँ' का महत्वपूर्ण स्थान है, नीतिकारों के अनुसार माँ के चरणों में स्वर्ग होता है। माँ नव मास तक शिशु को गर्भ में रखती है और उसी समय से शिशु को संस्कार देना प्रारंभ करती है। माँ ही शिशु की प्रारंभिक-प्रथम पाठशाला होती है। भारतीय संस्कृति में **''मातृदेवो भव''** जैसे सूत्र वाक्यों के द्वारा उन्हें देवता के रूप में पूजने के संस्कार रहे। कहा गया है दश उपाध्यायों (अध्यापकों) के गौरव से एक आचार्य (प्रिंसिपल) का गौरव अधिक है। सौ आचार्यों से एक पिता का और हजार पिताओं से भी अधिक एक माता का गौरव होता है।

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
पितृणं सहस्रं माता गौरवेनातिरच्यते॥

वह गौरवशाली माँ भविष्य के नागरिक का निर्माण करती है। वह माँ किन गुणों से युक्त हो उनका उल्लेख ग्रंथकार यहाँ करते हैं।

माँ ममता से परिपूरित होती है। माँ सी ममता अन्य कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। हरिवंश पुराण में वर्णन है कि जब बलदेव ने देवकी के समक्ष कृष्ण की लोकोत्तर चेष्टा का वर्णन किया तो वह उपवास के बहाने पुत्र को देखने व्रज-गोकुल गयी। देवकी वहाँ कृष्ण से मिली एवं चिरकाल तक उसे देखती रही। पुत्र स्नेह से उसके स्तन दूध से परिपूर्ण हो गए व दूध झरने लगा। इसी प्रकार प्रद्युम्न जब 16 वर्ष के पश्चात् सर्वप्रथम अपनी माँ के समक्ष आए तो माँ रुक्मणी के स्तन से दूध झरने लगा। जो वात्सल्य, स्नेह, ममत्व भाव माँ में मिलता है वह अन्य कहीं देखने में नहीं आता। कहा भी है माता का स्नेह रूपी वृक्ष कोई अद्‌भुत लोकोत्तर पदार्थ है, वह सदा जयवंत रहे जो कि बीज और मूल की रक्षा के बिना ही सदा फल देता है।[1]

श्रेणिक चरित्र में प्रकरण आता है कि एक बार राजदरबार में दो स्त्रियाँ विलाप करती पहुँची। दोनों के बीच एक झगड़ा था–वह झगड़ा था संतान का। एक स्त्री कह रही थी पुत्र मेरा है, दूसरी

---

1. **जीयाल्लोकोत्तरः कोऽपि जननीस्नेहपादपः।**
निर्बीजमूलरक्षोऽपि यः सदैव फलेग्रहिः॥ –स. श्लो. सं.

कह रही थी पुत्र मेरा है। कई प्रकार से न्याय करने का प्रयास किया किंतु यह पहचानना अत्यंत मुश्किल था कि आखिर पुत्र किसका है? दोनों की बातों से कुछ निर्णय नहीं निकल पा रहा था। अभयकुमार को न्याय करने के लिए कहा गया। विवाद बहुत जटिल था, इसे सुलझाना आसान नहीं था, तभी अभयकुमार को उपाय सूझा और बोला–ठीक है, यदि आप दोनों ही इसे अपनी असली माँ कहती हैं तो इस बालक के दो टुकड़े कर दिए जायें और दोनों को एक-एक टुकड़ा दे दिया जाये। तभी बालक की वास्तविक माँ बोली नहीं महाराज नहीं, इस बालक को इसी स्त्री को दे दो, मुझे नहीं चाहिए, ये ही इसकी असली माँ है। यह दृश्य देख अभयकुमार समझ गया ये ममता केवल एक माँ में ही हो सकती है। और उस स्त्री को उसका पुत्र दिला दिया।

माँ के जैसी ममता, स्नेह, प्रेम, निःस्वार्थ वात्सल्य, निर्मल मन अन्य कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। विधाता ने मिश्री, अमृत, मधु, मुनक्का और शक्कर आदि से सार निकालकर माता के मन की रचना की है।[2] माँ का मन अत्यंत पवित्र, शुद्ध होता है इसीलिए माँ के मुख से निकले कभी अन्यथा शब्द भी पुत्र को प्रिय ही होते हैं। माँ करुणा की मूर्ति कही जाती है। करुणा, दया, अनुकंपा का सागर माँ के हृदय में हिलोरें लेता है। अपने पुत्र को जरा भी कष्ट में देख माँ के नेत्र अश्रुपूरित हो जाते हैं, माँ की करुणा मात्र निज शिशु के लिए ही नहीं अपितु अन्य की संतानों के लिए भी होती है। माँ एक ऐसी विभूति है जो अपने पुत्रों से ही प्रेम-स्नेह नहीं करती बल्कि इसके हृदय की विशालता, करुणा, ममता दूसरों के पुत्रों को भी अपने पुत्र की दृष्टि से देखती है। एक माँ ही पुत्र के महत्व को समझती है। वह किसी भी माँ की गोद को संतानविहीन नहीं देखना चाहती। हरिवंश पुराण में लिखा है कि शत्रु की माँ द्वारा एक व्यक्ति की रक्षा की जाती है। माँ का हृदय अत्यंत कोमल होता है।

माँ हितैषी व सन्मार्गदर्शिका होती है। माँ सदैव ही अपने पुत्र के हित का विचार करती है। वह पुत्रहित में ही कार्य करती है। वह पुत्र को सद्मार्ग की प्रेरणा देती है। संस्कारों की प्रथम पाठशाला माँ ही होती है। अवगुण या पाप के घोर अंधकार से बचाने में माँ ही समर्थ है। संघर्षों का सामना करने पर भी वह अपने पुत्र का हित ही करती है। उसको सम्यक् संस्कार दे सद्मार्ग पर आरुढ़ करती है। गलत कार्यों पर समझाकर या डाँटकर पुत्र को उससे रोकती है।

कई बार पुत्र की परीक्षा भी लेती है। गाँधी जी के बचपन की बात है। भाई ने उन्हें किसी बात पर थप्पड़ मार दिया। वे रोते हुए माँ के पास शिकायत करने गये। माँ ने कहा कि तुम भी उसे मारो। मोहनदास माँ पर बिगड़कर बोले–''जो गलती करता है उसे तो रोकती नहीं, मुझे भी

---

2. **सितासुधामधुज्योतिर्मृद्वीका शर्करादितः।**
   वेधसा सारमुद्धृता जनितं जननी मनः॥ स. श्लो. सं.

उसी गलती को दोहराने की बात कहती हो।'' माँ ने कहा ''बेटा! मैं तो तेरी परीक्षा ले रही थी। यदि परिवार के सदस्यों के प्रति तेरी भावना का इसी तरह विकास होता रहा तो आगे चलकर तेरे जीवन में और भी अधिक महानता की भावना अवतरित होगी।'' इन्हीं संस्कारों के कारण गांधी जी विश्ववंदनीय हुये। माँ अपने संस्कारों से अपनी संतान को सम्मानीय पद पर विराजित करने में समर्थ होती है। वह ही संतान की सम्यक् मार्गदर्शिका है।

माँ अपने पुत्र के लिए सबसे अच्छे मित्र के समान होती है। पुत्र अपनी सारी बात माँ से कहता है। हरिवंश पुराण में माँ को सबसे बड़ा विश्वासपात्र बताया है, माँ से संतान अपनी अंतरंग की बातें भी कह देती है, अपनी पीड़ा या खुशी संतान अपनी माँ से कह देती है। माँ भी संतान की खुश में खुशी और दु:ख में दु:खी होती है। परिवार के सदस्यों को धर्म मार्ग पर चलाना, बच्चों को अच्छे संस्कार देना यह गुणी माता का ही कर्त्तव्य है।

श्रेष्ठ पिता

सक्कार-दायगो सेट्ठो, सग-संताण-पालगो।
पबंधगो सुसिक्खाए, संरक्खगो वरो पिदू।।44।।

अर्थ–जो अपनी संतान को सुसंस्कार प्रदान करने वाला, अच्छी तरह पालन करने वाला है, सुसंरक्षक व सुशिक्षा प्रबंधक है वह श्रेष्ठ पिता है।

That father is the best who gives etiquettes or culture, looks after his child, manages good education and is a preserver.

भावार्थ–मनुष्य अपने इष्ट, आराध्य, ईश्वर, प्रभु, परमात्मा को परम पिता कहते हैं यह 'परमपिता' शब्द उनकी सर्वोच्चता प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है। क्योंकि पालनकर्ता को पिता कहा जाता है अतः भगवान् को भी सबका पालनहार मान परमपिता कहा जाता है। नीतिकारों ने तो जन्मदाता, यज्ञोपवीतदाता, विद्यादाता, अन्नदाता और भयत्राता ये पाँच पिता माने हैं।[1] पिता परिवार के सर्वोच्च स्थान पर ग्राह्य हैं। पिता या प्रपिता संपूर्ण परिवार के मुखिया माने जाते हैं और सभी के द्वारा उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है। भोगभूमि के अवसान काल पर उत्पन्न हुए कुलकरों को भी पिता संज्ञा दी गयी है क्योंकि उस समय वे प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले थे। पद्मपुराण में जो कुलकरों को पिता की संज्ञा दी गई है उसमें कई निहितार्थ हैं–पारिवारिक सदस्यों के समान पालन-पोषण करना, उनकी रक्षा करना, कार्य संपादित करना, विभिन्न प्रवृत्तियों का स्थापन, शांति संतुलन बनाए रखना, संबंधों की अवहेलना करने वालों के लिए दंड व्यवस्था का निर्धारण, आजीविका, रीति-रिवाज एवं सामाजिक अर्हताओं की प्राप्ति की व्याख्या का निरुपण, समान हित प्रतिपादित करना। पिता के भी अपने परिवार के प्रति कुछ कर्त्तव्य दायित्व होते हैं।

यहाँ ग्रंथकार श्रेष्ठ पिता के विषय में लिखते हैं कि वह अपनी संतान का, परिवार का अच्छी तरह पालन करने वाला हो और पुत्रों को अच्छे संस्कार प्रदान करने वाला हो। धन अर्जन कर पिता अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो। परिवार के पालन-पोषण का दायित्व पिता पर ही होता है और अच्छे संस्कार अपनी संतानों को देना श्रेष्ठ पिता का कर्त्तव्य है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी जीवन गाथा में लिखा है कि एक बार मैंने अपने पिता जी के सुंदर पैन को छिपाकर रख लिया। मेरे पिता (पं० मोतीलाल नेहरू) ने मेरी माँ से कहा एक चिमटा तो गर्म करके लाओ। इसने चोरी की है इसको चोरी की सजा देनी चाहिये और गरम-गरम चिमटे से मुझको चिका (जला) दिया। उस दिन के बाद से आज तक मैंने कभी चोरी नहीं की।'' यह है पिता के

---

1. **जनिता चोपनेता यस्तु विद्यां प्रयच्छति।**
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः।।

संस्कारों का प्रभाव। एक बार पिता के द्वारा दिए गए सम्यक् संस्कार पुत्र के जीवन का नव निर्माण करते हैं।

पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि माँ के गर्भ के नौ माह के संस्कार और पिता के नौ वर्ष के संस्कार यदि पुत्र को प्राप्त हो जायें तो पुत्र का नब्बे वर्ष का जीवन सुधर जाता है। पिता का स्नेह, वात्सल्य संतान को प्राप्त हो किंतु अनुशासन, सदाचार, नैतिकता की शिक्षा अपनी संतानों को अवश्य दें। पुराणों में उल्लिखित है कि गलती होने पर पिता ने अपनी संतानों को दंडित भी किया है।

पिता जहाँ अपनी संतान को इतना प्रेम करता था वहीं उसको दंड का अधिकार भी प्राप्त था। यदि पुत्र परिवार में सहयोग प्रदान नहीं करता तो पिता उसको बहिष्कृत कर देता ऐसा कथन महापुराण में है और वर्णित है कि पिता बाद में अपना दायित्व पुत्र को सौंप देता था।

श्रेष्ठ पिता वही है जो अपनी संतानों के लिए सुशिक्षा का प्रबंध करता है। नीतिकारों ने कहा है कि वह माता शत्रु और पिता बैरी है जो अपनी संतान के लिए शिक्षा का प्रबंध नहीं करता।

महापुराण में कथन है पिता संतान को शिक्षित बनाने का पूरा प्रयास करते हैं जिसके लिए पुत्र एवं पुत्री में भेद नहीं किया जाता था। पिता अपनी संतान के लिए अच्छी से अच्छी शिक्षा का प्रबंध करता है। आदिपुराण में वर्णन है कि ''पाँचवें वर्ष में बालक को सर्वप्रथम अक्षरों का दर्शन कराने के लिए लिपिसंख्यान नाम की क्रिया की विधि की जाती है। इस क्रिया में भी अपने वैभव के अनुसार पूजादि की सामग्री जुटानी चाहिए और अध्ययन कराने में कुशल व्रती गृहस्थ को ही उस बालक के अध्यापक के पद पर नियुक्त करना चाहिए।'' पिता अपनी संतानों के लिए शिक्षा का सुप्रबंध करता है। श्री आदिनाथ भगवान् ने भी अपनी संतानों को प्रत्येक विद्या का ज्ञान दिया।

माता शत्रु पिता बैरी येन बालो न पाठितः।

घर का मुखिया होने के नाते वह सभी का संरक्षण करता है। दुःख रूपी धूप आते ही परिवार को वृक्ष के समान छाँव देता है और स्वयं कष्टों के ताप को सहन करता है। हरिवंश पुराण में कथन है कि पिता धार्मिक आदि कार्यों में पुत्रों एवं पुत्रियों को सम्मिलित करता था। महापुराण में वर्णित है कि गृह त्याग करते समय ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर उससे इस प्रकार कहना चाहिए कि पुत्र हमारे पीछे यह कुलक्रम तुम्हारे पालन योग्य है। मैंने जो अपने धन के तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिए कि उनमें से एक भाग तो धर्म में खर्च करना चाहिए, दूसरा भाग घर खर्च के लिए और तीसरा भाग अपने भाईयों में बाँट देना चाहिए। पुत्रों के समान पुत्रियों के लिए भी बराबर भाग देना चाहिए। हे पुत्र, तू कुल का बड़ा होकर मेरी सब संतान का पालन करना, शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मंत्र और विधि को जानने वाला है इसलिए आलस्य रहित होकर देव व गुरुओं की पूजा करता हुआ अपने कुलधर्म का पालन कर। जिस प्रकार हमारे पिता के द्वारा दिए

हुए धन से मैंने यश व धर्म का अर्जन किया है उसी प्रकार तुम यश व धर्म का अर्जन करो।''[1]

इस प्रकार परिवार का अनुशासक और कर्त्तव्यों से गंभीर पिता होता है। ग्रंथकार ने यहाँ सुसंस्कारों को प्रदान करने वाले, परिवार का संरक्षण व पालन-पोषण करने वाले तथा शिक्षा के सुप्रबंधक को श्रेष्ठ पिता कहा है।

---

1. **कुलक्रमस्त्वया तात संपाल्योऽस्मत्परोक्षतः। त्रिधा कृतं च नो द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोज्यताम्॥152/38॥**
एकोऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये। तृतीयः संविभागाय भवेत्त्वत्सहजन्मनाम्॥153॥
पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः। त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्ततिं नोऽनुपालय॥154॥
श्रुतवृत्त क्रिया मन्त्र विधिज्ञस्त्वमतन्द्रितः। प्रपालय कुलाम्नायं गुरुं देवांश्च पूजनम्॥155॥
यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितम्। यशो धर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपार्जय॥140/38॥

सुपुत्र कर्त्तव्य

भत्तं च पिदु-मादूणं, सूरं धीरं तहा गुणिं।
कुलदीवं सुपुत्तं हु, धम्मं जसं च अज्जदु॥45॥

अर्थ–माता-पिता के भक्त, शूरवीर, धीर, गुणी, कुलदीपक सुपुत्र को धर्म व यश का अर्जन करना चाहिए।

A son who is a devotee of his parents, brave, patient, virtuous and successor of family should earn religion and fame.

भावार्थ–पुत्र के द्वारा ही कुल परिवार की परंपरा आगे बढ़ती है। पुत्र को शिक्षा व अन्य विधाओं के द्वारा माता-पिता पूर्ण योग्य बनाते हैं। नीतिकारों ने कहा है कि रात्रि का दीपक चंद्रमा है, प्रभात का दीपक सूर्य है, तीनों लोकों का दीपक धर्म है और कुल का दीपक पुत्र है।[1] यहाँ ग्रंथकार आदर्श पुत्र के गुण व कर्त्तव्यों का निर्देश देते हैं।

पुत्र माता-पिता का भक्त हो अर्थात् उनकी सेवा करने वाला और आज्ञा का पालन करने वाला हो। नीतिकारों ने लिखा है जिसके सिर पर माता-पिता का वरदहस्त रहता है उसका भाग्य और सम्पदा दिनोंदिन ऊपर चढ़ते जाते हैं क्योंकि माता-पिता के आशीषों में देवत्व की भावना जुड़ी होती है। अतः भूलकर भी माता-पिता की उपेक्षा न हो। उनकी आज्ञा का सदैव पालन करना चाहिए। कहा है–कुएँ में पड़ना श्रेष्ठ है, अग्नि की ज्वालाओं में प्रवेश करना श्रेष्ठ है और विष भक्षण करना श्रेष्ठ है परंतु पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना श्रेष्ठ नहीं है।[2] महापुराण में लिखित है कि माता-पिता द्वारा सौंपे गए सभी कार्य पुत्र को आज्ञा पालन के अंतर्गत करना चाहिए, जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा उल्लंघन करता है तो वह पशु योनि में जन्म लेता है।

एक विचारक ने लिखा है कि पिता घर के मस्तक हैं और माँ घर की हृदय। यदि शरीर में हृदय की उपेक्षा की जाये तो जीवन समाप्त हो जाता है। घर में यदि माँ की उपेक्षा की जाए तो घर की प्रसन्नता, जीवंतता खत्म हो जाती है। शरीर में मस्तक की उपेक्षा की जाए तो जीवन बिखर जाता है। घर में यदि पिता की उपेक्षा की जाए तो घर अस्त-व्यस्त हो जाता है। माता-पिता के अनंत उपकार संतानों के ऊपर हैं, जिन्हें कभी चुकाया नहीं जा सकता। वह पुत्र नहीं कुपुत्र है जो माता-पिता का सम्मान करना नहीं जानता।

---

1. **शर्वरीदीपकश्चंद्रः प्रभाते दीपको रविः।**
   त्रैलोक्ये दीपको धर्मः सुपुत्रः कुलदीपकः॥ –स. श्लो. सं.
2. **कूपादिपतनं श्रेष्ठमग्निज्वाला प्रवेशनम्।**
   विषादिभक्षणं नापि पितृशासनलंघनम्॥ –स. श्लो. सं.

एक समय एक डॉक्टर बेटा, पिता के पास आया और बोला–पापा! बहुत हो गया अब दो दिन के अंदर घर छोड़कर चले जाना। पिता अचानक से बेटे की यह बात सुनकर सहम उठा। बोला बेटा इसका क्या कारण है? बेटा बोला मैंने जितना कहा बस उतना ही सुन लो। पिता ने पूछा बेटा मैं कहाँ जाऊँ? बेटा तुरंत बोला ''ये मुझे क्या पता ये तो आपको देखना है।'' पिता का गला भर आया बोले बेटा बचपन में तेरी माँ तुझे छोड़कर चली गई। मैंने तुझे पाला मैं अब बहत्तर वर्ष का हो चुका हूँ आखिर कहाँ जाऊँ? बेटे ने रूक्षतापूर्वक कहा–''आपके पास मात्र दो दिन हैं, अपना स्थान ढूंढ लो। मैं और मेरी पत्नी दोनों डॉक्टर हैं, हमें भी बहुत काम है, आपके कारण हम फँसे रह जाते हैं। ज्यादा होगा तो महिने में हजार रु. तुम्हारे पास भेज देंगे, उससे अपना खर्चा चला लेना।'' यह कह बेटा तो चला गया लेकिन पिता को रातभर नींद नहीं आयी, फूट-फूटकर रोने लगे।

सुबह होते ही पिता अपने घर से निकलकर अपने पुराने मित्र के पास पहुँचे जिससे आज तक अपने जीवन के सुख-दु:ख बाँटे। और जैसे कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था वैसे पुत्र के शब्द अपने मित्र को दु:खी हृदय व रोती आँखों से कह सुनाये। मित्र ने पूछा ''क्या सच में बेटे ने ऐसे कहा है।'' ''हाँ।'' ''क्यों''? पता नहीं। मित्र ने कहा ''अभी तुम यहाँ निश्चिंत हो भोजन करो फिर हम दोनों साथ में तुम्हारे घर चलेंगे।'' ''मेरे घर, किंतु वहाँ तुम क्या करोगे?'' मित्र बोला ''जो हो देख लेना, मैं तुम्हारे पुत्र से बात करूँगा।''

कुछ घंटों के बाद दोनों घर पहुँचे। मित्र ने बेटे से पूछा क्या अपने पिता को घर से निकल जाने का आदेश तूने ही दिया है? पुत्र बोला–हाँ। मित्र ने कारण पूछा तो बेटा बोला कि हमारे बीच में दखलंदाजी करने की आपको कोई आवश्यकता नहीं। बेटे का जवाब सुन मित्र ने एक कागज निकाला और पुत्र को दिया और बोला लो पढ़ो इसे। बेटे ने उस कागज को पढ़ा तो स्तब्ध रह गया और पिता के चरणों में झुक गया बोला मुझे क्षमा करो पापा। मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गई, अपनी पत्नी की बातों में आकर मैंने ऐसा कह दिया। मुझे जो सजा देनी हो दे दो और बेटा जोर-जोर से रोने लगा।

वह कागज सामान्य नहीं बल्कि अस्पताल का सर्टिफिकेट था। उसमें लिखा था कि उसके पिता ने स्वयं अपनी इच्छा से अपनी किडनी निकालने की सम्मति दी है। बेटे को पहली बार पता चला कि उसके पिता एक किडनी पर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पूछा क्यों? तो मित्र ने बताया बेटा तुम्हारी पढ़ाई चल रही थी और तुम्हारे पिता की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। तुझे डॉक्टरी करनी थी। तेरे पापा भी तुझे डॉक्टर बना देखना चाहते थे। उन्होंने बहुत सोचा और एक यही विकल्प उनके पास था। उस समय भी इन्होंने मुझसे सलाह ली थी। मैंने तो बहुत मना भी किया था किंतु तेरी खुशी के लिए वे यह निर्णय ले चुके थे, तू डॉक्टर तो बन गया किंतु धिक्कार है तुझे कि

जिस पिता ने तुझे माँ व पिता दोनों बनकर पाला सिर्फ पत्नी के कहने पर तूने पिता से ऐसे शब्द कहे।

माता-पिता अपनी संतानों के लिए अपनी खुशियों का त्याग कर देते हैं, मात्र बच्चों का भविष्य देखते हैं वे ही बच्चे बड़े होकर माता-पिता के भविष्य को बिगाड़ देते हैं, उनका त्याग कर देते हैं। ऐसी कुसंतानों को समाज में कोई सम्मानीय स्थान नहीं है। यशस्तिलक चंपू में माता-पिता की आज्ञा पालन नहीं करने वाले को दुष्ट पुत्र कहा है।

पद्मपुराण में कथन है कि संसार में वह मनुष्य बड़ा पुण्यात्मा है जो माता की विनय में तत्पर रहता है तथा किंकर भाव प्राप्त हो उनकी सेवा करता है। कहा है माता-पिता के समान मनुष्य के लिए कोई दूसरा तीर्थ नहीं है। क्योंकि माता-पिता से ही मुक्ति-सुख तक देने वाला मानव शरीर प्राप्त होता है।[3] बोधि सत्व में माता-पिता के प्रति यही भाव उपलब्ध होता है। इसके अंतर्गत माता-पिता को ब्रह्म कहा है। कई स्थानों पर ''मातृ देवो भवः'' ''पितृ देवो भवः'' माता-पिता को श्रेष्ठ देवता कहा गया है। पुत्र माता-पिता का पालन व रक्षण करता है, इसी कारण मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने इसके विपरीत होने पर दंड व्यवस्था भी की है।

माता-पिता का भक्त वह बेटा शूरवीर, धीर, गुणी व कुलदीपक होना चाहिए। जिस प्रकार आकाश में प्रकाश हेतु एक सूर्य पर्याप्त है, वन को सुगंधित करने हेतु एक चंदन वृक्ष पर्याप्त है, रात्रि में धवल चांदनी बिखरने को चाँद ही पर्याप्त है उसी प्रकार कुल को उज्ज्वल करने वाला, पारस्परिक प्रेम, सौहार्द, कृतज्ञता, सम्मान, विनम्रता, धीरता आदि गुणों से नियंत्रण में रहने वाला एक ही पुत्र पर्याप्त है। कलाओं में कुशलता, शूरवीरता, दान, बुद्धि, क्षमा, दया, धैर्य सत्य और शौच एक श्रेष्ठ पुत्र के स्वाभाविक गुण हैं। बेटा कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाला हो कुल में श्रेष्ठ अर्थात् कुलदीपक हो।

वर्तमान दीपक पात्र को संतप्त करता है, कज्जलरूप मल को उत्पन्न करता है, स्नेह-तैल के बिना नहीं जला, गुण-बत्ती को क्षीण करता रहता है और तैल के समाप्त होने पर जब बुझने के सन्मुख होता है तब चंचल हो जाता है परंतु सुपुत्र रूपी दीपक पात्र-घर के किसी सदस्य को संतप्त यानि दुःखी नहीं करता, न मल यानि दोषों को उत्पन्न करता है, स्नेह-प्रीति के बिना भी कार्य करता रहता है, गुण-दया, दाक्षिण्य आदि गुणों को क्षीण नहीं करता और द्रव्य-वैभव के नष्ट होने पर चंचलता-क्षुद्रता को प्राप्त नहीं होता अतः कुल रूपी घर में सत्पुत्र ही कोई अद्‌भुत दीपक है।[4]

---

3. मातृपितृसमं तीर्थं विद्यते न जगत्त्रये।
यतः प्राप्नोति सुलभो नृभवः शिवशर्मदः॥

4. पात्रं न तापयति नैव मलं प्रसतू, स्नेहैर्विना ज्वलति नैव गुणान् क्षिणोति।
द्रव्यावसानसमये चलतां न धत्ते, सत्पुत्र एव कुलसद्मनि कोऽपि दीपः॥ –स. श्लो. सं.

पुत्र जो कुल का दीपक है ऐसा कार्य कभी न करे जिससे माता-पिता थोड़े भी दुखी हों। अपने भाइयों से सौमनस्य पूर्ण व्यवहार करे और सदैव धर्म व यश का अर्जन करे। आदिपुराण में भी कथन है पिता अपने पुत्र से कहता है कि बेटा जिस प्रकार धर्म व यश का अर्जन मैंने किया है वैसा तुम भी करो। कुल को कलंकित करने वाला कोई कार्य भी भूलकर न करे। धर्म के संस्कारों को आगे प्रवाहित करे। नैतिक, सामाजिक, धार्मिक कार्यों को करने में तत्पर रहे। देवपूजा, दान आदि में संलग्न रहकर न्यायपूर्वक धनअर्जित कर धर्म अर्जन करे, इससे यश की प्राप्ति स्वयं भी होती है अथवा समाज सेवा के कार्य करे जैसे सामर्थ्यहीन बच्चों की शिक्षा का प्रबंध, किसी की सहायता करना आदि प्रकार से यश अर्जित करे। जैसे भूमि की उर्वरता का पता उसमें उगने वाली फसल से लगता है वैसे ही मनुष्य के उत्तम आचरण से उसके कुल के गौरव का पता चलता है। जो पुत्र बिना किसी अनाचार के अपने कुल के गौरव को बढ़ाता है वह जगत् में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है। पुत्र का पुत्रत्व इसी में है कि पुत्र अपने कुल के गौरव को बढ़ाएँ, माता-पिता भी अपने पुत्र पर गौरवान्वित हों।

सुपुत्री

विणया णिउणा सीला-सव्वविज्जा-विसारया।
पबुद्धा सुंदरी पुत्ती बे-कुलेसु हु सोहदि।।46।।

अर्थ–विनयी, निपुण, शीलवान्, सर्व विद्याओं में विशारद, प्रबुद्ध, सुंदर (उत्तम) व दोनों कुलों को शोभायमान करने वाली पुत्री होती है।

Humble, skillful, gentle, skilled in all arts, prudent and beautiful daughter graces both the clans.

भावार्थ–यदि पुत्र एक कुल का दीपक है तो पुत्री दो कुलों की दीपिका। एक कुल वह रोशन करती है जहाँ स्वयं जन्म लेती है और दूसरा कुल वह जहाँ उसका विवाह होता है, जिस कुल व वंश को वह वृद्धिंगत करती है। अपने अच्छे कला कौशल, आचार-विचार या व्यवहार से प्रथम कुल में भी कीर्ति अर्जित करती है और दूसरे कुल में पहुँचकर वहाँ पर भी नाम रोशन करती है। पुत्री के रूप में अपने माता-पिता का और पुत्र वधू के रूप में सास-ससुर का। पुत्री अपने मृदु व्यवहार और वाणी से हृदय को जीतने वाली हो, कुलों को शोभायमान करने वाली हो।

यदि कन्या का व्यवहार रूक्ष, वाणी कटु हो, लज्जा व मर्यादा से रहित हो तो दोनों कुलों को ही दु:ख प्रदान करती है। कन्या जब अच्छे-संस्कारों को ग्रहण कर दूसरे घर पहुँचती है तब उस संस्कारित पुत्रवधू व उसके माता-पिता की सभी प्रशंसा करते हैं और जब वह पुत्रवधू समाज में अच्छे कार्यों मे अग्रणीय होती है तब समाज को भी उस पर गर्व होता है। वह घर में माता-पिता (सास-ससुर) की सेवा करती है तो सम्मान की पात्र होती है, लोग कहते हैं तुम्हारी पुत्री अथवा पुत्रवधू बहुत संस्कारित है। ग्रंथकार यहाँ पुत्री के विषय में कहते हैं कि पुत्री विनयी हो।

व्यवहार में विनम्रता, वाणी में विनम्रता व उसके आचरण में विनम्रता हो। कन्या की कठोर वाणी उसके स्वयं के लिए अभिशाप होती है। नीची निगाहें कर झुककर चलना यह कन्या का गुण है। गर्व या अहंकार युक्त कन्या किसी की प्रिय नहीं होती। पद्मपुराण में वर्णित है–तुंकारी की कथा। अपने मान और क्रोध के कारण उसने कितने दु:ख सहे। कन्या का विशेष गुण उसकी विनम्रता है। जैसे पानी कठोर पहाड़ों, चट्टानों में भी अपना स्थान बना लेता है वैसे ही कन्या का मृदु व्यवहार कठोर हृदयों में भी अपना स्थान बना लेता है।

कन्या सर्व विद्याओं में विशारद व निपुण हो। स्त्रियों की 64 कला विख्यात हैं। पाक कला, नृत्य कला, संगीत कला, सिलाई, बुनाई आदि कलाओं में निपुण हो। श्री आदिनाथ भगवान् ने ब्राह्मी-सुंदरी को शिक्षा प्रदान की। पुत्रियों के लिए अक्षर विद्या, अंक विद्या, गणित शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, छंद शास्त्र और अलंकार शास्त्र का उपदेश व शिक्षा प्रदान की गई।

पद्म पुराण में केकया का वर्णन है **''जिसके सर्व अंग सुंदर थे, जो उत्तम लक्षणों को धारण करने वाली तथा समस्त कलाओं की पारगामिनी थी, ऐसी केकया नाम की पुत्री अत्यंत सुशोभित हो रही थी।''** वह नृत्य कला, नाट्य कला, लिपि कला, उक्ति कौशल कला, चित्रकला, पुस्तक कर्म कला, पत्रच्छेदक कला, माला निर्माण कला, गंध योजना कला, आस्वाद्य विज्ञान, रत्न परीक्षा कला, कढ़ाई कला, कुटीर शिल्प, संवाहन (मालिश) कला, वेष कौशल कला (शरीर संस्कार) कलाओं को वह कन्या अच्छी तरह जानती थी इस प्रकार सुंदर शील के धारक तथा विनय रूपी उत्तम आभूषण से सुशोभित वह कन्या इन कलाओं आदि को लेकर लोगों के मन को हरण करने वाली समस्त कलाओं को धारण कर रही थी।

कन्या की शोभा उसके गुणों से होती है। बाहर की सुंदरता के साथ अंतरंग की सुंदरता भी आवश्यक है। महापुराण में वर्णन है कि सुंदरता पुत्री की सबसे बड़ी योग्यता हमेशा से मानी गई है, ससुराल में सुंदर पुत्रवधू को सर्वाधिक प्रशंसा मिलती थी। कन्या इतनी विद्वत्ता भी प्राप्त करती थी कि बड़े से बड़े विद्वान् के समक्ष चुनौती भी दे देती थी। कन्या विवेकवान् हो। सभी कार्यों को विवेक से करती हो। बुद्धिमान् हो। कुलों की शोभा बढ़ाने वाली हो। माता-पिता परिवार को गौरवान्वित करने वाली हो। शील की रक्षा करने वाली हो।

एक समय किसी गाँव में एक वृद्ध पिता अपनी पुत्र के साथ रहते थे। जमींदार का बहुत कर्ज वृद्ध पिता पर था। एक दिन जमींदार की कुदृष्टि उसकी पुत्री पर पड़ी। वह वृद्ध व्यक्ति के पास आता है और कहता है कि तू मुझे अपनी पुत्री दे दे तो तेरा कर्ज माफ कर सकता हूँ। पिता व्यसनी जमींदार को जानते थे, उन्होंने मना कर दिया। जब वह नहीं माना तो जमींदार ने कन्या से कहा मैं दो पत्थर इस सुराही में डालूँगा, एक काला और एक सफेद। यदि काला पत्थर निकला तो विवाह भी करूँगा और कर्ज भी माफ नहीं होगा। यदि सफेद पत्थर निकला तो विवाह भी नहीं करूँगा और कर्ज भी माफ।

कन्या बुद्धिमान थी उसने सुराही में हाथ डाला और पत्थर निकालकर शीघ्रता से पत्थरों के ढेर में फेंक दिया। जमींदार बोला ये तुमने क्या किया दिखातीं तो कौन सा पत्थर हाथ में आया है। कन्या बोली कोई बात नहीं जो बचा है उससे जान लेंगे कि कौन सा निकला था। कन्या जमींदार के कुव्यवहार, छल, कपट से परिचित थी। वह बहुत बुद्धिमान थी। सुराही में देखा तो काला पत्थर ही था। जमींदार कन्या की बुद्धिमानी देख स्तब्ध रह गया क्योंकि उसने दोनों काले पत्थर ही डाले थे। निकालेगी तो काला ही निकलेगा। किंतु कन्या ने कहा जो बचा वो देख लो। काला बचा अर्थात् सफेद निकला था। पुत्री ने बुद्धिमानी से अपने पिता को भी बचाया और अपने शील की भी रक्षा की।

इसी प्रकार महापुराण में वर्णित है कि सुंदरता, बुद्धिमानी, विनीत, सुशील, सुंदर, लक्षण, रूपमती, सुंदर चाल-चलन, सुडौल बदन, वृद्धा के समान शील एवं विनय गुण यह एक श्रेष्ठ पुत्री के गुण माने गए हैं। ऐसी पुत्रियाँ अपने परिवार की शान बढ़ाती हैं। श्री आदिनाथ भगवान् की पुत्री ब्राह्मी-सुंदरी ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की थी। महापुराण में वर्णन आया है कि सुलोचना ने कौमार्य अवस्था में रत्नमयी प्रतिमाएँ बनवाईं, वह पूजा करती थी, स्तुति करती थी, दान देती थी, आहार देती थी, महामुनियों का सम्मान करती, धर्म को सुनती व उपवास करती थी। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में पुत्री का महत्वपूर्ण स्थान है।

विवाह लक्षण

चारित्त-मोहणीयस्स सादावेदुदयेण य।
कण्णाए वरणं मण्णे, विवाहो हु जिणागमे।।47।।

अर्थ–चारित्र मोहनीय व साता वेदनीय के उदय से कन्या का वरण जिनागम में विवाह माना जाता है।

To marry with a girl because of the rise of ***charitra mohniya*** and ***sata vedniya*** is considered marriage.

भावार्थ–महापुराणकर्त्ता आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने विवाह का उल्लेख गर्भान्वय क्रियाओं के अंतर्गत किया है। विवाह से प्रजा की संतति का उच्छेद नहीं होने पर धर्म की संतति बढ़ती रहेगी, विवाह एक धर्म है क्योंकि गृहस्थों को संतान की रक्षा में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए इसीलिए विवाह रूपी धर्म पालनीय है। विवाह चिरमर्यादित समाज संस्था है। समाज शास्त्र की दृष्टि से विवाह के कुछ उद्देश्य कहे गए हैं– धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करना, संतान प्राप्ति एवं शिशु की सुरक्षा, परिवार के प्रति दायित्व एवं कर्त्तव्यों का निर्वाह, समाज के प्रति कर्त्तव्यों व दायित्वों का पालन, व्यक्तित्व का विकास, गृहस्थ धर्म का, आहार दान आदि कर्त्तव्यों का निर्वाह आदि। जीवन में धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों का सेवन विवाह संस्था के बिना असंभव है। गृहस्थ जीवन का वास्तविक उद्देश्य दान देना, देवपूजा करना एवं मुनि धर्म के संचालन में सहयोग देना है। साधु मुनियों को दान देने की क्रिया गृहस्थ जीवन के बिना संपन्न नहीं हो सकती है। अतः चतुर्विध संघ के संरक्षण की दृष्टि से व कुल परंपरा का निर्वाह करने की दृष्टि से विवाह संस्था की परम आवश्यकता थी।

तत्त्वार्थराज वार्तिक के अनुसार सातावेदनीय और चारित्र मोहनीय के उदय से निर्वहन कन्यावरण करना विवाह कहा जाता है। **नीतिवाक्यामृत** में विवाह की परिभाषा लिखी है कि अग्नि देव और द्विज की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण क्रिया संपन्न होना विवाह है।[1]

प्राचीन भारतीय समाज के इतिहास में विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख हुआ। ब्राह्म, देव आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस एवं पिशाच। जैन साहित्य में विवाह प्रकारों का उल्लेख नहीं है। विवाह की योजना में परिवर्तन भी होता रहता था लेकिन आठ प्रकारों को मान्यता प्रदान नहीं की गई थी।[2] भारतीय संस्कृति में विवाह के परंपरागत आठ प्रकार संक्षिप्त में इस प्रकार हैं–

स ब्राह्म्यो विवाहो यत्र वरायालंकृत्य कन्या प्रदीयते।

---

1. **युक्तितो वरणविधानमग्निदेव-द्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः।**
2. **प्राचीन जैन साहित्य और संस्कृति**

1. ब्राह्म विवाह-जिसमें कन्या के पिता आदि संरक्षक अपनी शक्तिअनुसार कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वर के लिए कन्या प्रदान करते हैं वह ब्राह्म्य विवाह है।

ब्राह्म विवाह में पिता किसी सुयोग वर को आमंत्रित करके विधिपूर्वक उसे अपनी कन्या कुछ उपहार के साथ अर्पित करता है। कन्या दान की वस्तु समझी जाती थी लेकिन दान सुयोग्य व्यक्ति को दिया जाता था।। पद्मपुराणादि में भी कन्यादान का वर्णन आया है। राजा अपने बड़े राजा चक्रवर्ती आदि को कन्या दान या समर्पित करते थे। पद्मपुराण में वर्णित है रानी हेमवती कहती है कि माताएँ तो कन्या के शरीर की रक्षा करती हैं और उनके दान में पिता उपयुक्त होते हैं।

इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं।

2. दैव विवाह-जब यज्ञ करने वाला अपनी पुत्री को विवाह में किसी पुरोहित को अर्पित कर देता था तो वह दैव विवाह कहलाता है।

स दैवो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा।

इस विवाह विधि का उल्लेख जैन साहित्य में नहीं है।

3. आर्षविवाह-जिसमें गौमिथुन (गाय, बैल का जोड़ा) आदि दहेज देकर कन्या दी जाती थी।

गोमिथुनपुरः सरं कन्यादानादार्षः

इस विवाह विधि का उल्लेख जैन साहित्य में प्रसंगवश भी नहीं है।

4. प्राजापत्य विवाह–जिस विवाह में संपत्ति के विनियोग के साथ कन्या को प्रदान किया जाता है उसे प्राजापत्य विवाह कहा जाता है।

'त्वं भवास्य महाभागस्य सहधर्मचारणीति' विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः।

तू इस महाभाग्यशाली की सधर्मचारिणी हो, इस प्रकार नियोग करके जहाँ पर कन्या प्रदान की जाती है, वह प्राजापत्य विवाह है। इस विधि में पिता अपनी कन्या का पाणिग्रहण योग्य वर के साथ इस उद्देश्य से करा देता था कि वे दोनों अपने नागरिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का साथ-साथ पालन करें। इस विधि को जैन परंपरा द्वारा मान्यता प्रदान की गई है।

पैशाच, गंधर्व, आसुर, राक्षस आदि विवाह धर्मसंगत नहीं थे फिर भी समाज में इनका प्रसार था।

5. पैशाच विवाह–जिसमें सोती हुई व बेहोश कन्या का अपहरण किया जाता है वह पैशाच विवाह है

''सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाचः 31/11 नी. वा.

6. आसुर विवाह–कन्या दाता को बहुत सा धन या कन्या के परिवार वालों को नाना प्रकार से प्रलोभित करके यदि कन्या ग्रहण की जाए तो वह आसुर विवाह होता है। जैन साहित्य में धन

देकर कन्या खरीदने के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं लेकिन प्रलोभन देकर कन्या प्राप्त करना ऐसे उदाहरण प्रसंगतः वर्णित हैं।

पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः 1 31/12 नी. वा.

7. राक्षस विवाह–जिसमें कन्या का बलपूर्वक हरण किया जाता है वह राक्षस विवाह है। राक्षस विवाह वर के भुजबल पर आधारित था। इसमें कन्या के परिवार की असहमति होना मुख्य कारण थी। हरविंश पुराण में वर्णित है कि श्रीकृष्ण ने रुक्मणी का हरण किया।

कन्यायाः प्रसह्यादाना द्राक्षसः 1 31/10 नी. वा.

8. गंधर्व विवाह–मनु के अनुसार जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक संभोग करते हैं तो विवाह के उस प्रकार को गंधर्व विवाह कहते हैं। जिसमें वर-कन्या अपने माता-पिता व बंधुजनों को प्रमाण न मानकर वा उनकी उपेक्षा करके पारस्परिक स्नेह वश आपस में मिल जाते हैं, दाम्पत्य प्रेम कर लेते हैं वह गंधर्व विवाह है।

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद्-गान्धर्वः 1 31/9 नी. वा.

स्वयंवर प्रथा के अनेक उदाहरण जैन साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। किंतु स्वयंवर का प्रचार राजा-महाराजाओं में ही अधिक था। भगवान् श्री आदिनाथ स्वामी के समय हुए राजा अकंपन ने स्वयंवर प्रथा का प्रवर्तन किया। पुराणों में वर्णित है कि राजा-रानी अपनी कन्या का विवाह स्वयंवर रीति से करते थे। वे अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था से बंधे हुए थे। उन्हें अपनी पुत्री के विवाह की सूचना सभी राजाओं को देनी पड़ती थी। किसी एक राजकुमार से विवाह संबंध पूर्व में ही निश्चित कर देने से अन्य राजा-राजकुमारों की प्रतिष्ठा एवं अहं को ठेस पहुँच सकती थी। अतः सभी राजादि को बुला कन्या को सभी का परिचय दिया जाता था कन्या जिसको चाहती उसका वरण कर लेती थी अथवा कुछ शर्त भी स्वयंवर मंडप में रखी जाती थी और जो उस शर्त को पूरा करता, कन्या का विवाह उसी से कर दिया जाता। जैसे राजा जनक ने अपनी पुत्री सीता उसी को देनी निर्धारित की थी जो राजकुमार वज्रावर्त धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने में समर्थ हो। श्रीराम के द्वारा ऐसा होने पर उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह राम के साथ कर दिया।

महापुराण के अनुसार वर-कन्या की योग्यताएँ, उनके समान वय, समान वैभव, समानशील और समान धर्म के होने पर विवाह प्रशस्त होता है। कुल की शुद्धता एवं वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए विवाह संबंध को महत्त्व दिया है।

श्रेष्ठ दंपत्ति

जत्थ परोप्परे पेम्मो, विस्सासो आयरो सया।
धम्म-कज्जेसु लीणो जो, दंपई सुट्ठु भण्णदे।।48।।

अर्थ–जहाँ परस्पर में सदा प्रेम, विश्वास व आदर है तथा जो धर्म कार्यों में लीन रहते हैं वे श्रेष्ठ दंपत्ति कहे जाते हैं।

Where there is love, belief and respect mutually and those who are indulged in religious works are considered the best couple.

भावार्थ–जिस प्रकार रथ के गतिशील होने हेतु दो समान पहियों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार गृहस्थ जीवन रूपी रथ को कुशलतापूर्वक चलाने हेतु पति-पत्नी की आवश्यकता होती है। किंतु यदि रथ का एक पहिया छोटा व एक बड़ा हो तो रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार पति-पत्नी में से किसी एक का सहयोग कम हो वा नगण्य हो अथवा आपस में संतुलन न हो तो गृहस्थ जीवन रूपी रथ आगे नहीं बढ़ सकता या किसी दुर्घटना से ग्रस्त की भाँति नष्ट भी हो सकता है अत: गृहस्थ जीवन सौमनस्य एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण में व्यतीत हो सके इसके लिए दंपत्ति में परस्पर प्रेम, विश्वास व आदर आवश्यक है।

प्रेम, स्नेह उस स्निग्ध पदार्थ की भाँति है जो दो पदार्थों को जोड़ने में उपयुक्त है। **''प्रियत्वं प्रेम''** प्रियता का नाम प्रेम है। स्नेह का बंधन सभी बंधनों से दृढ़तर है। मनीषियों ने कहा है जहाँ स्पर्श, दर्शन, श्रवण और भाषण में हृदय द्रवीभूत होता है वह स्नेह कहलाता है।[1] जहाँ आपस में स्नेह होता है वहाँ वे परस्पर में हित चिंतन करते हैं। वासना और स्नेह में उतना ही अंतर है जितना बर्फ और अग्नि में। पर के माध्यम से अपने खालीपन को भरने का दु:साहस वासना है यह वह दलदल है जिसमें व्यक्ति फँस सकता है। वासना मल है जिसमें मलिन प्राणी ही क्रीड़ा कर सकता है। वासना मात्र लेना जानती है जबकि स्नेह, प्रेम देना जानता है, प्रेम में समर्पण की भावना अहर्निश विद्यमान होती है।

स्नेह में व्यक्ति सामने वाली की प्रसन्नता को महत्व देता है, उसके लिए सदैव अच्छा ही सोचता है। जब श्री राम ने सीता को धोखे से वन में छुड़वा दिया तब सीता ने राम पर रोष नहीं किया अपितु कहा–सेनापति कृतांतवक्र! मेरे स्वामी को जाकर के कहना कि लोकापवाद के कारण जैसे मुझे छोड़ दिया वैसे धर्म को मत छोड़ना। सीता ने अपने कर्मों का ही चिंतन किया। प्रेम सामने वाले को समझने की शक्ति होती है। प्रेम संबंधों को मधुरता प्रदान करता है। सच्चे प्रेम के धागे से

---

1. **स्पर्शने दर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि च।**
यत्र द्रवत्यन्तरंगं स स्नेह इति कथ्यते।।

जुड़ा हुआ रिश्ता कभी टूट नहीं सकता। किसी ने कहा है कि **''स्वार्थ से कितने भी रिश्तों को जोड़ने की कोशिश कर लें लेकिन जुड़ेंगे नहीं और प्रेम से जुड़े रिश्ते कभी टूटेंगे नहीं।''**

आचार्य भगवन् श्री वादीभसिंह सूरि ने क्षत्रचूड़ामणि में लिखा है–

जहाँ प्रेम और विश्वास है वहाँ दोनों एक ही बात से सहमत होंगे किंतु जहाँ विश्वास नहीं वहाँ दंपत्ति जो भी कहें, दोनों एक ही बात कहें, दोनों के मुख से निकली भिन्न वाणी कलह का कारण बनती है। दंपत्ति के मध्य पारस्परिक विश्वास और आदर भी आवश्यक है अन्यथा संबंध कमजोर रह जाते हैं। विश्वास ही दांपत्य जीवन की आधारशिला है। यदि संबंध को बनाए रखना है तो उसके लिये प्रेम, विश्वास व आदर को जीवन में स्थान दें। तानाकशी, आलोचना व बहस तो संबंधों की जड़ को खोखला कर देती है। किसी ने कहा है–**''रिश्ते और विश्वास दोनों ही मित्र हैं, रिश्ते रखो या ना रखो किंतु विश्वास जरूर रखो क्योंकि जहाँ विश्वास होता है वहाँ रिश्ता अपने आप बन जाता है।''** शास्त्रों में भी कई उदाहरण दृष्टव्य हैं जहाँ दांपत्य जीवन में पारस्परिक विश्वास ने उन्हें नवीन जीवन प्रदान किया तो कई ऐसे भी हैं जहाँ विश्वास टूटते ही रिश्ता शीशे की भाँति टूटकर बिखर गया।

राजा उग्रसेन ने अपनी पत्नी वृषभसेना व आत्मसमर्पण किए राजा मधुपिंगल को समान रत्न कंबल भेंट किए। एक समय मधुपिंगल की पत्नी वही कंबल ओढ़ रानी वृषभसेना से मिलने आई। कुछ समय वार्तालाप करने के पश्चात् वह अपने स्थान पहुँची किंतु इसी मध्य दोनों के कंबल बदल गए और यह दोनों रानियों को भी पता ना चला। अगले दिन उसी कंबल को दरबार में ओंढ़कर आए मधुपिंगल पर राजा का ध्यान आकर्षित हुआ और क्रोध में आकर महारानी वृषभसेना को गलत समझ उसे समुद्र में फेंकने का आदेश दिया किंतु वृषभसेना के शील के प्रभाव से देवों ने उसकी रक्षा की व पुष्पवृष्टि की। राजा को अपनी भूल का अहसास हुआ किंतु वृषभसेना ने राजा के अति आग्रह पर भी भोगों को स्वीकार न कर, आर्यिका के व्रतों को स्वीकार किया।

तीसरा दांपत्य जीवन का सूत्र है परस्पर में आदर। पति-पत्नी दोनों ही एक दूसरे का सम्मान करें। पति की आज्ञा का पालन करना तो पत्नी ने सदैव अपना धर्म माना है। पद्मपुराण में वर्णित है कि पति की आज्ञा पत्नी के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी। वह पति की आज्ञा के बिना कोई कार्य नहीं करती थी। अपने पतिव्रत धर्म के लिए अपने प्राण भी न्यौछावर कर देती थी। पद्मपुराण में पति के प्रति स्वामीभक्ति का अनूठा उदाहरण मिलता है कि पति क्रोधित होकर कहता है कि **''हे दुःखलोकने! तू इस स्थान से शीघ्र ही हट जा। उल्का की तरह तुझे देखने के लिए मैं समर्थ नहीं हूँ। अहो, कुलांगना होकर भी तेरी यह परम धृष्टता है जो मेरे न चाहने पर भी सामने खड़ी है, बड़ी निर्लज्ज है।''** पवनंजय के इन क्रूर वचनों के सुनने के बाद भी अंजना विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर कहती है कि **''हे नाथ! मैं आपके द्वारा त्यक्त हूँ फिर भी 'मैं आपके समीप ही रह रही हूँ' इतने मात्र से ही संतोष धारण कर अब तक बड़े कष्ट से जीवित रही हूँ पर अब आपके दूर जाने से किस प्रकार जीवित रहूँगी?''**

दांपत्य जीवन में ऐसा नहीं था कि पत्नी ही पति का सम्मान करती थी, पति भी पत्नी का सम्मान करता था। पति से यदि कुछ गलती होती तो क्षमा भी माँगता। पद्मपुराण में वर्णित है कि पति अपनी पत्नी से कहता है 'हे देवि! समस्त अपराध भूल जाओ इसीलिए मैं तुम्हारे चरणों में प्रणाम करता हूँ, परम प्रसन्नता को प्राप्त होओ। इतना कहकर, पवनंजय ने अपना मस्तक अंजना के चरणों में रख दिया' पुनः बोला कि 'जब तुम यह कहोगी कि 'मैं प्रसन्न हूँ' तभी सिर ऊपर उठाऊँगा।' इसी पुराण में वर्णित है कि पत्नी को जब सास घर से निकाल देती है तब पति अपने माता-पिता का अगाध स्नेह प्राप्त करने के बावजूद उनको रोता छोड़कर पत्नी के वियोग में मरने का निश्चय करता है और कहता है कि जब तक मेरी प्रिया नही मिलेगी न मैं भोजन करूँगा, न बोलूँगा। पति और पत्नी दोनों को एक-दूसरे का आदर-सम्मान करना चाहिए तथा अपने शब्दों से या किसी भी क्रिया से एक-दूसरे के मान-सम्मान को ठेस न पहुँचे, एक-दूसरे का मन न दुखे यह ध्यान रखना चाहिए।

आदिपुराण में वर्णित है कि जयकुमार की प्रवृत्ति सुलोचना के अनुकूल रहती थी और सुलोचना की प्रवृत्ति जयकुमार के अनुकूल रहती थी। उन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के अनुकूल रहना ही उनके रतिजन्य संतोष का कारण था जो चिंतवन में न आ सके ऐसा प्रेम इन्हीं दम्पत्तियों में पूर्णता को प्राप्त हुआ था।

पति-पत्नी को सदैव एक-दूसरे के अनुकूल आचरण करना चाहिए, जो उनके दांपत्य जीवन को मधुरता प्रदान करता है।

एक श्रेष्ठ दांपत्य जीवन के लिए पति-पत्नी दोनों को एक-दूसरे को प्रसन्न रखना चाहिए तथा धर्मध्यान के साथ ही जीवन व्यतीत करने में दांपत्य जीवन की सार्थकता है। आदर्श राजा-रानी, सेठ-सेठानी आदि समय-समय पर दान, जिनार्चना, गुरुपासना, तीर्थयात्रा आदि कर अपने पुण्य का संवर्द्धन करते। किसी भी विशेष कार्य से पूर्व पूजन-अर्चना का क्रम तो सदैव ही रहा है। आदिपुराण में कथन है कि बड़े भारी अभ्युदय को धारण करने वाले महाराज जयकुमार ने निर्दोष मुहूर्त्त में बड़ा भारी उत्सव कराकर सबको संतुष्ट किया और फिर जिनपूजापूर्वक सब मंगल-सम्पदाओं के साथ-साथ हेमांगद आदि भाइयों के सामने ही सुलोचना को बड़े हर्ष से पट्टबंध बाँधा अर्थात् उन्हें पट्टरानी बनाया।

अपने मंगलमय दांपत्य जीवन के निर्वाहन हेतु पति-पत्नी को धर्म ध्यान निरंतर करना चाहिए। शास्त्रों में बहुत उदाहरण आते हैं जहाँ पति-पत्नी अपने दिन का प्रारंभ जिनाभिषेक, जिनपूजन से करते हैं, मुनियों को आहार दान देते। यहाँ तक कि घर से यात्रा पर निकले सेठ-सेठानी आदि वन में भी चौका लगाकर आहार दान देते। जिस प्रकार वनवास में भी राम व सीता दोनों ने गुप्ति-सुगुप्ति नामक मुनिराजों को आहार-दान दिया। अतः ग्रंथकार यहाँ दंपत्तियों को धर्मध्यान करने की प्रेरणा देते हैं जिससे वे पुण्य का अर्जन कर सकें, श्रावक धर्म का पालन कर जिनशासनोन्नति में सहयोगी बनें।

गुणी नारी

आणाइत्ता य लच्छी जा, णिउणा सु-हिदंकरा।
सदी सहणसीला सा, गुणी णारी हु भासिदा।।49।।

अर्थ–जो आज्ञाकारिणी, समीचीन रूप से हित करने वाली, निपुण, सती, लक्ष्मी स्वरूप व सहनशील है वह निश्चय से गुणी नारी कही गई है।

मानवता की प्रतिमूर्त्ति तू, भव्य-भाव-भूषण-भंडार।
दया-क्षमा-ममता की आकृति, विश्व प्रेम की है आधार।।

A lady who is obedient, expediently beneficent, accomplished, pure wife and tolerant is surely a virtuous woman.

भावार्थ–नारी मानवता की प्रतिमूर्त्ति है। संसार में संस्कारों का बीज बोने वाली और परिवार की सृजनकर्त्री नारी है। **''यत्र पूज्यन्ते नार्यस्तु, तत्र रमन्ते देवताः''** जहाँ नारियों की पूजन अर्थात् उनका आदर-सम्मान होता है वहाँ देवताओं का वास होता है। मनुस्मृति में भी उल्लिखित है 'जहाँ स्त्री जाति का आदर-सम्मान होता है उनकी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं की पूर्ति होती है उस स्थान, परिवार व समाज पर देवतागण प्रसन्न रहते हैं।' जिस स्थान पर नारियों का सम्मान नहीं होता वहाँ देव कृपा नहीं होती, उनका कोई कार्य सफल नहीं होता। नारी सदा से ही वंदनीय व पूज्यनीय रही है। बुद्धिमत्ता व माधुर्य के साथ शिखर को छूती नारी जब पूरी दुनिया में अपने अस्तित्व का परचम लहराती है तो वह साक्षात् सरस्वती रूप ही होती है। जब वह आत्मीय स्नेह से पारिवारिक जनों का संपोषण, संरक्षण करती है, जब अपने सुखों में कमी कर परिवार के सुखों को पूर्ण करती है, जब उसके कदम रखते ही घर जीवंत हो उठता है तब लक्ष्मी स्वरूप होती है। **कवि जयशंकर प्रसाद** ने नारी के विषय में लिखा भी है–

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में।।

नारी माँ, पत्नी, पुत्री आदि कई रूपों में जीवन को संवारती है। नारी की स्तुति तो आचार्य भगवन् श्री मानतुंग स्वामी ने स्वयं की।

''स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्।
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं।
प्राच्येव दिग्जनयतिस्फुरदंशुजालम्।।''

यहाँ ग्रंथकार नारी के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नारी आज्ञाकारिणी हो। समीचीन आज्ञा का परिपालन करने वाली हो। नारी उस लता के समान है जो वृक्ष पर अवलंबित होती है।

नारी विवाह से पूर्व पिता, विवाह के पश्चात् पति पुनः पुत्र पर अवलंबित होती है। पिता व पति की आज्ञा का पालन उसके स्वयं के जीवन को सरल बनाता है।

पद्मपुराण में वर्णित है असुर संगीत नगर का राजा मय जब अपनी पत्नी हेमवती से पुत्री मंदोदरी के विवाह के विषय में वार्तालाप कर रहे थे, अनुकूल वर के विषय में पूछ रहे थे तब गुणों से सज्जित रानी हेमवती ने कहा **''जहाँ आपके लिए कन्या देना रुचता हो वहीं मेरे लिए भी रुचेगा क्योंकि कुलांगनाएँ पति के अभिप्राय के अनुसार ही चलती हैं।''** आज्ञा का पालन करना तो दूर की बात नारी को तो अपने स्वामी के अभिप्राय के अनुसार कार्य करना उचित है।

आदृता परिसेवायां रक्षणे कीर्तिधर्मयोः।
अद्वितीया सतां मान्या पत्नी सा पतिदेवता॥6॥ कुरल का.

उत्तम सहधर्मिणी वही है जो अपने धर्म की रक्षा करती है तथा प्रेमपूर्वक अपने पतिदेव की आराधना अर्थात् आदर, सम्मान व आज्ञापालन करती है।

आज्ञाकारिणी स्त्री के गृह में ही धर्म, स्नेह व खुशी का माहौल बन सकता है क्योंकि आज्ञा के विपरीत जाने वाली स्त्री क्लेश का कारण कैसे नहीं बनती अर्थात् बनती ही है।

नारी समीचीन रूप से सभी का हित करने वाली हो। एक अच्छे परिवार का निर्माण अच्छी नारी ही कर सकती है। नीतिकारों का कहना है नारी परिवार की आधारशिला है। वह अपने स्नेह व सबके प्रति हित भावना से पारिवारिक जनों का सिंचन करती है, सभी का हित करने में संलग्न रहती है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ द्वारा ग्रहण किया गया जलादि उसकी प्रत्येक शाखा-उपशाखाओं तक पहुँचता है संपूर्ण वृक्ष को हरा-भरा करता है उसी प्रकार स्त्री संपूर्ण परिवार को प्रसन्नता प्रदान करती है, हित की भावना से परिपूरित हो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर उनके लिए मानो उन्नति का सोपान बनती है।

नारी कलामूर्ति हो अर्थात् कलाओं में निपुण हो। वह कला भोजनादि निर्माण की हो या पारिवारिक गठन की। कुशल नारी ही परिवार के सदस्यों को दक्षता प्रदान कर सकती है। कला-निपुणता नारी की महिमा को वृद्धिंगत करती है। चेतन-अचेतन प्रत्येक पदार्थ को अपनी कला से समीचीनता प्रदान करने व उसको अलंकृत करने की सामर्थ्य रखने वाली नारी ही कुशल है। सबके साथ मिलने और सबको अपने साथ मिलाने वाली नारी प्रशंसनीय है।

नारी की शोभा, सौंदर्य उसके शील से है। शील युक्त नारी ही संसार में आदरणीय है। जिस प्रकार शरीर में से प्राण निकलने के पश्चात् वह चेतना रहित देह अस्पर्श्य होती है उसी प्रकार शील, सदाचरण से रहित नारी। पवित्र, कुशल व पतिव्रता स्त्री से ही परिवार व समाज की शोभा है। सही रूप में नारी ही संस्कृति-सभ्यता का निर्माण करती है और चारित्रवान् नारी ही स्वर्णिम भविष्य का निर्माण कर सकती है। क्योंकि भविष्य का निर्माण नारी के गर्भ से ही प्रारंभ होता है।

वह नारी ही है जो मृत्यु के गर्भ में जाकर एक जीवन को जन्म देती है। वह सदाचार से युक्त नारी सदाचारी समाज का सृजन करती है। नारी के पास सद्चारित्र है तो मानों तीनों लोकों के वैभव से वह युक्त है अन्यथा संपूर्ण वैभव से सहित किंतु चारित्र से रहित निर्धन अथवा सर्वस्व रहित है। कहा भी है–

गुप्तस्थाननिवासेन, स्त्रीणां नैव सुरक्षणम्।
अक्षाणां निग्रहस्तासां, केवलो धर्मरक्षकः॥7॥

चार दिवारी के अंदर पर्दे के साथ रहने से क्या लाभ? स्त्री के धर्म का सर्वोत्तम रक्षक उसका इंद्रिय निग्रह है।

स्त्री का सर्वोत्तम धर्म शील है। पतिव्रतपने, महत्त्व, चारित्र, विनय व विवेक से स्त्रियाँ इस पृथ्वीतल को भूषित करती हैं।

सतीत्वेन महत्त्वेन, वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेनस्त्रियः कश्चिद्, भूषयन्ति धरातलम्।ज्ञानार्णव॥

नारी लक्ष्मीस्वरूप हो। जिस परिवार में नारी कलहकारिणी हो वहाँ लक्ष्मी का निवास नहीं हो सकता। जहाँ प्रेम, स्नेह व प्रसन्नता की मंदाकिनी स्त्रियों के माध्यम से प्रवाहित की जाती है वहाँ निःसंदेह धर्म व धन की वृद्धि होती है। और वही स्त्री लक्ष्मी रूप कही जाती है। वह अपनी पारिवारिक स्थिति के अनुसार व्यय करती है। कहा गया है–

यस्यामस्ति सुपत्नीत्वं सैवास्ति गृहिणी सती।
गृहस्यायमनालोच्य व्ययते न पतिव्रता॥1॥

वही उत्तम सहधर्मिणी है, जिसमें सुपत्नीत्व के सब गुण वर्तमान हों और जो अपने पति की सामर्थ्य से अधिक व्यय नहीं करती।

नारी पृथ्वी के समान सहनशीला हो। एक सहन करने वाला ही परिवार के रहन-सहन को सर्वोत्तम बना सकता है। सहनशील नारी रिश्तों की मर्यादा व इज्जत को बनाकर रख सकती है, सौहार्दता व आत्मीयता का वातावरण बना सकती है क्योंकि सहनशीलता सबसे अधिक नारी में होती है इसीलिए वंश-वृद्धि व सृजन का महत्वपूर्ण कार्य उसके माध्यम से होता है। सहनशीलता के अभाव में व्यक्ति एक व्यक्ति को भी नहीं निभा सकता जबकि सहनशीलता की प्रतिमूर्त्ति नारी संपूर्ण परिवार में निभने व उसको निभाने का सामर्थ्य रखती है। नारी को गौरवान्वित करने वाला यह उसका अप्रतिम गुण है। वास्तव में उसकी शक्ति अनुपम है जिसके पास मात्र शक्ति नहीं, शक्ति के साथ सहनशक्ति भी है।

जो इन सबसे युक्त है वह नारी गुणों का पुंज है। उपर्युक्त गुणों से युक्त नारी सम्मानीय व अभिवंदनीय है।

आदर्श वर

धी-चारित्त-पदिट्ठासु, वय-रूव-कुलेसु य।
सुट्ठु होदि णरो जो हु, आयंसो मण्णदे वरो॥50॥

अर्थ–बुद्धि, चारित्र, प्रतिष्ठा, आयु, रूप व कुल में जो नर श्रेष्ठ होता है वह आदर्श वर माना जाता है।

A man who is superior in intellect character, reputation, age, beauty and clan is an ideal match or groom.

भावार्थ–कन्या के विवाह के लिए उत्तम वर का चयन आवश्यक है। जिसके साथ स्वकन्या को संपूर्ण जीवन व्यतीत करना हो उसमें गुणों का परीक्षण भी करना ही चाहिए जिससे कन्या का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो सके। यों तो वैवाहिक वा दाम्पत्य जीवन का निर्वाह भाग्याधीन होता है। आचार्य सोमदेव सूरी ने कहा है–

''सत्कलासत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः''

पूर्व कर्मानुसार मनुष्यों को प्रशस्त कलाएँ, सत्य की उपासना व विवाह संबंध प्राप्त होता है परंतु विवाह संबंध हो जाने पर भी दंपत्ति का निर्वाण उनके भाग्य की अनुकूलता के आधीन है। तो भी उत्तम वर का चयन माता-पिता द्वारा किया जाता ही है। वर में गुणों को देखना अभिभावकों का कर्त्तव्य है पुनः कन्या का स्वयं का पुण्य है। कहा भी है–

कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
वरे गुणाः सप्त परीक्षणीया, अतः परं पुण्यवशा हि कन्या॥

कुल, शील, माता-पिता आदि से सहितपना, विद्या, धन, शरीर व अवस्था वर में ये सात गुण देखने चाहिए। इसके आगे कन्या अपने पुण्य के अधीन है।

यहाँ ग्रंथकार ने सर्वप्रथम कहा कि वर बुद्धिमान् हो। कहा है–**'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'** जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल है। बुद्धिमान् व्यक्ति की विद्या ही सार्थक है। अन्यथा बुद्धिहीन की विद्या अनर्थकारी सिद्ध हो सकती है। विद्या की अपेक्षा बुद्धि बड़ी होती है। उत्तम विद्या संपन्न व्यक्ति भी बुद्धि के अभाव में शेर को जिलाने वाले ब्राह्मणों की तरह नष्ट हो जाते हैं।[1]

यदि बुद्धिमान् व्यक्ति है तो राज्य से धन रहित निकलता हुआ भी बुद्धि बल से राजा के समान होकर लौटता है। महीपाल चरित्र में वर्णन है कि पिता के कुपित होने पर महीपाल राज्य से बाहर धनार्जन हेतु पहुँचते हैं और पुनः बहुत सा वैभव व प्रभुत्व के साथ पिता को जीतने की सामर्थ्य

---

1. **वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।**
बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंहकारकाः॥

लेकर वापिस लौटते हैं। अभयकुमार की बुद्धिमत्ता भी सर्वप्रसिद्ध है ही। श्रेणिक चरित्र में अभयकुमार के चातुर्य का वर्णन है जिसके कारण राजा श्रेणिक भी उसका सम्मान करने लगे। वह अपने बुद्धिबल से अति कठिन कार्य को तुरंत करने वाला था।

संसार में जीवों को यदि सुख प्रदान करने वाली है तो वह उत्तम बुद्धि ही है क्योंकि इसी की कृपा से मनुष्य सभी का शिरोमणि बन जाता है। उत्तम बुद्धि वाले मनुष्य का राजा भी पूरा-पूरा सम्मान और आदर करते हैं। बड़े-बड़े सज्जन उसकी विनय भाव से सेवा करने लग जाते हैं तथा उत्तम बुद्धि की कृपा से अच्छे-अच्छे नीति आदि गुण भी उस मनुष्य को अपना स्थान बना लेते हैं।[2]

अतः यहाँ कहा गया कि वर बुद्धिमान् होना चाहिए। पुनः बताया वह चारित्रवान्, शीलवान् होना चाहिए सभी प्रकार के व्यसनों, गंदी आदतों से विहीन सदाचारी हो। कदाचारी स्वयं ही उभय लोक में सुख प्राप्त नहीं करता वह कन्या को क्या सुख प्रदान कर पाएगा? शील से रहित मनुष्य सर्व ओर से तिरस्कृत-अपमानित होता है। शील रहित मनुष्य का कुल नष्ट हो जाता है। मात्र क्षणभर के सुख के लिए शील का खंडन कर मनुष्य करोड़ों भवों में वेदना को प्राप्त करता है।

जबकि शील सुख को करने वाला है, हर्ष का जनक है, कुल को प्रकाशित करने वाला है, श्रेष्ठ आभूषण है, गुणकारी है, लक्ष्मीदायक है, अपने व्रत की रक्षा करने वाला है, शुभकारी है और यश का कारण है इसीलिए जिनेंद्र द्वारा प्रतिपादित शील सदैव सेवनीय है।[3] कन्या का संबंध करने से पूर्व देख लेना चाहिए कि वह चारित्रवान् तो है अन्यथा कन्या संक्लेशित होती है और फिर वह संबंध कहाँ तक बना रहे कहा नहीं जा सकता।

पुनः कहा वर प्रतिष्ठावान् होना चाहिए। समाज में न केवल वर अपितु परिवार भी प्रतिष्ठित जाना जाता हो। उस परिवार या वर पर कोई अपराध ना हो। बहुत बड़ा कर्जा आदि न हो। प्रतिष्ठित परिवार ही अपनी कुल-मर्यादा का निर्वाहन करते हैं। प्रतिष्ठित परिवार अपनी वधूओं का अपनी बेटी के समान मान-सम्मान करते हैं, उसके स्वाभिमान की रक्षा करते हैं। प्रतिष्ठित व्यक्ति ही सम्मान लेना भी जानता है और देना भी। वर में भी कन्या के प्रति सम्मान की भावना हो। यदि सभी के मन में एक-दूसरे के प्रति आदर-सम्मान का भाव होगा तो घरेलू-हिंसा का कहीं नाम भी नहीं होगा।

---

2. **बुद्धितो विशदमार्गमंडनं, बुद्धितोऽखिलनृपाधिपूजनम्।**
   बुद्धिवो बलकुलालिलिंगनं, बुद्धितोनयपतित्वभाजनम्॥
3. **शीलं सौख्यकरं प्रमोदजननं शीलं कुलोद्योतनं।**
   शीलं सारविभूषणं गुणकरं शीलं च लक्ष्मीकरं।
   शीलं स्वव्रतरक्षणं शुभकरं शीलं यशः कारणं।
   तस्माद् भव्यजना! जिनेन्द्रकथितं शीलं श्रियन्तु त्रिधा॥

जो सत्य, संयम, क्षमा, त्याग, करुणा, विनय, विवेक आदि गुणों से युक्त है, धर्म से सहित है वही लोक में प्रतिष्ठित माना जाता है। ऐसा प्रतिष्ठावान् वर ही कन्या को सुख-शांति प्रदान कर सकता है।

पुनः वर की आयु देखनी चाहिए। वर उम्र में कन्या से बड़ा हो। कहा जाता है कि वर कम से कम 1 वर्ष और ज्यादा से ज्यादा 5 या 6 वर्ष बड़ा हो। इससे बड़ा भी नहीं होना चाहिए। वृद्ध के लिए कन्या या बालक के लिए बड़ी उम्र वाली युवती ठीक नहीं। दूसरी प्रकार से कहा कि वर के लक्षणों आदि से आयु की परीक्षा की जानी चाहिए क्योंकि अल्पायुष्क बहुगुणवान् से भी कोई प्रयोजन नहीं है।[4]

वर रूपवान् हो, जिसके चेहरे पर क्रोध नहीं, क्षमा व वात्सल्य मिश्रित मुस्कान हो क्योंकि क्रोध रिश्तों को टिकने नहीं देता और क्रूरता के साथ स्नेह का जन्म नहीं होता अतः क्षमा व वात्सल्य का ओज उसके चेहरे पर दमकता हो। धर्मात्मा के समान मुख पर प्रसन्नता रहती हो। वाणी में गंभीरता व माधुर्य हो।

पुनः कहा वर कुलीन हो। अपने ही समान श्रेष्ठ कुल वाला हो। नीतिवाक्यामृतम् में लिपिबद्ध है कि समान ऐश्वर्य व कुटुम्ब-युक्त तथा विषम गोत्र वाले वर-कन्याओं में विवाह संबंध श्रेष्ठ है। कुलाचार का पालन, कुलमर्यादा का संरक्षण और कुल का संवर्द्धन कुलीन के माध्यम से ही संभव है। मात्र वर ही नहीं अपितु वर का परिवार, उनका कुल भी देखना चाहिए। अपनी कन्या के लिए कुलीन, सभ्य व संस्कारित परिवार का चयन करना चाहिए जिससे कन्या आहार दान आदि देकर धर्म मार्ग पर गतिमान रहे और गृहस्थ धर्म का पालन कर परंपरा से निर्वाण प्राप्त कर सके।

---

4. **पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।**
आयुर्हीनजनानां च लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥

न्यायोपार्जित धन

वयो हवेदि णायेणं, णायेण अज्जिदं धणं।
अण्णायेण हि पावेसुं, अण्णायेण य अज्जिदं॥51॥
आणीदि संति-सोक्खं च, धणं णायस्स सव्वदा।
तत्तो सुह-समिद्धीए, अज्जेज्ज णायपुव्वगं॥52॥

अर्थ–न्याय से अर्जित धन न्याय से ही खर्च होता है। अन्याय से अर्जित धन अन्याय से पाप कार्यों में व्यय होता है। न्याय का धन हमेशा सुख व शांति लाता है अतः सुख व समृद्धि के लिए न्यायपूर्वक धनार्जन करना चाहिए।

Money earned from justice is spent with justice and money earned from injustice is spent with injustice. Wealth of justice always brings tranquility so money should be earned justly for pleasure and prosperity.

भावार्थ–न्याय से अर्जित धन ही मनुष्य को सुख दे सकता है, वह धन ही फलता-फूलता है और मन प्रसन्न रहता है। ऐसे धन से मन निर्मल-पवित्र रहता है, पौरुष बढ़ता है और सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती है। नीति-न्याय से अर्जित धन सदैव सुख, समृद्धि और मानसिक शांति प्रदान करता है। न्याय से अर्जित धन ही पुण्य कार्यों में प्रयुक्त हो सकता है। अन्याय से अर्जित धन से या तो दान की भावना नहीं बनेगी और यदि दान में दिया भी तो वह पुण्य कार्य में लग नहीं पाएगा। अन्याय का धन चाहे चोरी हो, टैक्स में जाए, किसी भी गलत मार्ग से व्यय हो किंतु पूजन, मंदिर निर्माण आदि में नहीं लग पाता।

यदि किसी प्राणी का वध कर, सताकर झूठ, या चौर्यादि से धन अर्जन किया जाता है तो वह धन उसके सुख या शांति के लिए नहीं हो सकता। उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि न्यायपूर्वक थोड़ा भी धनार्जन किया जाए तो वही फलीभूत होता है, पुण्य कार्यों में व्यय होता है। ग्रंथकार यहाँ निर्देश देते हैं कि धन न्यायपूर्वक ही अर्जित किया जाना चाहिए।

यदि देश की आय भी अन्यायपूर्वक हो तो उस देश का धन भी युद्ध आदि में लग जाएगा किंतु वहाँ की प्रजा को सुख-शांति नहीं दे सकेगा। व्यक्ति का अन्यायार्जित धन बीमारी आदि में लग जाएगा किंतु सौख्य प्रदान न कर पाएगा। व्यक्ति का धन जैसा आता है वैसा ही चला जाता है।

एक बार एक वेश्या ने भी सोचा कि मैं तिर जाऊँ, मेरा कल्याण हो जाए इस उद्देश्य से वह श्राद्ध-पक्ष में किन्हीं महात्मा की खोज करने निकलती है। वेश्या स्व कल्याण की भावना से गंगा के किनारे पहुँची, वहाँ त्रिशूलादि से युक्त साधक को देखा और प्रणाम कर निवेदन किया कि 'हे प्रभु! आपके दर्शन कर मैं धन्य हुई यदि आप मेरे घर लगातार पंद्रह दिन भोजन कर लें तो मैं

कृतार्थ हो जाऊँगी।' साधक ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। जब सोलहवाँ दिन आया तब वेश्या ने कहा अब आप मुझे आशीर्वाद दें जिससे मैं पापों से मुक्त हो जाऊँ।

बोली 'महात्मा जी! मुझे क्षमा करें। मैंने आपसे एक बात छिपायी मैं सद्गृहस्थ नहीं वेश्या हूँ। मैंने जो धन पाप से कमाया था उसे पुण्य में लगा दिया।' यह सुन वह साधक कहता है–

सोलह तिथि पूरी भईं, खायी खीर और खांड।
पौ को धन पौ में गयो, तुम वेश्या हम भाँड़॥

तुमने पंद्रह दिन मेरी खूब सेवा की, खूब पकवान खिलाए किंतु तुम क्या सोच रही हो यदि तुम सद्गृहस्थ नहीं तो मैं भी साधक नहीं, मैं भाँड हूँ। पंद्रह दिन अच्छे भोजन के लिए साधक बन गया था। जैसा तुमने कमाया, वैसा ही तुम्हारा चला गया।

यथार्थता है कि व्यक्ति जैसे कमाता है उसका धन वैसे ही खर्च हो जाता है। न्याय मार्ग से आया धन पुण्य में और अन्याय से आया पाप कार्यों में चला जाता है। अतः गृहस्थ को न्यायपूर्वक ही धनार्जन करना चाहिए जिससे वह सुख शांति व समृद्धि प्राप्त कर सके। 'मेरी भावना' की पंक्ति हैं–

अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे।
तो भी न्याय मार्ग से मेरा, कभी न पग डिगने पावे॥

परिस्थितियाँ कितनी भी जटिल क्यों न हों किंतु न्याय पथ से कभी भी पद स्खलित न हों। कहा भी है–

न्यायेनोपार्ज्यते यच्च तदल्पमपि भूरिशः।
बिन्दुशोऽप्यमृतं साधु क्षाराब्धेर्वारिसंचयात्॥

न्याय से उपार्जित धन थोड़ा भी बहुत माना जाता है क्योंकि लवणसमुद्र के जल की अपेक्षा अमृत एक बूंद भी श्रेष्ठ होता है। न्याय मार्ग पर शूलों का होना संभव है किंतु उस मार्ग के पथिक पहुँचते सुख-शांति के उस महल में हैं जिसमें रत्न आदि धरोहर के रूप में सुरक्षित हैं जबकि अन्याय का मार्ग देखने में सरल सुलभ होता है किंतु उस पर गतिमान् राही पहुँचते दुःख के दरिया तक हैं। अतः सुख-शांति के लिए न्यायपूर्वक ही धनार्जन करना गृहस्थों को उचित है।

समीचीन जीविकोपार्जन

जम्मि कज्जम्मि जो पाणी, णिउणो हु करेज्ज तं।
सुकज्जाणि कुणित्ता सो, उप्पायदु सुजीवियं॥53॥

अर्थ–जो प्राणी जिस कार्य में निपुण है वह उस कार्य को करे। अच्छे कार्यों को करके ही समीचीन जीविका का उपार्जन करना चाहिए।

A person should do that work in which he is skilled. True livelihood should be earned by good deeds.

भावार्थ–धन गृहस्थ की मूलभूत आवश्यकता है। धन के अभाव में गृहस्थ का सुखमय जीवन संभव नहीं। धनहीन से गौरव, पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि सब विमुख हो जाते हैं। जिस प्रकार तेल से रहित दीपक, घी से रहित भोजन और जीव से रहित शरीर सुशोभित नहीं होता है। उसी प्रकार द्रव्य से रहित मनुष्य सुशोभित नहीं होता।[1] गृहस्थ की शोभा धन से वृद्धिंगत होती है अतः गृहस्थ को धनार्जन करना इष्ट ही है।

कहा भी है–धनहीन पुत्र की माता निंदा करती है, पिता प्रशंसा नहीं करता, भाई संभाषण नहीं करता, सेवक क्रोध करता है, पुत्र साथ नहीं देता, स्त्री आलिंगन नहीं करती और धनयाचना की शंका से मित्र वार्तालाप भी नहीं करता इसीलिए हे सुबुद्धिशालि जन! धन का उपार्जन करो, उससे सब वश में रहते हैं।[2]

ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए धन अनूठा साधन है। धन को परिभाषित करते हुए कहा भी गया है कि जिससे मनुष्यों के सभी प्रयोजन, लौकिक व पारलौकिक सुख आदि कार्य सिद्ध हों उसे धन कहते हैं।[3] संसार में धनी व्यक्ति गुणज्ञ, श्रेष्ठ माना जाता है अतः शास्त्रकारों ने जीविकोपयोगी साधनों द्वारा न्यायपूर्वक धन संचय करने का उपदेश दिया है।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी ने वृहत् स्वयंभू स्तोत्र में प्रतिपादित किया है कि इतिहास के आदिकाल में जब प्रजा की जीवनरक्षा के साधन कल्पवृक्ष नष्ट प्रायः हो चुके थे उस समय प्रजा की प्राण रक्षा के इच्छुक प्रजापति भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर ने सबसे पहले उसे कृषि आदि जीविकोपयोगी साधनों में प्रेरित किया था। आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने भी कहा कि उस

---

1. **तैलहीनो यथा दीपो घृतहीनं च भोजनम्।**
   जीवहीनो यथा कायो द्रव्यहीनस्तथा नरः॥
2. **माता निंदति नाभिनंदति पिता भ्राता न संभाषते,**
   भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता न नालिंगते।
   अर्थं प्रार्थ नशंकया न कुरुतेऽप्यालापमात्रं सुहृत्,
   तस्माद् द्रव्यमुपार्जयस्व सुमते! द्रव्येण सर्वे वशाः॥
3. **यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः। नी.वा.**

समय भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा की जीवनरक्षा के लिए उसे असि, मसि लेखन, कृषि, विद्या, शिल्प व वाणिज्य इन जीविकोपयोगी छः साधनों का उपदेश दिया था।[4]

ग्रंथकार भी यहाँ गृहस्थों के हितार्थ निर्देशित करते हैं कि धनार्जन के इच्छुक जन उसी कार्य के माध्यम से धनार्जन करें जिसमें वे कुशल हैं। रत्नपरीक्षक रत्नों का व्यापार, अश्वपरीक्षक अश्वों का, वस्त्रादि में निपुण उससे संबंधित व्यापार, मशीनरी में कुशल उससे संबंधित व्यापार करें। क्योंकि अकुशल कार्य को करने से लाभ तो दूर हानि की संभावना ही अधिक होगी। यदि किसी विशेष कार्य को करने की आकांक्षा हो तो पहले उसे सीख लें, उसमें निपुणता प्राप्त कर लें पुनः उसे करने पर लाभ होगा।

ग्रंथकार इसी के साथ कह रहे हैं कि निपुणता समीचीन, श्रेष्ठ कार्य में होनी चाहिए। जो कार्य आर्य संस्कृति, कुल-वंश परंपरा के अनूकुल, प्राणियों की हिंसा पापों से दूर, मानवता के गौरव में वृद्धि करने वाला हो। गृहस्थ धनार्जन करे किंतु समीचीन ढंग से, अन्याय मार्ग से नहीं। वही उपार्जन समीचीन कहलाता है जो न्याय मार्ग से अच्छे कार्यों के द्वारा किया गया हो। न्यायोचित साधनों द्वारा संचित किया गया धन ही निःस्वार्थ व्यक्ति के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला होता है इससे विपरीत धन पुण्य क्षय व पाप संचय का कारण बनता है। अतः धनार्जन से पूर्व परीक्षण आवश्यक है कि धन संचय की यह पद्धति पाप का कारण तो नहीं, निम्नतर तो नहीं, यदि है तो हेय है। ग्रंथकार द्वारा बताए गए कुशल श्रेष्ठ कार्य से न्याय मार्ग से धनार्जन करना गृहस्थ के लिए उपादेय है और धन के माध्यम से दानादि करे तो वह पुण्य का कारण भी है।

---

4. **असिर्मषिः कृषिविद्या वाणिज्ये शिल्पमेव वा।**
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे॥ आ.पु.

जीव का राजनैतिक स्वरूप

राजनीति

णीदी रहस्सपुण्णा जा, सज्जणाणं हिदंकरा।
दुट्ठणिग्गाहि-विज्जा य, रायणीदी हु भण्णदे।।54।।
वड्ढगा सुहसंतीणं, सव्वाणं च हिदंकरा।
अहिंसा-धम्म-संजुत्ता, रायणीदी हु भण्णदे।।55।।

अर्थ–रहस्यपूर्ण नीति जो सज्जनों का हित करने वाली है, दुष्टों का निग्रह करने वाली है वह राजनीति कही जाती है। धर्म व अहिंसा से युक्त वह नीति जो सुख शांति वर्द्धक और सबके लिए हितकारी हो, निश्चय से राजनीति कही जाती है।

Policy which is mysterious, beneficent for noble people and knowledge which restrains the wicked is called politics. Politics is that which is fillip of tranquility, beneficent to all and endowed with non- violence.

भावार्थ–नीति सोच समझकर बनाये गये सिद्धांतों की प्रणाली है जो उचित निर्णय लेने और सही परिणाम पाने में राज्य हित के लिए बनी नीति राजनीति है। राष्ट्र के विस्तृत रूप से संबंधित विद्या राजनीति है। यहाँ ग्रंथकार राजनीति को परिभाषित करते हुए कहते हैं रहस्यपूर्ण नीति जो सज्जनों का हित करने वाली है और दुष्टों का निग्रह करने वाली है। देश की वृद्धि, समृद्धि के लिए नीतियों का प्रसारण करना, ऐसी प्रणाली बनाना जिससे शिष्टों का, सदाचारी, सज्जनों का कल्याण हो, उन्नति हो उनका अहित न हो सके, असामाजिक तत्त्वों से कोई कष्ट न हो और दुष्टों को दंडित कर अपराध व अपराधियों को बढ़ने से रोके, दुष्टों का निग्रह करती हो।

पुनः राजनीति का लक्षण कहा जो सुख-शांति की वर्द्धक हो। किस प्रकार से देश में सुख-शांति की स्थापना हो सकती है इस प्रकार की प्रणाली या सम्यक् नीति राजनीति है। जो नीतियाँ देश में सुख-शांति की वृद्धि न कर सकें वह समीचीन नहीं। राजनीति किसी का अहित करने वाली नहीं होती, सर्व कल्याणकारी समीचीन सर्व हितकारी होती हैं।

प्रथम लक्षण बताते हुए कहा जो सज्जनों का हित, दुष्टों का निग्रह करने वाली हो। पुनः जो सुख-शांति की वर्द्धक और सर्व हितकारी हो। ग्रंथकार अंतिम लक्षण बताते हुए कहते हैं जो धर्म और अहिंसा से युक्त हो। धर्मनीति में राजनीति होना अहितकारी है किंतु राजनीति में धर्म का होना अति आवश्यक है। धर्म वह निर्मली-फिटकरी है जो राजनीति रूपी जल को स्वच्छ, निर्मल बनाती है। यदि धर्म का अंश राजनीति में न हो तो वे नीतियाँ सर्वहितकारी नहीं हो सकतीं। तथा वे नीतियाँ अहिंसा से भी युक्त हों। सरकार ने सड़क पर चलने हेतु नियम बनाये, रैड लाइट आदि को अपनाया तो अहिंसा के लिए, पुलिस कर्मी, मजिस्ट्रेट आदि सभी अहिंसा के लिए, सुरक्षादि सब

अहिंसा के लिए हैं। दुनिया में समस्त कार्य अहिंसा के लिए ही हैं। कानून, विधानसभायें, मंत्री आदि सब अहिंसा के लिए हैं अतः राजनीति धर्म व अहिंसा से संयुक्त हो।

कई राजाओं के राज्य में उनकी सम्यक् नीतियों के माध्यम से सुख-शांति रही। राजा राम का राज्य जिनके समय प्रजा ने सम्यक् सुख-शांति का अनुभव किया। राजा अमोघवर्ष जिनके समय जैन धर्म राष्ट्र धर्म के रूप से जाना जाता था उनके राज्य में भी सुख, शांति, समृद्धि रही। राजा छत्रसाल जो कई बार भेष बदलकर प्रजा के बीच पहुँचकर उनके जीवन को देखते थे कि कहीं इन्हें कोई कष्ट, दुःख, पीड़ा तो नहीं, पुनः उन्हें दूर करने का प्रयास करते था देश में नागरिक स्वतंत्रता के साथ, निश्चिंत हो रह सके ऐसी नीतियाँ बनाते थे। सम्राट अशोक ने अहिंसा के प्रसार के लिए जगह-जगह शिलालेख लिखवाये। दिल्ली कोटला में अशोक का शिलालेख है कि मेरे राज्य में निर्ग्रन्थ मुनि व अन्य जो भी साधु इधर-उधर घूमें, विहार करें मेरे मात्य, अमात्य और महामात्य सब ऐसी व्यवस्था करें कि उन्हें कोई बाधा कष्ट न हो। यही राजनीति का सही स्वरूप है जिससे प्रजा अहिंसादि का पालन करती हुई जीवन को सुख-शांति से व्यतीत कर सके।

इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ राजनीति को सम्यक् रूप से परिभाषित किया।

चार नीति

समो-दाणो तहा दंडो, भेयो णीदी चदू सया।
सासया पालदे रायो, सो पयाए हियंकरो॥56॥

अर्थ–साम, दाम, दंड व भेद ये चार नीतियाँ शाश्वत हैं। जो राजा इनका अच्छी तरह पालन करता है, वह प्रजा का हित करने वाला है।

There are four eternal policies- ***Saam, Daam, Dand and Bhed***. A king who obeys these he is benevolent to subjects.

भावार्थ–राज्य के समीचीन संचालन हेतु राजा को नीतियों का ज्ञाता अवश्य ही होना चाहिए। विपक्षी राजा को अथवा प्रतिकूल व्यक्ति को वश में करने के चार उपाय होते हैं। वे **साम, दान, दंड व भेदनीति हैं।**

सामनीति–यह सामनीति पाँच प्रकार की है। प्रथम है **गुण संकीर्तन** अर्थात् प्रतिपक्षी या प्रतिकूल व्यक्ति को अपने वश में करने के लिए उसके समक्ष उसकी प्रशंसा करना। द्वितीय है **संबंधोपाख्यान** अर्थात् जैसे भी प्रतिकूल व्यक्ति की मित्रता दृढ़ होती हो, उसे उसके प्रति कहना। तृतीय है **प्रतिकूल व्यक्ति की भलाई करना।** पुनः चतुर्थ है आयति प्रदर्शन अर्थात् ''हम लोगों की भावना मैत्री की है जिससे आपका और हमारा सभी का भविष्य सुखमय हो सके।'' इस प्रकार प्रयोजन सिद्ध करने वाले को प्रतिकूल व्यक्ति के सामने कथन करना चाहिए, ऐसा भाव प्रकट करना चाहिए। और पाँचवा है–**आत्मोपसंधान** अर्थात् मेरी वस्तु, धनादि आप अपना ही मानें, आप इसका प्रयोग कर सकते हैं, इस प्रकार दूसरे-प्रतिकूल व्यक्ति को वश में करने के लिए कहना।

प्रेम से, प्रशंसा से, गुणानुवाद से अथवा अपनत्व भाव दिखाकर सामने वाले को वश में करना, यह **सामनीति** है।

दान नीति–बहुत धन आदि कि रक्षा के लिए अपना थोड़ा सा धन देकर शत्रु को या प्रतिपक्षी को प्रसन्न कर लेना, यह दान नीति है। आचार्य श्री सोमदेव स्वामी भी कहते हैं–

''बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानं।''

जहाँ पर विजिगीषु शत्रु से अपनी प्रचुर संपत्ति के संरक्षणार्थ उसे थोड़ा सा धन देकर प्रसन्न कर लेता है उसे उपप्रदान या दान नीति कहते हैं।

भेदनीति–शत्रु सेना में परस्पर भेद डालना, यह भेदनीति है। एकता में बहुत शक्ति होती है। शत्रु सैन्य बल का, शक्ति का विघटन करने के लिए उनकी सेना में फूट डालना भेद नीति है।

''योगतीक्ष्णगूढ़पुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः''

विजिगीषु अपने सैन्य-नायक, तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचर तथा दोनों तरफ से वेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु की सेना में परस्पर एक दूसरे के प्रति संदेह या तिरस्कार उत्पन्न कराकर भेद या फूट डालने को भेद नीति कहते हैं।

दंडनीति–शत्रु पर अधिकार करने के लिए, उसे वश में करने के लिए उसका धनादि अपहरण करना, उसे बंदी बनाना, उसका वध करना आदि दंड नीति के अंतर्गत आता है।

''वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः''

शत्रु का वध करना, उसे दु:खित करना या उसके धन का अपहरण करना दंडनीति है।

इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ राजा के योग्य नीतियों का कथन किया।

राजनीति बिना सुशासन संभव नहीं

पिदरेण विणासक्को, पालणं सिसु-रक्खणं।
देस संचालणं सम्मं रायणीदिं विणा तधा॥57॥
जधा तवो हु णो मोक्खो, वेरग्गं संजमं विणा।
सुसासणं, सुहं संती, रायणीदीइ णो विणा॥58॥

अर्थ–जिस प्रकार माता-पिता के बिना कदापि शिशु का पालन व रक्षा नहीं की जा सकती उसी प्रकार सुराजनीति के बिना देश का सम्यक् संचालन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार बिना संयम के मोक्ष और बिना वैराग्य के तप नहीं होता उसी प्रकार राजनीति के बिना सम्यक् शासन, सुख व शांति नहीं होती।

Just as a child cannot be reared and protected without parents, similarly the country cannot be managed properly without politics. Just as there is no salvation without detachment, austerity and restraint similarly there can be no rule and tranquility without politics.

भावार्थ–शिशु का पालन-पोषण माता-पिता करते हैं उनके बिना शिशु का सम्यक् रूप से पालन पोषण नहीं किया जा सकता। माता-पिता जो देखरेख, सुविधाएँ अपनी संतान को प्रदान कर सकते हैं, जिस प्रकार की शिक्षादि का प्रबंध कर सकते हैं वैसा कोई अन्य नहीं। इसी प्रकार राजनीति के बिना देश का सम्यक् संचालन संभव नहीं। राज्य को चलाने के लिए नीतियाँ आवश्यक हैं। राजनीति के बिना राज्य संचालन की मात्र कल्पना ही की जा सकती है किंतु वास्तविकता में यह असंभव प्रतीत होता है।

अथवा जिस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने हेतु संयम धारण करना आवश्यक है, सम्यक् तप के लिए वैराग्य आवश्यक है उसी प्रकार सम्यक् शासन व सुख-शांति के लिए राजनीति आवश्यक है। आज तक बिना संयम के किसी ने भी मुक्ति को प्राप्त नहीं किया। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने अपने अंतिम उपदेश में कहा है **''बाबा रे भ्यूनका, संयम धारण करा, संयम धारण किये बिना मुकति नाहीं।''** मुक्ति प्राप्ति का प्रथम सोपान चारित्र है तथा बिना वैराग्य के सम्यक् तप नहीं होता। संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति का नाम वैराग्य है और जब भव, तन, भोग से विरक्ति होती है तब ही तप का आचरण किया जा सकता है।

इस प्रकार ग्रंथकार सम्यक् राजनीति की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे माता-पिता के बिना शिशु पालन, संयम के बिना मोक्ष और वैराग्य के बिना तप संभव नहीं उसी प्रकार राजनीति के बिना देश का सम्यक् संचालन, सम्यक् शासन, सुख व शांति संभव नहीं। आचार्यों ने कहा भी है कि जिस शासक को राजनैतिक ज्ञान न हो वह राज्य नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार आक्रमण

करने वाला सिंह मार डाला जाता है। उसी प्रकार नीति ज्ञान से शून्य केवल क्रूरता दिखाने वाला भी नाश को प्राप्त होता है।[1] जिस शासक में राजनैतिक ज्ञान नहीं होता उसका राज्य नष्ट हो जाता है, वह पुनः राज्य का संचालन नहीं कर सकता। वही शासक बुद्धिमान है जिसने नीतिशास्त्रों के अध्ययन से राजनैतिक ज्ञान प्राप्त किया है। जो शासक स्वयं राजनीति का ज्ञाता हो, राजनैतिक ज्ञानवान् हो अथवा मंत्री के द्वारा बताये गये राजनैतिक सिद्धांतों का पालन करने वाला हो अर्थात् उसके अनुसार देश का संचालन करने वाला हो तो राज्य का सुसंचालन वह शासक कर सकता है।

1. **सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम्। –नी. वा.**

दूर करें राजनीति की विकृति

अज्ज वि रायणीदीए, वियडी किं चि विज्जदे।
सुजोग्ग-पुरिसट्ठेण, तं हरेज्ज सुणायगं॥59॥

अर्थ–राजनीति में आज भी कुछ विकृतियाँ एवं उद्भव हैं सुयोग्य पुरुषार्थ करके अच्छे नायक को उनको दूर करना चाहिये।

There are some distortions in politics even today. Good leaders should overcome them by worthy efforts.

भावार्थ–ग्रंथकार ने राजनीति को परिभाषित करते हुए उसकी महत्ता बताई। किंतु वर्तमान में राजनीति में कुछ विकृतियाँ दिखाई देती हैं। राजनीति से तो धर्म का बहिष्कार हो गया और इसके विपरीत धर्म में राजनीति का समावेश हो गया। जो राजनीति प्रजा के हित के लिए थी वह राजनीति मात्र स्वार्थ बन करके रह गयी जहाँ प्रजा का हित तो गौण हो गया और इतना ही नहीं कई बार स्वार्थपूर्ति के लिए प्रजा का अहित तक हो जाता है। राजनीति राष्ट्र के सम्यक् संचालन के लिए ही होती है किंतु यदि राष्ट्र में सुख-शांति नहीं है तो वह राजनीति नहीं उसका विकृत रूप है।

कर्त्तव्यों की चोरी, अधिकारों का दुरुपयोग, अनाधिकारी चेष्टायें, लोभ-आसक्ति ये सभी राजनीति को विकृत बना देती हैं, और पुनः व्यक्ति अपने आचार, विचार, व्यवहार से गिर जाता है, तब भ्रष्टाचार, अत्याचार रूपी घुन देश को खोखला बना देता है। राष्ट्र संचालन हेतु राजनीति रूपी जल में स्वार्थ आदि की मिट्टी घुलते ही वह आज ऐसी दलदल बन चुकी है जिसमें मात्र भ्रष्टाचार की दुर्गंध और देश के पतन की गहराई है। राजनीति का अर्थ हिंसा नहीं, अहिंसा है। राजनीति का अर्थ देश को खोखला बनाना नहीं, समृद्ध बनाना है। राजनीति का अर्थ स्वयं के स्वार्थों की पूर्ति करना नहीं, प्रजा का हित करना है। राजनीति का अर्थ अपराधियों का संरक्षण करना नहीं, उन्हें दण्डित करना है। राजनीति का अर्थ निर्दोषों पर अत्याचार करना नहीं, उन्हें संरक्षण देना है। राजनीति का अर्थ रिश्वत लेकर अपने घर भरना नहीं अपितु नागरिकों की सहायता करना होता है। राजनीति का अर्थ उजाड़ना नहीं, निर्माण होता है। किंतु जब प्रकृति विकृति में आती है तो भूकंप, बाढ़, टाइफून आदि आते हैं तब सब तहस-नहस हो जाता है।

विकृत रूप किसी का भी हो प्रलय उत्पन्न करने वाला ही होता है। जब राजनीति में विकृति आती है तब प्रजा में त्राहि-त्राहि मच जाती है, देश का संतुलन बिगड़ जाता है, उसकी समृद्धि रुक जाती है, सुख-अमन-शांति नष्ट हो जाती है। विकृत राजनीति वह अमरबेल है जिसकी स्वयं की तो कोई जड़ नहीं किंतु जिस वृक्ष पर चढ़ती है उसे सुखा देती है, नष्ट कर देती है। विकृत राजनीति देश को पराधीनता की बेड़ियों में डाल देती है।

अतः अच्छे शासक को, नायक को पुरुषार्थ कर उन विकृतियों को दूर करना चाहिए। देश को समृद्धशाली, विकसित बनाने हेतु इन बुराईयों को दूर करना जरूरी है जिन बुराईयों ने व्यक्ति के हृदय में राजनीति नाम से भी घृणा उत्पन्न की। भ्रष्टाचारादि की जड़ नीचे नहीं होती, यह ऐसा वृक्ष है जो ऊपर से पैदा होता है। **'यथा राजा तथा प्रजा'** यदि राजा भ्रष्ट हो तो यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि प्रजा ईमानदार बनी रहे, और यही भ्रष्टाचार राज्य को नष्ट कर देता है।

एक राजा युद्ध से लौट रहा था, जंगल में तंबू आदि लगाकर रुकने की व्यवस्था की गयी। भोजन तैयार किया किंतु नमक कम पड़ गया। पास के गाँव में एक वजीर को भेजा कहा नमक ले आओ। वह वजीर नमक ले करके आया। राजा ने पूछा कितने का नामक लाए हो? वह बोला कितने का–'अरे आपके लिए नमक लाऊँ और पैसे देकर आऊँ। अरे! राजा के लिए नमक चाहिये यह सुन लोगों ने कहा घी ले जाओ, शक्कर भी ले जाओ। मुझसे किसी ने पैसे ही नहीं लिए। राजा ने कहा ये नमक हम नहीं खायेंगे पहले नमक के पैसे देकर आओ तब हम स्वीकार करेंगे। यदि राजा कणभर नमक की चोरी करेगा तो प्रजा मन भर कनक की चोरी करेगी।

इस प्रकार के सिद्धांत को धारण करने वाले शासक राजनीति में आयी विकृतियों को दूर कर सकते हैं, उनके माध्यम से भ्रष्टाचार का उन्मूलन किया जा सकता है। अतः वर्तमान में राजनीति में आई विकृति व उद्‌भवों को अच्छे नायक के द्वारा दूर किया जाना चाहिये जिससे देश की जड़ें मजबूत हों, समृद्धशाली बनें और प्रजा सुख शांति का अनुभव कर सके।

चार राजविद्याएँ

चदुहा राय-विज्जाओ, तयी वत्ताणविक्खिगी।
दंडणीदी तहा विज्जा, णिद्दिट्ठा हु जिणागमे॥60॥

अर्थ–त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी तथा दंडनीति विद्या ये चार प्रकार की राजविद्याएँ जिनागम में कही हैं।

There are four kinds of kingship in jina scripture-scripture **(*trayi*)**, agriculture and commerce **(*Vaarta)***, politics and public administration ***(danda-niti)*** and ***Anviksiki,*** the investigative reflective science.

भावार्थ–**त्रयी विद्या–''चत्वारों वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गानीतिहास- पुराण-मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी। नी. वा.**

चार वेद हैं–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। आदिपुराण में कहा भी है **'श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशांगमकल्मषं'** निर्दोष-अहिंसा धर्म का निरूपक आचारांग आदि द्वादशांग श्रुत-शास्त्र-जो कि उक्त प्रथमानुयोग आदि 4 अनुयोगों में विभाजित हैं, उसे वेद कहते हैं।

इन चारों वेदों के 6 अंग हैं–इन छह अंगों के ज्ञान से उक्त चारों प्रकार के वेदों का ज्ञान हो सकता है–**शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद व ज्योतिष।**

शिक्षा–स्वर और व्यंजनादि वर्णों का शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखन को बताने वाली विद्या को 'शिक्षा' कहते हैं।

कल्प–धार्मिक आचार-विचार या क्रियाकाण्डों-गर्भाधान आदि संस्कारों-के निरूपण करने वाले शास्त्र को 'कल्प' कहते हैं।

व्याकरण–जिससे भाषा का शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलने का बोध हो, वह व्याकरण है।

निरुक्त–यौगिक, रूढ़ि और योगरूढ़ि शब्दों के प्रकृति और प्रत्यय आदि का विश्लेषण करके प्राकरणिक द्रव्य पर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक पदार्थ के निरूपण करने वाले शास्त्र को निरुक्त कहते हैं।

छन्द–पद्यों-वर्णवृत्त और मात्रवृत्त छन्दों-के लक्ष्य और लक्षण के निर्देश करने वाले शास्त्र को 'छंदशास्त्र' कहते हैं।

ज्योतिष–ग्रहों की गति और उससे विश्व के ऊपर होने वाले शुभ और अशुभ फलों को तथा प्रत्येक कार्य के संपादन के योग्य शुभ समय को बताने वाली विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं। इस प्रकार ये 6 वेदांग हैं।

इतिहास, पुराण, मीमांसा (विभिन्न और मौलिक सिद्धांत बोधक वाक्यों पर शास्त्राविरुद्ध युक्तियों द्वारा विचार करके समीकरण करने वाली विद्या) न्याय (प्रमाण और नयों का विवेचन करने वाला

शास्त्र) और धर्मशास्त्र (अहिंसा धर्म के पूर्ण तथा व्यावहारिक रूप को विवेचन करने वाला उपासकाध्ययन शास्त्र) उक्त 14 विद्यास्थानों को त्रयी विद्या कहते हैं।

त्रयी विद्या से मनुष्यों को धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान होता है। इससे प्रजा अपने कर्त्तव्यों में प्रीतिपूर्वक प्रवृत्ति करने से नैतिक आचार-विचारों के परिपालन में प्रवृत्त किए जाते हैं।

वार्ता विद्या–कृषि, पशुपालन और व्यापार ये वार्ताविद्या के विषय हैं। यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्रादि खनिज पदार्थ और नौकर-चाकर आदि की देने वाली परम उपकारिणी है। इसी विद्या से उपार्जित कोश और सेना के बल पर स्वपक्ष व परपक्ष को वश में कर लेता है।

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम्। –नी.वा.

खेती, पशुपालन और व्यापार करना यह वैश्यों की जीविका-जीवन निर्वाह का साधन है।

जिस राजा के राज्य में वार्ता–कृषि, पशुपालन व व्यापार आदि प्रजा के जीविकोपयोगी साधनों की उन्नति होती है, वहाँ पर उसे समस्त विभूतियाँ (हाथी, घोड़े व स्वर्णादि) प्राप्त होती हैं। इस नीति से धान्यादि संग्रह कर राजा अपने राज्य को सुदृढ़ बनाता है।

आन्वीक्षकी विद्या–आत्मा-परमात्मा का ज्ञान कराने वाली, आत्म व आध्यात्म विद्या आन्वीक्षकी विद्या है।

आत्ममनोमरुत्तत्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोग॥

आत्मा, मन, शरीर में वर्तमान प्राण वायु–कुंभक, पूरक व रेचक तथा पृथ्वी, जल अग्नि और वायु आदि तत्त्वों के समान और दृढ़ निश्चलता-स्थिरता को अध्यात्म योग-आत्मध्यान (धर्मध्यान) कहते हैं। समस्त इंद्रिय और मन की चंचलता न होने देना ही योग-ध्यान है। ऋषि पुत्रक विद्वान् ने कहा है–

आत्मा मनोमरुत्तत्वं सर्वेषां समता यदा।
तदा त्वध्यात्मयोगः स्यान्नराणां ज्ञानदः स्मृतः॥

जिस समय आत्मा, मन व प्राण वायु की स्थिरता होती है उस समय मनुष्य को सम्यग्ज्ञान का जनक अध्यात्म योग प्रकट होता है। आध्यात्म विद्या का जानकार राजा सहज (राजसिक व मानसिक दुःख), शारीरिक कष्ट, मानसिक एवं आगन्तुक दुःखों से पीड़ित नहीं होता।

दंडनीति विद्या–''यथादोषं दण्डप्रणयनं दंडनीतिः'' अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दंड देना दंडनीति है–जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दंड देना यही दंडनीति है। जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया उसके अनुकूल दंड देना तो न्यायोचित दंड है और उससे अधिक दंड देना जैसे छोटी चोरी पर आजीवन कारावास तो वह तीक्ष्ण दंड है।

गुरु विद्वान् ने कहा है–

स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन्।
अपराधकपापेन लिप्यते न विशुद्धचति।।

राजा को स्मृतिशास्त्र में निर्देश किए हुए के अनुसार अपराधियों को उनके अपराधानुकूल दंड देना चाहिए, जो राजा उससे न्यूनाधिक दंड देता है, वह अपराधियों के पापों से लिप्त हो जाता है, अतः वह विशुद्ध नहीं होता है।

नीतिकार चाणक्य ने भी कहा है कि 'राजा का कर्त्तव्य है कि वह पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुकूल पक्षपात रहित होकर दंड दे क्योंकि न्यायोचित दंड से ही इस लोक और पर लोक की रक्षा करनी चाहिए। दंडनीति के आश्रय से प्रजा के धर्म, व्यवहार और चारित्र की रक्षा करनी चाहिए।

जिस प्रकार आयुर्वेद-शास्त्र के अनुकूल औषधि सेवन से रोगी के समस्त विकृत दोष-वात, पित्त, कफादि विकार या उससे होने वाला बुखारादि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार अपराधियों को दंड देने से उनके समस्त अपराध नष्ट हो जाते हैं।

राष्ट्र को प्रजा-फटकों कण्टकों से सुरक्षित रखना, प्रजा को धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थों का परस्पर की बाधारहित पालन कराना, उसे कर्त्तव्य में प्रवृत्त कराना, अकर्तव्यों से निवृत्त करना, राज्य की रक्षा, उसकी वृद्धि, समृद्धि आदि इन विद्याओं का प्रयोजन है।

शासक

राजा का लक्षण

सासगो सोहदे णिच्चं, दूरदिट्ठा परक्कमी।
णयवतो सयायारी, णिब्भयो तच्च-चिंतगो॥61॥
तप्परो खेम-रक्खासु, मज्जाइल्लाणुसासिदो।
दाणी धीरो सुधम्मप्पा, विणयी पया-वच्छलो॥62॥
णायसीलो य विण्णाणी, स देसुण्णदि-कारगो।
हिदंकरो पयाए हु, सव्वंगीण-विआसगो॥63॥

अर्थ–दूरदृष्टा, पराक्रमी, सदाचारी, सुनीतिज्ञ, निर्भयी, तत्त्व-चिंतक, क्षेम व रक्षा में तत्पर, मर्यादित, अनुशासित, दानी, धीर, सुधर्मात्मा, विनयी, प्रजा-वत्सल राजा नित्य ही शोभा को प्राप्त होता है।

King who is farsighted, chivalric, virtuous, noble, fearless, enlightened, active in defence and well-being, restrained, disciplined, donor, patient, pious, humble, subject- loving, just, beneficent to his subjects and developer of all, gets the glory.

भावार्थ–किसी भी व्यक्ति की महत्ता उसके गुणों से वृद्धिंगत होती है। अपने नीर-क्षीर विवेक गुण के कारण राजहंस सर्वत्र प्रशंसनीय होता है और वाणी के कारण कौआ लोक में निंदनीय माना जाता है। व्यक्ति के गुण उसके व्यक्तित्व विकास के महत्वपूर्ण घटक हैं। इसके बिना वह प्रशंसनीय या सराहनीय नहीं हो सकता। किसी भी पद की गरिमा बनाए रखने के लिए उस पद के योग्य गुणों का होना अत्यंतावश्यक है। अतः संपूर्ण प्रजा पर अनुशासन करने वाला अनुशासक या शासन करने वाला शासक जो संपूर्ण प्रजा का निर्देशन करता हो उसे किन गुणों से अलंकृत होना चाहिये इसका निर्देश ग्रंथकार यहाँ करते हैं।

राजा दूरदृष्टा होना चाहिये। किसी राज्य के साथ संधि, विग्रह आदि का प्रतिफल क्या होगा, इसका राज्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह सब राजा को दृष्ट होना चाहिए। आने वाली आपत्ति का पूर्वाभास होना चाहिए अर्थात् यदि किसी राज्य को कोई प्रत्युत्तरादि दिया हो तो ज्ञात हो इसका प्रतिफल क्या होगा, राजा का कौन सा निर्णय प्रजा व राज्य के लिए सुखद होगा, किसी भी नीति आदि के प्रयोग का प्रभाव क्या होगा यह सभी राजा जान ले। राजा अपनी या अन्य राज्य की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव जानने वाला हो।

राजा पराक्रमी हो। सिंह के समान पराक्रम दिखा सेना को जीतने वाला हो। पराक्रमी राजा का राज्य दीर्घकाल तक ठहरता है क्योंकि शत्रु सहसा उस पराक्रमी राजा पर दृष्टि उठाने का साहस

नहीं करता। पराक्रमी राजा ही संपूर्ण प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। आचार्य श्री सोमदेव सूरी कहते हैं कि कुल परंपरा से चली आने वाली पृथ्वी किसी राजा की नहीं होती, बल्कि वह वीर पुरुष के द्वारा ही भोगने योग्य होती है,[1] अतः राजा को पराक्रमशील होना चाहिये। शुक्र ने भी कहा है कि वंश परंपरा से प्राप्त हुई पृथ्वी वीरों की है, कायरों की नहीं।[2]

राजा सदाचारी हो। सद् चारित्र का धारक हो, शीलवान् व शिष्टाचारी हो। **'आचारः कुलमाख्याति'** व्यक्ति का आचरण उसके कुल का कथन करता है। सुशील, कुलीन राजा का आचरण निर्मल होना चाहिये। क्योंकि राजा के आचरणानुसार ही प्रजा का आचरण होता है। सदाचरण के बिना राजा के सभी गुण व्यर्थ हैं। आचार्य महाराज कहते हैं जो सदाचार रूप वस्त्र से अलंकृत नहीं है, वह सुंदर वस्त्रों से वेष्टित होने पर भी नग्न ही है एवं सदाचार से विभूषित शिष्ट पुरुष नग्न होने पर भी नग्न नहीं गिने जाते, अतएव लोकप्रिय होने के लिए आचरण विशुद्ध रखना चाहिए।[4] सदाचारी मनुष्य लोक में प्रशंसनीय होता है। शील ही पुरुषों का आभूषण है, ऊपरी कटक-कुण्डलादि शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले हैं, अतः ये वास्तविक आभूषण नहीं।[5]

राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य चाहे वह वंश परंपरा से प्राप्त हुआ हो या अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किया गया हो उसको सुरक्षित, वृद्धिंगत व स्थायी बनाने हेतु सदाचार रूपी लक्ष्मी से होकर अपनी सैन्य या कोष शक्ति का संचय करता रहे, अन्यथा दुराचारी व सैन्य हीन होने से राज्य नष्ट हो जाता है। सदाचार व पराक्रम ये दोनों ही राज्य के मूल हैं।[6]

राजा सुनीतिज्ञ हो, नीतिवान् हो। नीति निपुण राजा ही राज्य का सम्यक् प्रकार संचालन करने में समर्थ है। साम, दानादि नीतियों का ज्ञाता अथवा कहाँ संधि, कहाँ विग्रह आदि करना है, इन सभी नीतियों का ज्ञान राजा को प्रजा की रक्षणार्थ आवश्यक है। यदि राजा संधि, विग्रह, यान, आसनादि का उचित स्थान, देश और काल के अनुसार प्रयोग करना नहीं जानता तो उसका राज्य नष्ट हो जाता है। जो राजनैतिक ज्ञानवान् हो उसका राज्य पराक्रमादि गुणों के साथ स्थायित्व प्राप्त कर सकता है।

---

1. **न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा। – नी. वा.**
2. **कातराणां न वश्या स्याद्यपि स्यात् क्रमागता।**
   परकीयापि चात्मीया विक्रमो यस्य भूपतेः॥
3. **स पुमान् पटावृतोऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चारित्रनावरणम्। नी.वा.**
4. **स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषितः सच्चरित्रेण॥ नी.वा.**
5. **शीलमलंकारः पुरुषाणां न देहखेदावहो बहिराकल्पः। नी.वा.**
6. **राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च।**

गुरु विद्वान् ने लिखा है कि जिस प्रकार बलवान् मनुष्य भी शस्त्रों, हथियारों से रहित होने के कारण चौरादिकों से मार दिया जाता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य भी नीतिशास्त्र का ज्ञान न होने से चौरादिकों या शत्रुओं से मार डाला जाता है।[7] नीति शास्त्र के ज्ञान के बिना शत्रुओं के वश में हो जाता है अतः राजा को नीतिशास्त्र का ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

राजा को निर्भीक होना चाहिए। यदि राजा ही भयभीत हो जाए तो प्रजा तो स्वतः ही भयभीत हो जायेगी। कहा भी है जिस प्रकार नदी को बिना देखे ही पहले से जूते उतारने वाला व्यक्ति हँसी का पात्र होता है उसी प्रकार शत्रु-कृत उपद्रव को जाने बिना पहले से ही भयभीत होने वाला व्यक्ति भी हँसी का पात्र होता है, अतः शत्रु का आक्रमण होने पर उसका प्रतिकार सोचना चाहिये।[8]

राजा को तत्त्व-चिंतक, तत्त्व-विचारक होना चाहिए। वस्तु स्वरूप का विचार करने वाला राजा शोकमग्न नहीं होता। क्योंकि आचार्यों ने कहा है तत्त्वज्ञानी कभी दुःखी नहीं होता। जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य सामने रखी शुभ-अशुभ वस्तु को नहीं देख सकता उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान से विहीन धर्म-अधर्म, हेय-उपादेय, कार्य-अकार्य को नहीं जान सकता।[9] तत्त्व चिंतक राजा कर्त्तव्य को जानता हुआ वस्तु स्थिति को समझकर राज्य का सम्यक् या समीचीन रूप से संचालन कर सकता है।

राजा सबकी क्षेम या रक्षा करने वाला हो। सबके कल्याण में राजा रत रहता हो और सभी की रक्षा में सदैव तत्पर रहता हो। राज्य में रहने वाले सभी प्राणी अर्थात् प्रजा, पशु, पक्षी आदि सभी की रक्षा करे। प्राणियों की रक्षा करना ही राजा का यज्ञ-पूजन है, न कि प्राणियों की बलि देना।[10] राजा को अपनी प्रचुर तीरंदाज व सैनिक शक्ति का उपयोग शरणागतों की रक्षार्थ करना चाहिये न कि निरपराध प्राणियों की हत्या में।[11]

राजा मर्यादित व अनुशासित हो। मर्यादा में रहने वाला ही मर्यादा में रख सकता है, अनुशासन में रहने वाला ही सबको अनुशासित कर सकता है। मर्यादा का उल्लंघन कर प्रत्येक व्यक्ति ने दुःख प्राप्त किया है। जिस-जिस ने भी मर्यादा का उल्लंघन किया है उसने स्वयं जीवन में आपत्ति को निमंत्रण दिया है। चाहे मर्यादा किसी के प्रति व्यवहार की हो, बोलने की हो, संबंधों की हो, खाने-पीने अथवा किसी की भी हो किंतु प्रत्येक स्थान पर मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। मर्यादा का उल्लंघन करने से धन-धान्यादि से समृद्धिशाली भूमि भी जंगल समान फल शून्य हो

---

7. **नीतिशास्त्रविहीनो यः प्रज्ञावानपि हन्यते।**
   परैः शस्त्रविहीनस्तु चौराद्यैरपि वीर्यवान्॥
8. **परैः स्वस्याभियोगपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव॥ नी.वा.**
9. **शुभाशुभं न पश्येच्च यथान्धः पुरतः स्थितं।**
   शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्माधर्मौ न विंदति॥-भागुरि
10. **प्रजपालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानालम्भः। नी.वा.**
11. **प्रभूतमपि नानपराधसत्वत्यापत्तये नृपाणां बलं धनुर्वा किंतु शरणागतरक्षणाय। नी.वा.**

जाती है, वह अरण्य के समान प्रतिभासित होती है।[12] अर्थात् सब कुछ नष्ट हो जाता है अतः राजा को मर्यादा का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यह मर्यादा जीवन के रेखांकन के समान है जो जीवन को सौंदर्य प्रदान करती है।

जिस प्रकार अनुशासन में चलती रेलगाड़ी, बहती हुई नदी अपने गंतव्य तक पहुँच जाती है उसी प्रकार मर्यादा में रहने वाला मनुष्य उन्नति के सोपानों पर गतिमान होता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अनुशासन मनुष्य की उन्नति में कारण है अतः उन्नति का इच्छुक राजा स्वयं अनुशासन में रहे व राज्य की उन्नति हेतु एवं सभी के हित के लिए सभी को अनुशासन में रखे।

राजा दानी हो। उदार हृदयी राजा दान दे पुण्य कोष को भी वृद्धिंगत करने वाला हो। दानादि की प्रवृत्ति श्रेष्ठ पुरुषों में पायी जाती है जिससे अनिष्ट, आपत्ति आदि का नाश हो जाता है। राजा को धन और श्रद्धानुकूल पात्रदान करना चाहिये, ऐसा करने से उसे अधिक कष्ट नहीं हो पाते।[13] दान राजा को लोक-प्रिय बनाता है। दान-पुण्य में राजा को संलग्न रहना चाहिये। धन की सार्थकता दान से है। दान नहीं देने से निर्धनता, निर्धनता से पाप बंध तथा पाप संचय से नरकों में दुख भोगना पड़ता है अतः मनुष्य सामर्थ्य के अनुसार सदैव दान देने में तत्पर रहे।[14]

राजा धैर्यवान् हो। कहा भी जाता है—सब्र का फल मीठा होता है। उतावलेपन में कई कार्य नष्ट हो जाते हैं। आपत्ति में धैर्य धारण करना यह महापुरुषों में ही दृष्टव्य है या देखा जाता है। जो राजा आपत्तिकाल आने पर धैर्य धारण करता है वह पृथ्वीतल में महत्व प्राप्त करता है। उसके कार्य निराबाध सिद्ध होते हैं। किंतु जो मनुष्य कर्त्तव्य करते समय व्याकुल हो जाता है, उसका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। लोगों की अधीरता समस्त कार्यों की सिद्धि में बाधक है और बहुत से राजकीय कार्यों में उलझे हुए राजाओं की कार्य-सिद्धि में तो वह विशेष रूप से बाधा डालता है।[15] अतः राजा को कर्त्तव्यों में उतावली करना उचित नहीं, धैर्य धारण करे।

राजा धर्मात्मा हो। धार्मिक मनुष्य गलत कार्य नहीं कर सकता, वह पापभीरू होता है। धर्म मनुष्य के पाप रूपी मार्ग पर अर्गला के समान है तथा पुण्य पथ पर बढ़ने हेतु सुवाहन है। व्यक्ति के मन में जब तक धर्म होता है तब तक वह अपने मारने वाले की भी रक्षा करता है। और धर्म

---

12. **मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजायते।**
समृद्धापि च सा द्रव्यैर्जायतेऽरण्यसन्निभा॥ -गुरु
13. **धनश्रद्धानुरूपस्त्यागोऽनुकर्त्तव्यः। नी.वा.**
14. **भवंति नरकाः पापाद् दारिद्रयात् पापसंभवः।**
दारिद्रयमप्रदानाच्च तस्माद्दानपरो भवेत्॥
15. **व्याकुलत्वं हि लोकानां सर्वकृत्येषु विघ्नकृत्।**
पार्थिवानां विशेषेण येषां कार्याणि भूरिशः॥-गुरु

से रहित पिता व पुत्र को परस्पर मारते (वध) हुए भी देखा जाता है। संसार में मात्र धर्म ही शरण है, धर्म ही रक्षक है।[16] अतः राजा को ऐसे धर्म को धारण करना चाहिए। धर्म पाप रूपी गर्त में व्यक्ति को गिरने नहीं देता। धर्म रूपी सूर्य पाप रूपी अंधकार को क्षणभर में ध्वस्त करने में एवं पुण्य रूपी लक्ष्मी से अभिषिक्त करने में समर्थ है।

आचार्य सोमसेन जी कृत त्रैवर्णिकाचार में उल्लिखित है कि राजा के धर्म को देखकर प्रजा भी धर्म में प्रवृत्ति करती है। क्योंकि जैसा राजा करता है वैसा ही प्रजा भी करती है।[17]

राजा विनयी हो। विनय समस्त गुणों को आकर्षित करने के लिए चुंबक के समान है। विनम्रता व्यक्ति के गुणों को उसी प्रकार प्रदर्शित करती है जिस प्रकार झुकी डालियाँ लदे हुए फलों को। जो राजा ''मैं बड़ा ही पराक्रमी, शूरवीर हूँ'' ऐसा समझकर अभिमान के वश होकर अपने मंत्री, गुरुजन व बंधुजनों का सत्कार नहीं करता वह राजा रावण के समान नष्ट हो जाता है।[18] मनुष्य स्वर्णादि के आभूषणों से रहित होने पर भी यदि विनयशील है तो वह विशेष सुशोभित होता है, परंतु घमंडी पुरुष अनेक आभूषणों से अलंकृत होने पर भी लोक में हँसी का पात्र होता है।[19] अतः राजा विनयी हो।

राजा प्रजा-वत्सल हो। प्रजा के प्रति वात्सल्य रखने वाले राजा के प्रति प्रजा भी पूर्ण सहयोग की भावना रखती है। प्रजा की प्रशस्त भावना राजा को आनंददायक होती हैं। ऐसे राजा का राज्य निष्कंटक दीर्घकाल तक रहता है स्वयं के देश में हुई छोटी-छोटी आपत्तियों पर तो वह सहजता से ही अधिकार पा लेता है। प्रजा को वात्सल्य मिलने पर वह राजा को ईश्वर का रूप मान अत्यंत सम्मान देती है। राजा के लिए प्रजा संतान के समान होती है। अतः उनके सुख-दुःखों को सुनना, कष्टों का परिहार करना राजा को योग्य ही है। ऐसा करने पर प्रजा में से राजा के प्रति बगावत करने वाले भी तैयार नहीं होते। और यदि कहीं राजा के विरुद्ध भी कोई चर्चा करे तो उसे वहीं शांत भी कर देते हैं।

राजा न्यायशील हो। न्यायशीलता राजा का प्रमुख गुण है। न्यायशील राजा ही प्रजा के लिए सम्माननीय व विश्वसनीय होता है। न्यायप्रिय राजा पर प्रजा का विश्वास उसकी शक्ति बनता है।

---

16. **धर्मोवसेन्मनसि यावदलं च तावद्, हंता न हंतुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।**
दृष्ट्वा परस्परहतिर्जनकात्मजानां, रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एवं॥ आत्मानुशासन
17. **राजानां धर्मिणं दृष्ट्वा धर्मं कुर्वन्ति वै प्रजाः।**
यथा प्रवर्तते राजा तथा प्रजा प्रवर्तते॥
18. **योऽमात्यान् मन्यते गर्वान् न गुरुन् न च बांधवान्।**
शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा।-गुरु
19. **भूषणैरपि संत्यक्तः स विरेजे विगर्वकः।**
सगर्वो भूषणाढचोऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यता व्रजेत्॥-गुरु

न्याय के अभाव में राज्य में सुशासन संभव नहीं हो सकता। जब सुशासन नहीं होगा तो सुख, शांति, समृद्धि नहीं होगी। जहाँ सुख, शांति, संपदा आदि न हो वह राज्य अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता, शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतः राजा न्यायपूर्ण होना चाहिए। राजा को निष्पक्ष होकर निर्णय लेने चाहिए। पक्षपात करने वाला राजा धृतराष्ट्र के समान अपनी प्रतिष्ठा, राज्यादि सब खो देता है जबकि निष्पक्ष न्यायप्रिय राजा, युधिष्ठिर के समान राज्य सुख भोगकर सुगति प्राप्त करता है।

राजा विज्ञानी अर्थात् विशेष ज्ञानी हो। राजा कलाओं में निपुण, विद्याओं का जानकार होना चाहिए। अपने ज्ञान व सूझबूझ से राजा किसी भी समस्या का समाधान करने में समर्थ हो सकता है। मूर्ख राजा स्व व पर सभी के लिए कष्टदायक होता है, राज्य-प्रजा का नाशक ही होता है। राजा यदि ज्ञानवान् हो तो वह सर्व हित में सोच-विचारकर निर्णय करेगा, आपत्तिकाल में प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होगा। बुद्धिमान् राजा अन्य देशों से संबंध स्थापित करने, देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने, दुष्टों को दंडित, शिष्टों को सम्मानित आदि राजकीय हित के कार्यों को करने में समर्थ होगा। बिना बुद्धि, ज्ञान विवेक के राजा का पराक्रम भी निष्फल, निःसार ही होता है। ज्ञानी राजा समीचीन परामर्श को स्वीकार कर राजहित में कार्य कर सकता है।

राजा देशोन्नति में रत हो अर्थात् देश की उन्नति न्यायपूर्वक जिस प्रकार हो सकती हो उसका विचार करे पुनः दत्तचित्त हो उन कार्यों को करे जिससे देश गौरवान्वित हो। निज देश रक्षार्थ दूसरे देशों से षड्गुण्य अर्थात् संधि, विग्रह, यान, आसन, संयम व द्वेधीभाव करे। वही कार्य करे जिसमें देश का हित निहित हो। जो मुखिया अपने परिवार की, कैप्टन अपनी टीम की, व्यापारी व्यापार की, नेतृत्व करने वाला अपने समूह की तथा राजा अपने देश की उन्नति न कर सके, हित न कर सके तो ऐसे मुखिया आदि से क्या लाभ? राजा का प्रत्येक कार्य उसके देश की उन्नति से अनुस्यूत हो। देशोन्नति उसका लक्ष्य हो।

राजा प्रजा का हित करने वाला हो। स्वार्थ से किसी कार्य का सम्यक् फल प्राप्त नहीं होता। राजा सर्वप्रथम प्रजा का संरक्षक है। राजा के लिए सब धर्मों से पूर्व राजधर्म है। राजा प्रजा के हित को देखते हुए ही नीतियाँ आदि को प्रसारित करे। व्रत, नियम आदि का पालन करना राजाओं को सुखदायक नहीं है क्योंकि उनका धर्म तो प्रजा की रक्षा और उसके पीड़ा पहुँचाने वालों को नष्ट करना है।[20]

प्रजा की रक्षा के उपायों को बताते हुए आचार्यों ने कहा है कि धन नष्ट हो जाने से फँसें हुए दरिद्र कुटुंबी जनों की द्रव्य से सहायता करना, प्रजा से अन्यायपूर्वक तृणमात्र भी अधिक टैक्स न

---

20. **व्रतचर्यादिको धर्मो न भूपानां सुखावहः।**
तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजा संरक्षणेन च।।-भागुरि

लगाना अथवा आपत्ति में फँसी या दरिद्र प्रजा से तृणमात्र भी टैक्स नहीं लेना और अपराध करने पर अपराधानुकूल दंड देना यह राजा को योग्य है।

राजा सर्वांगीण विकासक हो। सभी ओर से देश का विकास करने वाला हो अर्थात् रहन-सहन के स्तर का विकास करे, शिक्षा पद्धति, पशुधन का विकास, संगीत, नाट्य चित्र कलादि के विकास का प्रबंध करने वाला हो। प्रजा के जीवन से संबंधित व देशोन्नति से संबंधित घटकों पर ध्यान दे उन्हें विकसित करने वाला हो। सभी ओर से राजा विकासक हो।

इस प्रकार आचार्य श्री ने यहाँ राजा के लक्षणों को निर्देशित किया। इन लक्षणों से युक्त नित्य ही सुशोभित होता है व संसार में अमरत्व अर्थात् स्थायी कीर्ति प्राप्त करता है।

राजधर्म

णिगिण्हणं हु दुट्ठाणं, सिट्ठाणं परिपालणं
ठावणं सुह-संतीण, रायधम्मो य भण्णदे॥64॥

To chasten the wicked, rear the civilised and establish the tranquility is the religion of a king.

भावार्थ–राजा-धर्म अर्थात् राजा का धर्म। **''कर्त्तव्यमेव धर्मः''** कर्त्तव्य पालन ही धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति को निज कर्त्तव्यों का पालन करना योग्य ही है। राजा के भी कुछ मुख्य कर्त्तव्य हैं जिनको यहाँ ग्रंथकार ने उल्लिखित किया है। क्योंकि कर्त्तव्य हीन के बढ़ा हुआ बहुत शास्त्रों का अभ्यास भस्म में हवन करने के समान व्यर्थ है।[1]

न कार्ये यो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किं।
बहुनाऽपि वृद्धार्थेन यथा भस्महुतेन च॥-रैभ्य

राजा शिष्टों का परिपालन करने वाला हो तथा दुष्टों का निग्रह करने वाला हो। पापियों या अपराधियों को सजा देना और सज्जन पुरुषों की रक्षा करना राजा का धर्म है।[2] शिष्टों की रक्षा करना और पापियों प्रजाकण्टकों अपराधियों को सजा देना राजा का प्रधान धर्म समझना चाहिए। इससे दूसरे कर्त्तव्य उसके लिए गौण कहे गए हैं।[3] दुष्टों का निग्रह या अपराधियों को दंडित न करने से दुष्टों की दुष्टता, अपराधियों के अपराध वृद्धिंगत होते हैं जिससे देश की सुख-शांति भंग होती है। शिष्टों का जहाँ पालन किया जाता है, उन्हें सम्मानित किया जाता है, उनकी रक्षा की जाती है तो उन अनुशासित शिष्टजनों के माध्यम से देश भी अनुशासित कहलाता है और इससे राजा का गौरव वृद्धि को प्राप्त होता है।

दुष्टों को दंडित करने से अपराध करने वालों का साहस डगमगाता है, कम होता है। जिससे अपराधों की संख्या घटती है और शिष्टों का परिपालन करने से, उन्हें सम्मानित करने से शिष्ट बनने की सदाचार की प्रेरणा अन्य जनों को प्राप्त होती है।

राजा सुख व शांति का संस्थापक हो। देश में सुख-शांति होगी तभी प्रजा भी निश्चिंत रह सकेगी। किसी भी सम्यक् प्रकार से देश में सुख-शांति बनी रहे यह राजा को ध्यान रखने योग्य है। महामारी आदि से प्रजा क्लेशित हो तो उसे रोकने का उपाय करना चाहिए। यदि कहीं आपत्ति या दंगे आदि हुए तो न्याय-नीति पूर्वक शीघ्रातिशीघ्र उनका दमन करना चाहिए। शिलालेख से ज्ञात हुआ कि सम्राट अशोक ने मतभेदादि देखकर कहा था कि मैं तुम्हारे इन क्रियाकांडों को धर्म नहीं मानता,

---

2. **राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः। नी.वा.**
3. **विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनं।**
   दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्तितः॥-वर्ग

आपस में मैत्री भाव बना रहे यही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। प्रत्येक शासक को प्रजाजनों में आपस में मैत्री भाव बना रहे ऐसी नीतियाँ रखनी चाहिए जिससे सुख-शांति की स्थापना संभव होगी।

स्व-पर हित के कारण राजा का यह राजधर्म कहा गया है। इन कर्त्तव्यों का पालन राजा के स्वयं के हित का कारण भी है और दूसरों का हित भी निहित है। इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ राजा के लिए उसके कर्त्तव्य या राज धर्म निर्देशित किया।

षट् अंतरंग शत्रु

कामो कोहो मदं लोहो, माणं चं हरिसो सया।
रायेण चागणीया हु, सडंतरंग-सत्तुणो॥65॥

अर्थ–निश्चय से राजा को षट् अंतरंग शत्रु काम, क्रोध, मान, हर्ष, लोभ व गर्व इनका सर्वदा त्याग करना चाहिए।

Lust, anger, greed, conceit and joy should be abandoned which are in the form of hostile enemy.

भावार्थ–जो व्यक्ति के पतन का कारण हैं, उनको उसका शत्रु ही समझना चाहिए। बाहरी शत्रुओं को पहचानना और उन पर नियंत्रण करना सरल है किंतु अंतरंग में छिपे शत्रुओं को पहचानना, उन पर नियंत्रण करना कठिन है। बाहर के शत्रुओं से अधिक घातक अंतरंग के शत्रु हैं। बाहर का व्यक्ति इतना घात नहीं कर सकता जितना की अंदर बैठा। किंतु प्राय:कर दृष्टि बहिरंग शत्रुओं की ओर ही जाती है जबकि अंतरंग के शत्रुओं को जीते बिना बाहरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है।

आचार्यों ने, नीतिकारों, विद्वानों ने राजा के छह अंतरंग शत्रु कहे हैं। इन पर विजय प्राप्त कर ही वह बाहरी शत्रुओं को वश में कर सकता है। नीतिकार कामन्दक ने भी कहा है–

काम: क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन् त्यक्ते सुखी नृप:॥

सुखाभिलाषी राजाओं को काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन छ: शत्रुवर्गों का सदा त्याग कर देना चाहिए।

चाणक्य में भी कहा है–"**कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्य:**" काम, क्रोध, लोभ, मान, मद व हर्ष राजा के छ: अंतरंग शत्रु हैं इनका त्याग कर ही इंद्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। जो व्यक्ति स्वयं पर शासन कर सकता है वही दूसरों पर भी शासन कर सकता है। अनुशासित ही अनुशासक बन अनुशासन करने में समर्थ है।

बाहर के शत्रु इतना नाश नहीं कर सकते जितना कि अंतरंग के। अत: यहाँ अंतरंग शत्रुओं के विषय में कहा गया। राजा का प्रथम शत्रु है काम। परस्त्रियों, वेश्याओं व कन्याओं से विषय भोग करना काम है। इसमें आसक्त हुआ राजा दु:ख बंधनादि को प्राप्त होता है। गौतम विद्वान् ने कहा है–

अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते।
तस्य काम: प्रदु:खाय बन्धाय मरणाय च॥

जो मनुष्य परस्त्री और कन्या का सेवन करता है उसकी यह भोगलालसा अत्यंत दु:ख, बंधन तथा मरण को उत्पन्न करती है।

जो राजा सदाचारिता का त्याग कर विषय भोगों में प्रविष्ट हुआ है उसने नियम से दु:ख प्राप्त किया है। रावण, जो तीन खंड का अधिपति था केवल सीता पर आसक्त होने के कारण ही अपना राजपाट खोकर, मरण के बाद नरक में पहुँचा। इतिहास में कितने ही उदाहरण प्रसिद्ध हैं जिन भी राजाओं ने अपनी मर्यादा का उल्लंघन किया है, दुश्चारित्र हुआ है उन्होंने कष्ट और पीड़ा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पाया और मरण के पश्चात् भूमि पर उनका अपयश ही शेष है। जो राजा स्वयं चारित्रवान् नहीं है जो स्वयं स्त्रियों की मर्यादा का विचार नहीं करता वह उनकी रक्षा करने में समर्थ किस प्रकार हो सकेगा और यदि वह अपनी प्रजा की रक्षा न कर सके तो राजा कैसा? कई बार अन्य शत्रु स्त्री के माध्यम से राजा का भेद लेना चाहते हैं यदि राजा वासनायुक्त हुआ तो स्त्री के वशीभूत हो अपने सब भेद कहकर अपने पतन का मार्ग निर्मित कर सकता है। अत: राजा द्वारा अपने प्रथम शत्रु-काम पर नियंत्रण करना अत्यंतावश्यक है।

दूसरा शत्रु है–क्रोध। क्रोध सर्वभक्षी अग्नि है। दावानल, बड़वानल से भी अधिक खतरनाक है क्रोधानल। क्रोध अग्नि का वह गोला है जो स्वयं को भी कष्ट देता है, आत्म गुणों को भी जलाता है और दूसरों को भी पीड़ा देता है। क्रोध जब आता है तो व्यक्ति की विवेक बुद्धि को नष्ट करके आता है। क्रोध में लिया गया निर्णय प्राय:कर व्यक्ति को दु:खदायक होता है। क्रोध से सामने वाले का घात हो या न हो किंतु क्रोध करने वाले का घात तो होता ही है। कहा है–

अतिक्रोधी महीपाल: प्रभुत्वस्य विनाशक:।
लवणस्य यथा वह्निर्मध्ये निपतितस्य च॥ – ऋषिपुत्रक

जैसे अग्नि में नमक नष्ट हो जाता है वैसे अतिक्रोधी राजा का भी प्रभुत्व नष्ट हो जाता है।

भागुरि ने भी कहा है–

अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते।
तस्य काम: प्रदु:खाय बन्धाय मरणाय च॥

जो राजा अपनी और शत्रु की शक्ति को बिना सोचे समझे क्रोध करता है वह नष्ट हो जाता है।

क्रोधी व्यक्ति का सिद्ध कार्य भी नष्ट हो जाता है। राजा यदि क्रोध युक्त होगा तो वह अपने राज्य, प्रजादि के विषय में उचित व हितकारी निर्णय लेने में समर्थ न हो सकेगा। क्रोध व्यक्ति की कमजोरी की निशानी भी है। जबकि राजा को तो बलवान और सहनशील होना चाहिए। राजा स्वयं में इतना नियंत्रित हो कि बार-बार किसी के क्रोधोत्पत्ति के निमित्त कारण उपस्थित करने पर भी वह क्रोध न करे। जैसे अग्नि समस्त ईंधन को जला करके राख कर देती है वैसे ही क्रोध विवेक,

विनम्रता, संयम, सत्य भाषण आदि सद्गुणों को जलाकर राख कर देता है। अतः गुण रत्नों की सुरक्षा के लिए राजा क्रोध को जीतने वाला हो।

राजा का तीसरा अंतरंग शत्रु है–मान। **''दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः''** आचार्य महाराज कहते हैं शिष्टाचार से विरुद्ध प्रवृत्ति को न छोड़ना अर्थात् पाप कार्यों में प्रवृत्ति करना तथा हितैषी पुरुषों की शास्त्र विहित बात को न मानना इसे मान कहते हैं। राजा को पाप कार्यों का परित्याग करना उचित ही है। पाप कार्यों में प्रवृत्त राजा प्रजा को पुण्य कार्य में प्रवृत्त नहीं कर सकता। ऐसा राजा उस पाषाण नाव के समान है जो स्वयं भी पानी में डूबती है और इसके आश्रित लोग भी जलसिंधु में निमग्न हो जाते हैं। राजा को पूज्य पुरुषों की, नीतिवानों, विद्वानों की बात को सुनना चाहिए, समझना चाहिए और शास्त्र विहित धर्मानुकूल बात को स्वीकार करना चाहिए। यदि राजा उनकी बात नहीं मानता तो उसका दुष्परिणाम उसे भोगना पड़ता है। मान रूपी पहाड़ से उतरकर ही राजा श्रेष्ठ भोगों का उपभोक्ता हो सकता है। मानी राजा का राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

रावण को उसके हितैषी विभीषण आदि ने बहुत समझाया किंतु उस अभिमानी ने किसी की नहीं सुनी। दुर्योधन को विदुर, कृष्णादि ने समझाया किंतु अहंकार शैल पर स्थित उसने सभी की बातों की उपेक्षा कर दी। परिणाम आप सभी जानते हैं–प्राणनाश, दुर्गति गमन।

अभिमानी व्यक्ति सदैव निंदा को प्राप्त होता है,उसके अकारण शत्रु बनते चले जाते हैं। यह अभिमान पापों का मूल है, पतन का सोपान है, शत्रुता का जनक है, अशांति का बीज है, सर्व गुणों को नष्ट करने वाला कुठार है, दुर्गति का द्वार है, अनर्थों का मूल है। अतः राजा मान का त्याग करे। अपने हितैषियों की शास्त्रोक्त बातों को स्वीकार करे, उनकी बात सुने और माने। गलत सर्वथा, सर्वत्र गलत ही होता है। मानी व्यक्ति अपनी गलती को स्वीकार नहीं करता जो बाद में उसके दुःख का कारण बनता है। अतः मान त्यागकर दूसरों की सही बातों को स्वीकार करें। अच्छी बात कोई लघु व्यक्ति भी कहे तो भी वह अच्छी ही होती है और ग्रहणीय भी अतः संकोच किए बिना उसे अपनाना चाहिए।

राजा का चौथा अंतरंग शत्रु है–हर्ष। **''निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन व मनः प्रतिरञ्जनो हर्षः।''** बिना प्रयोजन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर मन में प्रसन्न होना या इष्ट वस्तु-धनादि की प्राप्ति होने पर मानसिक प्रसन्नता का होना हर्ष है। नीतिकारों ने भी कहा है–

प्रयोजनं बिना दुःखं यो दत्त्वान्यस्य दृष्यति।
आत्मनोऽनर्थसंदेहैः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः।।

जो व्यक्ति बिना प्रयोजन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर हर्षित होता है एवं अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति में किसी प्रकार का संदेह न होने पर हर्षित होता है उसे विद्वानों ने हर्ष कहा है।

राजा प्रजा के दु:खों का विचार कर उन्हें दूर करने वाला हो। दूसरों को कष्ट देकर हँसना शिष्ट व्यक्ति के लक्षण नहीं। किसी प्राणी को निष्प्रयोजन कष्ट देना अत्यधिक पाप बंध का तो कारण है ही साथ ही वह व्यक्ति उसके लिए अनर्थकारी भी बन सकता है। आज वह भले ही राजा का प्रतिकार करने में असमर्थ हो कल एक बलशाली शत्रु के समान खड़े होकर पदच्युत कर सकता है। धनानंद के द्वारा किये गये एक सामान्य व्यक्ति चाणक्य के अपमान ने ही उसे राज्य से च्युत कर दिया। चाणक्य उसके पतन का कारण बन सकता है ऐसा उसने कभी विचार भी नहीं किया था। अत: राजा निष्प्रयोजन किसी को कष्ट न दे, अपमान-तिरस्कार न करे।

इष्ट वस्तु प्राप्त होने पर राजा अधिक हर्षित न हो। थोड़े में सूखना, थोड़े में उफनना तो नदियों का स्वभाव है। राजा को समुद्र के समान गंभीर होना चाहिए। धनादि अभिलषित वस्तुओं की संप्राप्ति पर अत्यधिक हर्षित होना क्षुद्रता का सूचक है, इससे सभ्य, शिष्टाचारी, नैतिक व्यक्ति की गंभीरता नष्ट होती है। अपनी विशेष उपलब्धि पर भी राजा को गंभीर रहना चाहिए अन्यथा अत्यधिक प्रसन्नता ईर्ष्या का स्थान भी बन सकता है।

राजा का पाँचवा अंतरंग शत्रु है–लोभ। **''दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभ:''** दान करने योग्य धर्मपात्र और कार्य पात्र आदि को धन न देना तथा चोरी, छलकपट और विश्वासघात आदि अन्यायों से दूसरों की संपत्ति को ग्रहण करना लोभ है। 'अत्रि' नामक विद्वान् ने भी लिखा है–

परस्वहरणं यत्तु तद्धनाढ्य: समाचरेत्।
तृष्णायाऽर्हेषु चादानं स लोभ परकीर्तित:॥

जब धनाढ्य पुरुष तृष्णा के वशीभूत होकर दूसरों के धन को चोरी वगैरह अन्यायों से ग्रहण करता है एवं दान करने योग्य पात्रों को दान नहीं देता उसे लोभ कहा गया है।

आचार्यों ने लोभ को दोषों की कुंजी कहा है। लोभ उस चुंबकीय शक्ति से युक्त है जिसके माध्यम से सभी दोष खिंचकर चले आते हैं। लोभ पाप का बाप कहा जाता है। लोभ से जीव के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। राजा लोभ के वश होकर अन्याय से प्रजा का धन ग्रहण न करे। उसे धर्म स्थानों पर दान देकर यश व पुण्यार्जन करना चाहिए।

राजा का छटवाँ अंतरंग शत्रु है–मद। **''कुलबलैश्वर्य रूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबंधनं वा मद:''** जो अपने कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्यादि के द्वारा अहंकार करना अथवा दूसरों की वृद्धि को रोकना है, उसे मद कहते हैं। जैमिनी ने भी लिखा है–

कुलवीर्यस्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसंभव:।
स मद: प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत्॥

अपने कुल, वीर्य, रूप, धन और विद्या से जो गर्व किया जाता है अथवा दूसरों को नीचा दिखाया जाता है उसे मद कहते हैं।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप व देह के भेद से मद आठ प्रकार के कहे। एक भी प्रकार का मद करने वाले पुरुष की दुर्गति ही हुई है अतः अपयश व दुर्गति से बचने के लिए राजा को मद पर विजय प्राप्त करने को कहा। ज्ञान पर मद करने वाले राजा यम का सब ज्ञान नष्ट हो गया, पूजा मद से युक्त राजा इंद्र जो वास्तव में स्वयं को इंद्र समझने लगा था रावण की गुलामी को प्राप्त हुआ। जो राजा इन पर विजय प्राप्त करता है उसका राज्य निष्कंटक निराबाध चलता है।

प्रत्येक जीवात्मा अपनी आत्मनिधि का स्वामी स्वयं है, आत्मा के अनंत वैभव का नाथ है, अतः आत्मिक वैभव का राजा होने से प्रत्येक जीव भी इन छः प्रकार के अंतरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे जिससे उसे दुर्गति में न जाना पड़े और शीघ्र तीनों लोकों पर प्रभुत्व स्थापित कर सके, त्रिलोकीनाथ बन सके।

सुप्रसिद्ध राजा

चेडगो खारवेलो य, चंदगुत्तो य सेणिगो।
अमोहो भरदादी य, सुप्पसिद्धा इमे णिवा॥66॥

अर्थ–राजा भरत, चेटक, श्रेणिक, चंद्रगुप्त, खारवेल और अमोघवर्ष आदि ये सुप्रसिद्ध राजा हुए।

King Bharat, Chetak, Shrenik, Chandragupta, Kharwela and Amogha etc are well- known kings.

भावार्थ–ग्रंथकार ने राजाओं के गुण व कर्त्तव्य कहने के पश्चात् कुछ राजाओं के नाम यहाँ उल्लिखित किए जो इन्हीं प्रकार के गुणों से संपन्न थे। जिनका नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित है। जिनके गुण एवं क्रियाकलापों को जानकर मानव स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है, उनसे प्रेरणा प्राप्त करता है। वे शासक ऐसे रहे जिन्होंने अपनी सत्ता, कुटुंब व प्राणों के संकट आ पड़ने पर भी अंतिम श्वांस तक न्याय का पक्ष लिया, न्याय के समक्ष बड़ी निर्भीकता के साथ समर्थन किया, अन्याय के सम्मुख सिर नहीं झुकाया था। ये श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, कुशल शासक एवं महान् योद्धा थे। इन्होंने राजनीति भी धर्म के साथ की। ये सभी शासक अहिंसा धर्म के अनुयायी, पराक्रमी, प्रजा के हित में कार्य करने वाले थे। हिंसा प्रेमी राजा न तो स्वयं सुख-शांति प्राप्त कर सकते हैं और ना ही प्रजा का मंगल कर सकते हैं। इन शासकों के राज्य में प्रजा अनुशासित, राज्य समृद्ध व धर्म मार्ग पर प्रेरित था।

सम्राट चक्रवर्ती भरत–इनमें एक नाम है महान् शासक चक्रवर्ती राजा भरत। जो प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभनाथ जी के पुत्र थे। जिन्होंने अपने पराक्रम से संपूर्ण भरत क्षेत्र पर विजय प्राप्त की। षट्खंडों पर जिनका एकमात्र आधिपत्य था। 32000 मुकुटबद्ध राजा इनके आधीन थे। इन्होंने अपनी शक्ति, पराक्रम, न्यायप्रियता आदि गुणों से संपूर्ण पृथ्वी पर एकछत्र राज्य किया था। 60000 वर्ष में दिग्विजय कर वे अयोध्या वापस लौटे थे। श्री वृषभदेव व यशस्वती के पुत्र सम्राट भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारत पड़ा था।

भरत चक्रवर्ती ने कर्मयुग में नीति राज की शुरूआत की। उन्होंने ही चार तरह के दंड निश्चित किए। आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में उल्लिखित किया है कि उन्होंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। नवनिधि व चौदह रत्नों से परिपूरित थे। इनकी 96000 रानियाँ थीं। 84 करोड़ पदाति, अठारह करोड़ अश्व, चौरासी लाख हाथी, 84 लाख रथों की विशाल सेना से युक्त थे। विश्व में प्रजाजनों के लिए सुख-शांति की स्थापना करने वाले राजा भरत का सुदर्शन चक्र शोभायमान होता था। दुष्टों का संहार, शिष्टों का परिपालन, प्रजा का संरक्षण, संवर्द्धन आदि में रत रहते थे। जिनधर्म के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा, समर्पण, भक्ति आज भी वंदनीय है। संपूर्ण राज्य वैभव होने के पश्चात्

भी वे महलों में ऐसे रहे जैसे कीचड़ में कमल। लंबे समय तक राज्य का भोग कर अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य सौंप दीक्षित हुए एवं अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया।

राजा चेटक–विशाल एवं शक्तिशाली गणतंत्रात्मक वज्जिसंघ के अध्यक्ष तथा वैशाली महानगरी के अधिपति और भगवान् महावीर स्वामी के नाना, महाराज चेटक अपने समय के संपूर्ण भारतवर्ष के सर्वप्रधान सत्ताधीशों में से थे। वे **व्रात्य** क्षत्रियों की लिच्छवि जाति में उत्पन्न हुए थे। महाराज चेटक की महारानी सुभद्रा थी। दोनों ही परम श्रद्धालु जिनभक्त थे। उनके 10 पुत्र व 7 पुत्रियां थीं अहिंसा धर्म के अनुयायी होते हुए भी वे बड़े पराक्रमी और वीर योद्धा थे। कहा जाता है कि अनेक शत्रुओं को चेटी या दास बना लेने के कारण ही वे चेटक कहलाने लगे। जिस संघ के वे अधिनायक थे उसमें अनेक गण सम्मिलित थे तथा संघ व्यवस्था एवं प्रशासन हेतु उसके (राजा) उपाधिधारी 7707 सदस्य थे, जिनका अभिषेक वैशाली की सुप्रसिद्ध राजपुष्करिणी पर होता था। अपने वीर्य, शौर्य, बुद्धि, सदाचार एवं सुसंगठन के लिए वैशाली के लिच्छवि सर्वत्र प्रसिद्ध थे। इन्हीं के द्वारा प्रजातंत्र की स्थापना की गई थी। महाराज चेटक की प्रसिद्धि केवल एक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, कुशल शासक और महान् योद्धा के रूप में ही नहीं थी वरन् वे अत्यंत न्यायप्रिय भी थे।

राजा श्रेणिक–भगवान् महावीर के मुख्य श्रोता, महाराज चेटक की पुत्री चेलना के पति, मगध नरेश श्रेणिक एक पराक्रमी, महत्वाकांक्षी, प्रतापी एवं यशस्वी शासक थे। इन्होंने मगध देश को उस काल का प्रायः सर्वाधिक महाराज्य का रूप दे दिया था। इतना ही नहीं, भारतवर्ष के प्रथम ऐतिहासिक मगध साम्राज्य की सुदृढ़ नींव जमा दी थी। वह एक कुशल शासक था। उनके सुराज्य में न किसी प्रकार की अनीति थी और न किसी प्रकार का भय था। प्रजा स्वयं को सुखी व सुरक्षित अनुभव करती थी। देश की समृद्धि को उत्तरोत्तर वृद्धिंगत करने की ओर भी उनका पूरा ध्यान था। सर्व प्रकार की आंतरिक स्वातन्त्र्य-सत्ता से युक्त इन जनतन्त्रात्मक संस्थाओं द्वारा उन्होंने साम्राज्य के उद्योग-धंधों, व्यवसाय व व्यापार को भारी प्रोत्साहन दिया। कई कोट्याधीश श्रेष्ठी और सार्थवाह उनके राज्य वैभव की अभिवृद्धि में संलग्न थे। स्रमाट श्रेणिक को जनपदों का पालक एवं पिता कहा गया है। वे दयाशील, मर्यादाशील, धर्मात्मा, दानवीर व जिनायतनादि का निर्माण कराने वाले बड़े निर्माता भी थे।

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य–आधुनिक दृष्टि से भारतवर्ष के शुद्ध व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास का जो प्राचीन युग है उसके प्रकाशमान नक्षत्रों में प्रायः सर्वाधिक तेजपूर्ण नाम सम्राट चंद्रगुप्त है। चौथी शताब्दी में जिस महान् राज्यक्रांति ने शक्तिशाली नंदवंश का उच्छेद करके उसके स्थान में मौर्य वंश की स्थापना की थी और उसके परिमाणस्वरूप थोड़े ही समय में मगध साम्राज्य को प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य बनाकर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था। उसके प्रधान नायक सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य व उनके गुरु चाणक्य थे। एक यदि राजनीति विद्या विचक्षण एवं नीति विशारद पंडित था तो दूसरा परम पराक्रमी एवं तेजस्वी क्षत्रिय वीर था। ये दोनों ही अपने-अपने कुल की

परंपरा तथा व्यक्तिगत आस्था की दृष्टि से जैनधर्म के प्रबुद्ध अनुयायी थे। इनके प्रयत्नों से साम्राज्य विस्तृत, सबल व सुदृढ़ हुआ, शासन व्यवस्था उत्तम हुई तथा राष्ट्र सुखी, समृद्ध, सुप्रतिष्ठित एवं समुन्नत हुआ था। सर्व धर्म सहिष्णु एवं अति उदाराशय होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से चंद्रगुप्त मौर्य जैन धर्म का अनुयायी था।

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने एक पुस्तक लिखी चंद्रगुप्त के राज्य के संबंध में। उन्होंने लिखा कि चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल में लोग घरों में ताले भी नहीं लगाते थे। सुख-शांति का वातावरण सर्व ओर था। ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं कि राजा चंद्रगुप्त मौर्य अत्यंत न्यायप्रिय, पराक्रमी, प्रजावत्सल, अंतिम मुकुटबद्ध सम्राट था।

एक विशाल राज्य के सम्राट के रूप में उनका समस्त लोकव्यवहार पूर्णतया व्यावहारिक, नीतिपूर्ण, असाम्प्रदायिक एवं धर्मनिरपेक्ष था। साम्राज्य का उत्कर्ष और प्रतिष्ठा तथा प्रजा का हित व मंगल जैसे भी बने, संपादन करना ही उनका एक मात्र ध्येय था। राज्य संचालन के पश्चात् सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य संपूर्ण वैभव का परित्याग कर दिगंबर मुनि हो गए व समाधि मरण किया। इनके राजनैतिक गुरू चाणक्य ने भी बाद में जिनदीक्षा को अंगीकार कर समाधि मरण किया था।

सम्राट खारवेल–कलिंग चक्रवर्ती सम्राट महामेघवाहन ऐल खारवेल द्वितीय सर्वाधिक शक्तिशाली, प्रतापी एवं दिग्विजयी नरेन्द्र था, साथ ही यह नृपति परमजिनभक्त था। अपने समय में यदि उसने कलिंग देश को भारतवर्ष की सर्वोपरि राज्यशक्ति बना दिया था तो लोकहित और जैनधर्म की प्रभावना के भी अनेक चिरस्मरणीय कार्य किये थे। सम्राट खारवेल का विश्वविश्रुत शिलालेख वर्तमान उड़ीसा के भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पर्वत के शिखर पर ऐतिहासिक 'हाथीगुम्फा' नाम की गुफा के मुख व छत पर सत्रह पंक्तियों में लगभग चौरासी वर्गफीट के विस्तार में उत्कीर्ण है।

इस शिलालेख के आधार पर बताया जाता है कि 15 वर्ष की आयु तक बालक्रीड़ाओं के पश्चात् 9 वर्ष तक विविध ज्ञान-विज्ञान, कला-लेखन, मुद्रा, गणित, राजनीति, शासनव्यवस्था व धर्म आदि में पारंगत होकर युवराज पद को सुशोभित किया। चौबीस वर्ष की आयु पूर्ण हो जाने पर अभिविजयी (अपराजेय) उस कलिंग राजवंश के तृतीय युगपुरुष (सम्राट) के रूप में 'महाराजा' के रूप में अभिषेक प्राप्त किया।

राज्याभिषेक के तुरंत पश्चात् चक्रवात से विध्वस्त गोपुरों, परकोटों, प्रासादों आदि का जीर्णोद्धार कराया, जलाशय, बावड़ियों, शीतल-तालाबों के पाट बंधवाये, उद्यानों का पुनः निर्माण कराया। यह सब कार्य पैंतीस लाख स्वर्णमुद्राओं के द्वारा कराया और प्रजाजनों को आनंदित किया। दूसरे वर्ष में शातकर्णि की परवाह न करके अपनी विशाल सेना पश्चिम दिशा में भेजी तथा कृष्णवेणा नदी के तट पर पहुँचकर असिक नगर को वित्रासित किया व कर भी वसूला। तीसरे वर्ष में गंधर्व वेदज्ञाता नृपति ने नृत्य-संगीत-वादित्र के प्रदर्शनों तथा जिन रथयात्रा आदि अनेक उत्सवों एवं सामाजिक आयोजनों द्वारा अपने राज्य के नागरिकों का प्रभूत मनोरंजन किया।

चौथे वर्ष में सर्व राष्ट्रकूटवंशी राजाओं (राष्ट्रिकों) एवं भोजकवंशी राजाओं (भोजकों) से पाद वंदना करवायी अर्थात् उन्हें शरणागत होने को विवश कर दिया। पाँचवें वर्ष में नंदराजा द्वारा तीन सौ वर्ष पहले उद्घाटित की गयी जलप्रणाली (नहर) को 'तनसुलिया' के रास्ते से कलिंग में प्रवेश करवाया। छठवें वर्ष में राज्य-ऐश्वर्य चरितार्थ करने के लिए इस नृपति ने अपनी प्रजा के कर आदि माफ कर दिए, दीन-दु:खियों से दया का बरताव किया, उन्हें सुखी व संतुष्ट बनाया। सातवें वर्ष में रानी सिंधुला ने एक राजकुमार को जन्म दिया। आठवें वर्ष में राजा ने विशाल सेना के साथ उत्तरापथ की विजय-यात्रा की। सर्वप्रथम उसने मगध पर आक्रमण किया। गोरथगिर पर भीषण युद्ध करके राजगृह नरेश को त्रस्त कर दिया। सम्राट खारवेल के भय से यवनराज दिमित्र (मध्य एशिया का यूनानी नरेश डेमेट्रियस जिसने उस समय भारत पर आक्रमण किया था) अपनी समस्त सेना, युद्ध सामग्री, वाहनों आदि को जहाँ-तहाँ छोड़कर मथुरा से अपने देश को भाग गया। खारवेल ने तुलादान कर प्रजा को संतुष्ट किया। अतीत वैभव के साथ कल्पद्रुम विधान नामक महापूजा रचाकर किमिच्छिक दान भी दिया। सर्वप्रथम ग्रहण कराने के लिए ब्राह्मणों को भोजनपान कराया। दिगंबर मुनि व अरिहंतों की पूजन की।

नौवें वर्ष में अड़तीस लाख स्वर्ण मुद्राओं का व्यय कर महाविजय प्रासाद नामक अतिसुंदर एवं विशाल राजमहल बनवाया। दसवें वर्ष में उसने अपनी सेनाओं को विजययात्रा हेतु पुन: भारतवर्ष (उत्तरापथ) भेजा। ग्यारहवें वर्ष में दक्षिण देश की विजय की। विथुंडनगर (यापिथुंड) को गधों के हलों से जुतवाता है। जनपद भावना वाले एक सौ तेरह वर्षों से चले आ रहे तमिल-ढेह-संघात को भेद देता है अर्थात् तमिल राज्यों के संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया। बारहवें वर्ष में सम्राट खारवेल ने अपने आक्रमणों द्वारा उत्तरापथ के राजाओं में आतंक उत्पन्न कर दिया, मगध की जनता में भारी भय का संचार कर दिया, अपने हाथियों को गंगा नदी में पानी पिलाया तथा उन्हें (पाटलिपुत्र के) गांगेय नामक राजप्रासाद में प्रविष्ट करा दिया और मगधराज बृहस्पतिमित्र से अपने चरणों में प्रणाम करवाया। पूर्वकाल में नंदराज द्वारा कलिंग से लायी गयी (कलिंग जिन) (आदि-जिन) की प्रतिमा को तथा अंग-मगध राज्यों के बहुमूल्य रत्नों एवं धन संपत्ति को विजित संपत्ति के रूप में लेकर वह अपनी राजधानी में वापिस आया। उपायन व विजित संपत्ति के रूप में प्राप्त धन से उसने अपनी महती विजय के चिह्न स्वरूप जिन मंदिरों पर रत्नादि सैकड़ों बहुमूल्य पदार्थों से सुंदर पच्चीकारी से युक्त अनेक शिखर बनवाये थे। उसी वर्ष उसने सुदूर दक्षिण के पांड्यनरेश से भेंट अथवा कर रूप से प्राप्त अभूतपूर्व एवं आश्चर्यकारी उपायन, मणि-माणिक्य, मुक्ता आदि से भरे हाथी के आकार वाले विशाल जलपोत प्राप्त किए थे और लाखों दक्षिणापथ के निवासियों को अपने वश में कर लिया था।

तेरहवें वर्ष में सम्राट ने सुपर्वत-विजय-चक्र में स्थित कुमारी पर्वत (उदयगिरी-खंडगिरी) पर अर्हन्तों की पुण्य-स्मृति में निषद्यकाएँ निर्माण करायीं थीं। सिंहपथ की रानी सिंधुला की प्रेरणा से

परम तपस्वी दिगंबर मुनियों का सम्मेलन किया। इस महामुनि सम्मेलन में इस नृपति ने भगवान् की दिव्यध्वनि में उच्चरित द्वादशांग श्रुत का पाठ कराया जोकि वीर संवत् 165 (ई.पूं. 362 भद्रबाहु श्रुतकेवली की समाधि के पश्चात्) से निरंतर ह्रास को प्राप्त हो रहा था। उस वाणी के संरक्षण व संवर्द्धन हेतु प्रश्नचर्चा करते हुए उसका श्रवण व चिंतन करते हुए समय बिताया। मौर्यकाल से विच्छिन्न हुए द्वादशांग को चार अनुयोगों में वर्गीकृत करवाया। 35 लाख स्वर्णमुद्राओं के व्यय से मुनियों की वसतिका, जिनमंदिर, मानस्तंभ आदि बनवाए। राजा खारवेल ने भेदविज्ञान कर लिया था। विशिष्ट गुणों के कारण दक्ष, समस्त धर्मों का आदर करने वाला, अप्रतिहत चक्रवाहन बलवाला (जिसके रथ सेना की गति को कोई रोक न सके), चक्र धारक, साम्राज्यों का सतत विजयी एवं विशाल साम्राज्य का संचालक व संरक्षक, राजर्षियों के वंश में उत्पन्न, महाविजयी राजचक्री ऐसा यह राजा खारवेलश्री था?

सम्राट अमोघवर्ष–राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवर्ष का जैनधर्म के परम पोषक एवं भक्त महान् सम्राटों में उल्लेखनीय स्थान है। इसमें भी संदेह नहीं है कि राज्य विस्तार, शक्ति, समृद्धि, वैभव आदि की दृष्टि से वे अपने समय के भारत के प्रायः सर्व महान् सम्राट थे। उनका जन्म ई० 804 में उस समय हुआ था जब उनके पिता गोविंद तृतीय उत्तरापथ की अपनी एक विजययात्रा से लौटते हुए नर्मदा के किनारे श्री भक्त नामक स्थान में छावनी डाले हुए थे। ई० 815 में पिता की मृत्यु पर जब उन्हें राज्य का उत्तराधिकार मिला तो वह 10–11 वर्ष का बालक मात्र था। किंतु उसके पिता ने राज्य की नींव पर्याप्त सुदृढ़ कर दी थी और कई स्वामिभक्त एवं विश्वासपात्र राजपुत्र उत्पन्न कर दिये थे। इनमें सर्वोपरि अमोघवर्ष के चाचा और गुर्जरदेश के शासक इंद्र का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कर्कराज था, जो बाल राजा का सुयोग्य एवं सक्षम अभिभावक और संरक्षक हुआ। स्थिति का लाभ उठाकर जो विद्रोह आदि हुए उन सबका दमन करके 821 ई० में नवीन राजधानी मान्यखेट में कर्कराज ने अमोघवर्ष का विधिवत् राज्याभिषेक किया। कर्कराज की ही भाँति साम्राज्य का महासेनापति जैन वीर वंकेयरस पूर्णतया स्वामीभक्त व सर्वथा सुयोग्य था। इन दोनों राजपुरुषों ने मिलकर साम्राज्य को स्वचक्र व परचक्र के समस्त उपद्रवों से सुरक्षित रखने का सफल प्रयत्न किया।

उधर स्वयं सम्राट् ने राजधानी को सुंदर प्रासादों, राजपथों, सरोवरों, उद्यानों आदि से अलंकृत किया। वे स्वयं एक शांतिप्रिय, विद्यारसिक एवं धर्मात्मा नरेश थे। इनके समय में जैनधर्म राष्ट्रधर्म के रूप में व्याप्त था। 9वीं सदी के अरब के इतिहासकार सुलेमान के अनुसार 9वीं सदीं में केवल 4 ही सम्राट प्रसिद्ध थे 1. भारत के सम्राट अमोघवर्ष 2. चीन का सम्राट 3. बगदाद का खलीफा और रूम (तुर्की) का सुल्तान किंतु इनमें सम्राट अमोघवर्ष सर्वोपरि था।' बहुत से अरब सौदागरों ने भी अमोघवर्ष के प्रताप एवं वैभव की तथा उनके साम्राज्य की समृद्धि एवं शक्ति की भरपूर प्रशंसा की है।

सुलेमान यह भी लिखता है कि ''भारतवर्ष का प्रत्येक नृपति स्वयं अपने राज्य में रहता हुआ भी उसका (अमोघवर्ष का) आधिपत्य स्वीकार करता था। उसके पास हाथी और पुष्कल धन सम्पत्ति थी। वह शराब को छूता भी नहीं था और अपने सैनिकों तथा कर्मचारियों को नियमित वेतन देता था। उसके राज्य में पूजा की सम्पत्ति सुरक्षित थी, चोरी और ठगी को कोई जानता भी नहीं था और व्यापार-व्यवसाय को प्रभूत प्रोत्साहन था तथा विदेशियों के प्रति आदर्शपूर्ण अच्छा व्यवहार होता था।''

अलइद्रिसि लिखता है कि ''राष्ट्रकूट राज्य अतिविस्तृत, घना बसा हुआ, बढ़े-चढ़े व्यापार वाला और बहुत उपजाऊ था, जनता अधिकांशतः शाकाहारी थी, चावल (धान) मटर, फलियाँ, दालें, साग-सब्जी, फल आदि उनके नित्य के भोज्यपदार्थ थे। ये भारतीय स्वभावतः न्यायप्रिय हैं, अपने व्यवहार में भी सदा न्यायपूर्ण ही रहते हैं। सच्चाई, ईमानदारी, किये गये अनुबंधों में अपने वचन का दृढ़तापूर्वक पालन इत्यादि गुणों के लिए ये लोग सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इसी से अजनबी विदेशी इनके देश में बढ़ी संख्या में दौड़-दौड़कर आते हैं। फलस्वरूप इस देश की समृद्धि में बढ़ोत्तरी ही होती है।

अबुजैद भी लिखता है कि ''बलहरा सम्पूर्ण भारतवर्ष का सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं प्रतापी नरेश और अन्य सब राजे यद्यपि उनमें से प्रत्येक अपने-अपने राज्य में स्वतंत्र है और उसका पूर्णतया स्वामी है, तथापि इसकी महत्ता स्वीकार करते हैं और उसे सर्वोपरि मानते हैं।'' इसके अतिरिक्त यह नरेन्द्र गुणियों और विद्वानों का प्रेमी तो था ही, स्वयं भी अच्छा विद्वान और कवि था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़ी और तमिल भाषाओं में विविध विषयक साहित्य सृजन को उसने प्रभूत प्रोत्साहन दिया। इसकी राजसभा विद्वानों से भरी रहती थी।

इस विषय में भी प्रायः कोई मतभेद नहीं है कि सम्राट अमोघवर्ष प्रथम जैनधर्म का अनुयायी, जैन गुरुओं का भक्त और एक उत्तम श्रावक था। प्रा. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के मतानुसार ''राष्ट्रकूट नरेशों में अमोघवर्ष जैनधर्म का सर्वमहान् संरक्षक था। यह बात सत्य प्रतीत होती है कि उसने स्वयं जैनधर्म धारण किया था।'' वीरसेन स्वामी के प्रिय पट्ट-शिष्य और उनके वाटनगर केन्द्र के तत्कालीन अधिष्ठाता सेनसंघी आचार्य जिनसेन स्वामी सम्राट के धर्मगुरु और राजगुरु थे। वह विभिन्न भाषाविज्ञ एवं विविध-विषय-निष्णात दिग्गज विद्वान और महाकवि थे। बालपन से ही उनके साथ अमोघवर्ष का सम्पर्क रहा था और वह उनकी बड़ी विनय करता था।

श्री उग्रदित्याचार्य ने सम्राट के आग्रह पर उनकी राजसभा में आकर अनेक आयुर्वेदज्ञों एवं अन्य विविध विद्वानों के समक्ष मद्य-मांस निषेध का वैज्ञानिक विवेचन किया था और इस ऐतिहासिक व्याख्यान को 'हिताहित अध्याय' शीर्षक से अपने पूर्वलिखित (लगभग 800 ई० में) वैद्यक ग्रंथ 'कल्याणकारक' में परिशिष्ट के रूप में सम्मिलित किया था। प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने अपना सुविदित गणित सार संग्रह उसी सम्राट के आश्रय में लिखा था। उन्होंने इसका उल्लेख ग्रंथ

प्रशस्ति में भी किया है। उन्होंने लिखा है ''जिस नृपतुंगदेव के शासन में स्याद्वाद न्याय के पक्षधरों ने समस्त एकान्तपक्षों को विध्वस्त कर दिया था, उस नृपति का वह शासन वर्द्धमान हो।''

इस प्रकार ये न्याय-नीति परायण, सद्विचारपूर्ण, विवेकवान्, धर्मनिष्ठ राजर्षि बीच-बीच में बहुधा राज्यकार्य से अवकाश लेकर गुरुचरणों में जाकर, अकिंचन हो अत्याधिक अवधि के लिए निराकुलतापूर्वक धर्मसेवन किया करते थे। जिन मंदिर, दिगंबर गुरुओं व संस्थाओं को दान करते थे। स्याद्वाद में उनकी निष्ठा थी, तत्त्वचर्चा, विद्वानों के व्याख्यान व शास्त्रार्थ के रसिक थे। अपने जीवन के अंतिम भाग में युवराज कृष्ण को राज्यभार सौंपकर दीक्षित हुए पुनः समाधिमरण किया।

इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ कुछ शासकों के नाम उल्लिखित किए जिनकी आदर्श राजनीति, शासन वर्तमान में शासकों और जन नेताओं के लिए भी स्पृहणीय है। इनकी धर्मयुक्त राजनीति सभी के हित में समर्थ है। इनका जीवन भी वर्तमानकालीन राजाओं के लिए प्रेरणा रूप हो सकता है।

कर्त्तव्यहीन राजा को दुर्गति प्राप्ति

राया कत्तव्वहीणो जो, दुग्गदिं लहदे सया।
दुहाणि हु पया तेणं, सो हवदि कलंकिदो॥67॥
बंभदत्त-जरासंध-सुभोम-रावणेहि य।
कंस-दुज्जोहणादीहिं, दुग्गदी लहिदा जहा॥68॥

अर्थ–जो राजा कर्त्तव्यहीन है वह सदा दुर्गति प्राप्त करता है। प्रजा उससे दु:ख प्राप्त करती है तथा सिर पर कलंक माना जाता है अर्थात् कलंकित होता है।

जैसे ब्रह्मदत्त, जरासंध, सुभौम, रावण, कंस व दुर्योधन आदि के द्वारा दुर्गति प्राप्त की गई।

A king who is dutiless, always gets abjection. The subjects get griefs by him and that king gets detracted. As Brahmaduta, Jarasandh, Subhom, Rawana, Kansa, Duryodhan and other kings got abjection.

भावार्थ–यदि शक्कर अपना धर्म मिठास छोड़ दे तो उसे शक्कर कौन कहेगा? नमक खारापन, मिर्च चरपरापन, नींबू खट्टापन छोड़ दे तो वे प्रशंसनीय किस प्रकार होंगे। अपने धर्म को छोड़ने वाला लोक में आदरणीय नहीं होता। शिष्टों का संग्रह, दुष्टों का निग्रह आदि करना राजा का धर्म है, कर्त्तव्य है। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से पालन नहीं करेगा तो प्रजा किस प्रकार सुखी हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। यदि मुखिया ही ध्यान न रखे तो अधीनस्थों का त्रस्त होना स्वाभाविक ही है।

प्रजा कर्तव्यहीन राजा से दु:ख ही प्राप्त करती है। प्रजा का हित करना, सर्वांगीण विकासादि करना यह राजा का कर्तव्य है यदि राजा इससे विमुख होता है तो प्रजा तो दु:ख प्राप्त करती ही है किंतु वह स्वयं भी दुर्गति का पात्र होता है। कर्त्तव्यहीन राजा सभी ओर से निंदनीय होता है और उसी कलंक को लेकर मृत्यु को प्राप्त करता है। भविष्य में लोग भी उस कर्तव्यहीन राजा को कलंकित करते हैं एवं उसकी निंदा करते हैं।

जो राजा विषयभोगों में आसक्त होकर अपनी प्रजा का पालन भलीभाँति नहीं करता वह राजा नहीं कायर पुरुष है।[1]

ऐसे राजा नियम से दु:ख प्राप्त करते हैं। उनका राज्य नष्ट हो जाता है। इस लोक में तो दु:ख प्राप्त करते ही हैं पुन: परभव में भी घोर दु:खों को प्राप्त करते हैं। कुछ ऐसे राजा जो व्यसनों में आसक्त हुए, अपने अंतरंग शत्रुओं को वश में नहीं कर पाए, प्रजा पर सम्यक् अनुशासन नहीं

---

1. **यो न राजा प्रजाः सम्यग्भोगासक्तः प्ररक्षति।**
स राजा नैव राजा स्यात् स च कापुरुषः स्मृतः॥ -व्यास

किया, भावना धर्म के विपरीत रही, अन्याय व अनीति के मार्ग पर चले उनके उदाहरण ग्रंथकार ने यहाँ दिए हैं क्योंकि उदाहरण से बात समीचीन रूप से व शीघ्र बोधिगम्य हो जाती है।

राजा ब्रह्मदत्त–अवन्ती देश की उज्जैनी नगरी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। वह शिकार में अत्यंत आसक्त था। मूक प्राणियों का वध कर आनंदित होता था। एक दिन वह वन में शिकार हेतु पहुँचा तभी वहाँ शिला पर ध्यानस्थ दिगंबर मुनि को देखा। कोई शिकार न मिलने के कारण वह लौट आया। दूसरे व तीसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। ब्रह्मदत्त राजा ने सोचा कि वन में मुनिराज को देखता हूँ इसीलिए मुझे शिकार नहीं मिल रहा। शिकार न मिलने के कारण वह मुनि पर अत्यंत क्रोधित हुआ। उन संयमी साधक से बदला लेने हेतु जब मुनिवर आहारचर्या के लिए निकले तब उसने मुनि की शिला को अग्नि की तरह गर्म कर दिया। मुनि वापिस आए तो संपूर्ण घटना से अनभिज्ञ वे शिला पर स्थित हुए। उपसर्ग समझकर असह्य वेदना को सहन करते हुए मुनिवर ध्यान में लीन हुए उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इधर सात दिवस भी पूरे नहीं हो पाए राजा ब्रह्मदत्त को भयंकर कोढ़ निकल आया। सच है मुनियों पर उपसर्ग करने वाले की यही तो स्थिति होती है। उस वेदना को सहन करने में असमर्थ राजा ने स्वयं अग्नि में प्रवेश कर लिया और आर्त्तध्यान से मरकर सप्तम नरक में पहुँचा।

राजा जरासंध–राजगृही के राजा बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध हुआ। वह तीन खंड स्वामी व नौवां प्रतिनारायण था। उनकी पट्टरानी कालिन्दसेना थी। इनके कालयवन आदि अनेक पुत्र थे तथा अपराजित आदि अनेक भाई थे। यादवों का नाम मात्र सुन क्रोध रूपी अग्नि में दग्ध जरासंध उनसे युद्ध के लिए तैयार हो गया। धैर्यादि गुणों से विहीन अहंकार रूपी पर्वत पर चढ़ा हुआ राजा जरासंध, समस्त विवेक खो चुका था। सच है अंतरंग शत्रुओं के अधीन हुआ राजा पतन को प्राप्त होता है। यादवों के साम शांति के संदेश को स्वीकार न कर गर्व में चूर जरासंध युद्ध के लिए उद्यत हुआ व कृष्ण के द्वारा चक्ररत्न छोड़ने पर जरासंध मृत्यु को प्राप्त हुआ।

सुभौम चक्रवर्ती–इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु व रानी चित्रमती का पुत्र चक्रवर्ती सुभौम हुआ। सुभौम के जन्म से पूर्व ही पिता सहस्रबाहु की मृत्यु हो गई। तब चित्रमती का बड़ा भाई शाण्डिल्य परशुराम से रक्षा हेतु उन्हें अपने घर ले गया। 16 वर्ष बीतने पर सुभौम के चक्रवर्तीपने का साधन चक्र प्रकट हुआ तथा उस चक्र से परशुराम का वध कर राज्य प्राप्त किया। इस अष्टम चक्रवर्ती की आयु 60 हजार वर्ष थी। सुभौम का एक अमृतरसायन नामक हितैषी रसोइया था उसने किसी दिन बड़ी प्रसन्नता से उसके लिए रसायना नामकी कढ़ी परोसी। उस कढ़ी के गुणों का विचार किए बिना,नाम सुनने मात्र से कुपित होकर, रसोइया को शत्रु की प्रेरणा से इतना अधिक दंडित किया कि वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसने अत्यंत क्रुद्ध होकर निदान किया मैं इस राजा को अवश्य मारूँगा। वह रसोइया मरकर ज्योतिर्लोक में मिथ्यादृष्टि देव हुआ।

पूर्व वैर का स्मरण कर वह क्रोधवश राजा को मारने की इच्छा करने लगा। उसने देखा कि वह राजा जिह्वा लोलुपी है अतः व्यापारी का वेष धर मीठे-मीठे फल देकर प्रतिदिन राजा की सेवा करने लगा। किसी एक दिन उस देव ने कहा कि राजन्! वे फल तो अब समाप्त हो गए। राजा के द्वारा और फल मँगाए जाने पर उस देव ने कहा कि अब वे फल नहीं लाए जा सकते। पहले तो मैंने वन देवी की आराधना से वे प्राप्त किए थे यदि आप उन फलों में आसक्त हैं तो मेरे साथ स्वयं वहाँ चलकर फल खाइये। मंत्रियों के रोकने पर भी विचार हीन राजा रसना इन्द्रिय का लोभी हो राज्य छोड़ जहाज द्वारा समुद्र में प्रविष्ट हो गया। समुद्र के बीच में जाकर देव के कहने पर सुभौम ने णमोकार मंत्र का अपमान किया। तब उस देव ने दुर्वचन कहकर उसे विचित्र रीति से मार डाला।

राजा रावण–अष्टम प्रतिनारायण रावण, महाराज रत्नश्रवा व रानी केकसी का पुत्र था। इसकी पट्टरानी मंदोदरी थी। काम व मोह के वशीभूत राजा रावण की आयु चौदह हजार वर्ष की थी। वनवास के समय परस्त्री पर आसक्त हुआ वह पापी रावण छल से सीता का हरण कर लाया। अहंकार रूपी नाग से बार बार डसे जाने पर रावण का मान विष निरंतर वृद्धिंगत हो रहा था। हितैषियों के समझाये जाने पर भी रावण परनारी से विरक्त नहीं हुआ था। काम की मूर्च्छा से मूर्च्छित स्त्री लंपट, न्याय मार्ग से दूर रहने वाले रावण के कुकृत्यों से उसका दुरंत समीप आ चुका था। अधर्म की प्रवृत्ति करने वाला, महापाप से युक्त रावण का बलभद्र रामचंद्र व लक्ष्मण से युद्ध हुआ। युद्ध में लक्ष्मण के द्वारा रावण मारा गया और पापों का फल भोगने हेतु नरक में पहुँचा।

राजा कंस-कंस राजा उग्रसेन व रानी पद्मावती का पुत्र था। यह गर्भ से ही अत्यंत उग्र था। इसकी उग्रता से भयभीत होकर इसे कांसे की मंजूषा में छोड़ दिया गया। कौशांबी की निवासी आसव बनाने वाली मंजोदरी ने इसका पालन पोषण किया। इस रहस्य का उद्घाटन मंजोदरी ने राजा जरासंध के समक्ष उसके पूछे जाने पर किया। पुनः जरासंध ने अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह कंस के साथ कर दिया। पिता के द्वारा छोड़े जाने से कंस बहुत क्रुद्ध हुआ व राजा जरासंध से मथुरा का राज्य माँगा। उसे पाकर सेना से युक्त बचपन से ही निर्दयी, दुष्ट कंस ने अपने पिता राजा उग्रसेन से युद्ध कर उन्हें बंदी बनाकर नगर के मुख्य द्वार के ऊपर कैद कर दिया। निर्दयी, क्रूर, अभिमानी कंस से प्रजा भी त्रस्त थी। कंस का अन्याय अत्याचार असह्य होता जा रहा था। कंस की बहन देवकी के पुत्र कृष्ण का जन्म होते हुए उसकी सुरक्षा हेतु बलदेव व वसुदेव ने उन्हें वृंदावन निवासी सुनंद गोप व यशोदा को सौंप दिया एवं यशोदा की पुत्री को लाकर देवकी के निकट रख दिया। दुष्ट कंस ने हाथ से मसलकर उसकी भी नाक चपटी कर दी।

एक बार अपने शत्रु की खोज हेतु कंस ने घोषणा करवा दी कि जो कोई यहाँ आकर सिंहवाहिनी नागशय्या पर चढ़ेगा, अजितंजय धनुष को डोरी से सहित करेगा और पांचजन्य शंख को

फूकेगा उसे कंस अलभ्य इष्ट वस्तु देगा। कंस की घोषणा सुन अनेक राजा मथुरा आए, कोई यह कार्य न कर सका। कृष्ण भी वहाँ पहुँचे और क्षणभर में अपना पराक्रम दिखा दिया। बाद में श्री कृष्ण ने किसी एक समय अखाड़े में पैरों को खींचकर उसके योग्य यही दंड है यह विचारकर पत्थर पर पछाड़कर कंस का वध कर दिया। मृत्यु को प्राप्त कर वह नरक में गया। अन्याय व अनीतिपूर्ण राजा का यही दुरांत होता है।

राजा दुर्योधन–कुरुवंश के राजा धृतराज व रानी अंबिका के धृतराष्ट्र नामक पुत्र था। राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे। दुर्योधनादि पांडवों से ईर्ष्यावश पहले हुई संधि में दोष लगाने लगे कि आधे राज्य को पाँच पांडव और आधे राज्य को हम सौ भाई यह अन्याय है। दुर्योधन ने अधर्म अन्याय का साथ लेकर कई बार उन्हें मरवाने का प्रयास किया किंतु सफल न हो सका। अंत में अुर्जन के बाणों से उसके प्राण नष्ट हो गए। नीतिकारों ने कहा भी है–

यो राजा मंत्रिपूर्वाणां, न करोति हितं वचः।
स शीघ्रं नाशमायाति, यथा दुर्योधनो नृपः॥

जो राजा मंत्री, पुरोहित व सेनापति के वचनों को नहीं मानता वह शीघ्र नष्ट होता है जैसे राजा दुर्योधन।

इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ कुछ उन राजाओं के नाम उल्लिखित किए जो अन्याय, अत्याचार आदि के कारण नष्ट हुए व दुर्गति को प्राप्त हुए। अतः शासक उभय लोक सुखकारी न्याय-नीति के साथ राज्य संचालन करे।

राज्यासक्त नृप को सुगति नहीं

रत्तो रज्जम्मि जो रायो, णो पावेदि सुहं गदिं।
धवलं णो कया होज्ज, वसणं रत्तरंजिदं॥69॥

अर्थ–राज्य में आसक्त राजा कभी सुगति प्राप्त नहीं करता। जिस प्रकार रक्त में पड़ा हुआ वस्त्र कभी धवल नहीं होता।

A king who is infatuated in the kingdom, he does not get good transit as blood clothed is never white.

भावार्थ–**''मूर्च्छापरिग्रहः''** मूर्च्छा या आसक्ति परिग्रह है। यदि वस्तु मात्र को ही परिग्रह माना जाये तो निर्धन, पशु, पक्षी आदि तो कम परिग्रहवान् या अपरिग्रही कहलायेंगे, परिग्रह पाप से बच जायेंगे। किंतु ऐसा नहीं है। परिग्रह से आशय मात्र इतना नहीं है। परिग्रह अंतरंग व बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है। अंतरंग परिग्रह 14 प्रकार का है व बहिरंग परिग्रह के दस भेद हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इस प्रकार ये 14 अंतरंग परिग्रह हैं। स्वर्ण-चांदी, दासी-दास, धन-धान्य, कुप्य-भांड, क्षेत्र-वास्तु ये 10 बहिरंग परिग्रह हैं।

बाहरी वस्तुओं में आसक्ति होना परिग्रह है। आसक्ति सदैव दुःख का, दुर्गति का कारण है। यदि परिग्रह है, आसक्ति है तो निर्विकल्प नहीं रहा जा सकता और यह ही आर्त्त रौद्र ध्यान का कारण बनता है। यह ही नरक का, दुर्गति का कारण है। आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं **''बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः''** अर्थात् बहुत आरंभ व परिग्रह नरकायु या दुर्गति का कारण है। आसक्ति या परिग्रह जीव को दुर्गति की ओर ले जाने वाले यान के समान है। परिग्रह की मूर्च्छा-आसक्ति से उत्तम व मोक्ष का साधनभूत सुख प्राप्त नहीं होता है किंतु परिग्रह की मूर्च्छा से संसार का कारण दुःख ही प्राप्त होता है।[1]

राजा राज्य में आसक्ति के कारण दुर्गति का बंध करता है। आचार्य श्री गुणभद्र स्वामी ने (नारायण) राजा पुण्डरीक के विषय में कहा कि उसने चिरकाल तक भोग भोगे और उनमें अत्यंत आसक्ति के कारण नरक की भयंकर आयु का बंध कर लिया। वह बहुत आरंभ व परिग्रह का

---

1. **नो संगाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम्।**
संगाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबंधनम्॥304॥ सा.स.

धारक था, अंत में रौद्र ध्यान के कारण उसकी मिथ्यात्व रूप भावना भी जागृत हो उठी जिससे मरकर वह पापोदय से तम:प्रभा नामक छठवें नरक में प्रविष्ट हुआ।[2]

अत: जो राजा राज्य में आसक्ति रखता है, वह नियम से दुर्गति का पात्र होता है। जैसे रक्त में पड़ा हुआ वस्त्र कभी भी धवल नहीं होता वैसे ही राज्य में आसक्त राजा कभी सुगति को प्राप्त नहीं करता।

---

2. **पुण्डरीकश्चिरं भुक्त्वा भोगांस्तत्रातिसक्तितः।**
बध्वायुर्नारकं घोरं बह्वारम्भपरिग्रहः॥
प्रान्ते रौद्राभिसन्धानादृढ़मिथ्यात्वभावनः। 69/188
प्राणैस्तमःप्रभां मृत्वा प्राविशत्पापपाकवान्॥ 69/189 - उ. पु.

राजनीति से विरक्त होकर मोक्ष

जो भूवदी विरज्जित्ता, रायणीदीइ सव्वदा।
हिदमग्गे रदो णिच्चं, लहेदि कमसो सिवं॥70॥

अर्थ–जो राजनीति से विरक्त होकर हित के मार्ग में रत है, वह राजा क्रम से मोक्ष प्राप्त करता है।

Getting detached from politics, a king who is engaged in the path of interest, attains salvation respectively.

भावार्थ–राजा जब तक राज्य का संचालन कर रहा है तब तक न्याय-नीति पूर्वक करे, निष्ठा से कर्त्तव्य का पालन करे पश्चात् युवराज को योग्य देख राज्य में आसक्त न होकर, उससे विरक्त होते हुए पुत्र को राज्यभार सौंपकर स्वयं कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो। दुर्गति का कारण-राज्य को त्यागकर आत्म हित के मार्ग में प्रवृत्त हो। इतिहास में कितने उदाहरण हैं कि जो राजा राज्य में आसक्तिपूर्वक, राज्यावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुए वे दुर्गति के पात्र बने। किंतु इतिहास साक्षी है राज्य से विरक्त हो आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर राजा सदैव पूज्यावस्था को प्राप्त हुआ है, काल की अनुकूलता में तो उसी भव से भी मोक्ष प्राप्त किया है अन्यथा परंपरा से तो वह मोक्ष का कारण है ही।

भरत चक्रवर्ती, राजा दशरथ, राजा राम, राजा श्वेतवाहन, राजा करकंडु, राजा श्रीपाल, राजा नमि, राजा नरवाहन, राजा अभयघोष, राजा सिंहसेन, राजा द्रुपद, राजा शिवकोटि, सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य, राजा अमोघवर्ष आदि राजाओं ने बाद में राज्य का परित्याग कर दैगम्बरी दीक्षा अंगीकार की। कल्याण मार्ग पर गमन करने वाले वे राजा नर, सुर, इंद्रों द्वारा वंदनीय हुए। इनमें किन्हीं ने कर्म रूपी शत्रुओं का नाशकर उसी भव से मोक्ष को प्राप्त किया और कुछ ने सुगति गमन किया। जिन्होंने तत्काल मोक्ष को प्राप्त नहीं किया वे परंपरा से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

आदर्श रानी

रूव-लावण्ण-संजुत्ता, गुणपुंजा खिदीव्व हु।
सुविज्जा पुण्णमंता य, राणी धम्मी सदी सया॥71॥

अर्थ–रानी रूप लावण्य से युक्त हो, गुणपुंज हो, पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी सम गुणों की धारक हो, सती हो, विद्यावती हो व धर्मी हो तथा सदा पुण्यवती हो।

A queen should be beautiful, virtuous, meritorious like earth, wisest, religious, and modest.

भावार्थ–राज्य में रहने वाले प्रत्येक मनुष्य की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है। राजा की रानी यदि धर्म के विपरीत या गुणों से रहित हुई तो राजा का भविष्य भी अंधकारमय होगा। नारी प्रेरणास्रोत बन नर की उन्नति में सहायक होती है। अतः यहाँ ग्रंथकार रानी किन लक्षणें से युक्त हो इसका विवेचन करते हैं।

रानी रूप सौंदर्य की राशी हो एवं रूप सौंदर्य से युक्त होते हुए भी अहंकार से रहित हो। किसी भी प्रकार का अहंकार व्यक्ति को पतन के गर्त में पहुँचा देता है। अतः रानी मद रहित होते हुए बाहर से भी सुंदर हो और अंतरंग से भी। अंतरंग से सुंदर होने का आशय है गुणों से युक्त हो। अंतरंग गुणों के बिना केवल बाह्य सौंदर्य भी व्यर्थ है।

अतः ग्रंथकार ने लिखा कि रानी गुणपुंज होनी चाहिये। रानी में दया, वात्सल्य, साहस, त्यागभाव, कला, विज्ञान, सदाचारादि गुण हों। रानी राजा की आज्ञाकारिणी हो, सद् व्यवहार, मिष्टवचनों से युक्त हो, राजकुल के अनुरूप आचरण करने वाली हो। राजा की, महलों की या राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने में अग्रगण्य हो। बिना गुणों के कोई भी प्रशंसनीय नहीं। गुण सदा सर्वत्र प्रशंसनीय हैं तथा गुण-गुणी से अलग नहीं है अतः गुणी भी उन्हीं गुणों के माध्यम से पूज्यता को प्राप्त होता है। जिस प्रकार डोरी से रहित धनुष को शत्रु पर प्रहार करने के लिए चढ़ाना व्यर्थ है, उसी प्रकार गुणों से रहित का मात्र श्वांस लेने से क्या लाभ? अर्थात् जीवन निरर्थक है।[1]

रानी पृथ्वी के समान हो। जैसे रत्नगर्भा भूमि में हीरा, माणिक, पन्ना, पुखराज, नीलम आदि अनेक प्रकार के रत्न होते हैं वैसे ही रानी में गुण रूपी रत्नों का समावेश हो। वह पृथ्वी की तरह क्षमाशील व सहनशील हो। जैसे पृथ्वी जलवृष्टि, सूर्य के ताप सबको सहन करती है, अपने अंदर अवशोषित कर लेती है उसी प्रकार रानी भी दोषों का अवशोषण करने वाली हो। व्यर्थ की बातें जो राजा को कुपित करने में कारण हैं वह राजा के कर्णद्वारों तक न पहुँचाये।

---

1. **गुणहीन धनुः पिंजनादपि कष्टं॥ –नी.वा.**

रानी सती अर्थात् शीलवान्, चारित्रवान् हो। नारी की सबसे बड़ी संपत्ति, सबसे महत्वपूर्ण आभूषण उसका शील है। शील से बड़ी धरोहर और कुछ नहीं। क्योंकि धन-संपत्ति चली गई तो लौटकर आ सकती है किंतु शील एक बार चला जाए तो जीवन में कभी लौटकर नहीं आता। शील से रहित मनुष्य लोक में निंदनीय है। शील की धवल किरणें नारी के समस्त गुणों को आलोकित करती हैं। शील नारी का प्रमुख धर्म है। संसार में सर्वत्र सबका श्रृंगार शीलव्रत है तो भी नारियों का तो विशेष रूप से शीलधर्म अनुपम श्रृंगार कहा है। शीलव्रत विहीन नारी कुक्करी व गधी के समान पराभव और निंदा की पात्र कहलाती है।[2] जो मनुष्य इस लोक में अपने शीलव्रत का रक्षण करते हैं जो अपने प्राणों समान निर्मलशील का पालन करते हैं, सदा उसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न करते हैं वे सुर असुरादि द्वारा पूज्य होते हैं।[3]

रानी विद्यावान् हो। लौकिक-पारमार्थिक विद्या में कुशल हो, नीति की ज्ञाता हो। रानी कलाओं में निपुण हो। शिक्षावान्, विद्यावान् व कलाओं में निपुण रानी राज्य की उन्नति में सहायक हो सकती है। स्त्रियों की चौंसठ कलायें कही गई हैं उनमें कुशल नारियाँ समय पड़ने पर रानी जक्कमव्वे, रानी सावियव्वे, रानी सिंधुला, रानी वीरादेवी के समान राज्य की सुरक्षा करने में समर्थ हो सकती हैं। अपने नीति ज्ञान से, सम्यक् शिक्षा से राजादि को सम्यक् पथ पर आरूढ़ कर सकती हैं।

महारानी धार्मिक हो। देवपूजन, पात्रदान, तीर्थयात्रा आदि में सदैव संलग्न हो। दुनिया का कोई भी दरवाजा बंद हो सकता है किंतु धर्म का दरवाजा कभी बंद नहीं होता। संसार में यदि तू सुखी है अथवा दु:खी है तो दोनों अवस्थाओं में तुझे धर्म ही करना चाहिए। सुखी को सुख की वृद्धि के लिए और दु:खी को दु:ख का विनाश करने के लिए धर्म करना आवश्यक है।[4]

रानी सदैव पुण्यवती हो। पुण्यवान् से आशय यहाँ सौभाग्यवान् से भी है। वंश-परंपरा की वृद्धि करने वाली हो। पुण्य से समस्त इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है। वह पुण्यवती स्वयं सुखों का भोग करती हुई पुन: पुण्य अर्जन में रत हो। इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ रानी के गुणों का विवेचन किया।

---

2. **सर्वेषां मण्डनं शीलं स्त्रीणांचाऽपि विशेषतः।**
   शीलहीना वृथा नारी, कुक्कुरीवखरी यथा॥84 श्री.च.
3. **शीलं रक्षन्ति लोकेऽत्र निर्मलं प्राणवत्सदा।**
   ये नरायोषिताश्चाऽपि ते पूज्यन्ते सुरादिभिः॥85॥ श्री.च.
4. **सुखीतस्य दु:खितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः।**
   सुखीतस्य तदभिवृद्धयै दु:ख-भुजस्तदुपधाताय॥

आदर्श प्रजा

मज्जादा-धारगा णिच्चं, सग रायाणुगामिणी।
सया कत्तव्वसीला जा, आयंसा खलु सा पया॥72॥
रदा जा देवपूयाए, सव्व-सुसंत-सेवगा।
वद-पव्वेसु उच्छाही, माणणीया हु सा पया॥73॥

अर्थ–जो नित्य मर्यादा का पालन करने वाली है, राजा की अनुगामिनी है, सदा कर्त्तव्यशीला है वह निश्चय से आदर्श प्रजा है। जो नित्य देवपूजा में रत है, सभी सुसंतों की सेवा करने वाली है, व्रत पर्वों में उत्साही है, वह प्रजा निश्चय से माननीया है।

An ideal subject is that who always upholds dignity, is follower of the king and dutiful. Subject who is indulged in ***Devpuja*** (Worship to God), serving all saints, enthusiastic in fasting or festivals, is only honorable.

भावार्थ–प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कर्त्तव्य होते हैं, मानव उन्नति के लिए कुछ लक्षणों का होना आवश्यक है। शासकों के लक्षण व कर्त्तव्य कहने के पश्चात् ग्रंथकार यहाँ प्रजा के लक्षण निर्देशित कर रहे हैं। सर्वप्रथम कहा प्रजा मर्यादा का पालन करने वाली हो। वह स्वतंत्र तो रहे किंतु स्वच्छंद नहीं। अपनी मर्यादा में रहकर कार्य करना स्वतंत्रता है और मनमानी ढंग से कार्य करना स्वच्छंदता है। पारिवारिक जन, मित्र, पड़ोसी, शासकादि के प्रति मर्यादित रहें। मर्यादित नदी अपने गंतव्य तक सभी के लिए हरियाली व खुशहाली करते हुए पहुँच जाती है किंतु मर्यादा तोड़कर अर्थात् तटों का उल्लंघन कर प्रवाहित होने वाली नदी सभी के लिए विध्वंसकारी होती है। अतः प्रजा सब के प्रति सभी प्रकार से आचार, विचार, व्यवहारादि से मर्यादित रहे।

समीचीन प्रजा सम्यक् राजा का अनुकरण करने वाली हो। शासक ने जो निर्देश दिये हों उनका पालन करे। चाहे राजा ने वे नियम नगर में रहने के बनाए हों या सड़क पर गमन करने के अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान जाने के और चाहे राज्य की सुआय हेतु कर के। प्रजा के लिए राजा ने जो भी नियम बनाये हों वह उनका पालन करने वाली हो। राजा के प्रति निष्ठावान् हो।

प्रजा सदा अपने कर्त्तव्य पालन में रत हो। देश, धर्म, परिवार, शासकादि के प्रति वह अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा के साथ पालन करे। इनका कभी अपमान न करे। आचार्यों, विद्वानों, नीतिकारों, मनीषियों ने कहा है कि चित्र में भी कभी वर्तमान राजा का तिरस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि उसमें ऐसा क्षात्र-तेज विद्यमान रहता है, जो कि राज-पुरुष के शरीर में महान् देवता रूप से निवास करता है।[1] प्रजा अपने करने योग्य कार्यों में चूक न करे। कर्त्तव्यों की चोरी करने वाले कभी उन्नति

1. **चित्रगतमपि राजानं नावमन्येत क्षात्रं हि तेजो महतीसत्पुरुषदेवतास्वरूपेण तिष्ठति। –नी.वा.**

नहीं कर सकते। देश की उन्नति शासक व प्रजा पर निर्भर है। यदि दोनों ही समीचीन रूप से अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तो देश की उन्नति निश्चित ही है। राजा या विवेकी मनुष्य को संपत्ति और कीर्ति-लाभ आदि बहुत गुणों से युक्त तथा विनाश रहित व कल्याणकारक कार्य करना चाहिये।

प्रजा देव पूजा में तत्पर हो। संसार रूपी सागर से तिराने वाले, तीनों लोक-तीनों कालों की सभी बातों को युगपत् जानने वाले-सर्वज्ञ, क्षुधादि 18 दोषों से रहित, राग-द्वेष से रहित-वीतरागी तथा समस्त प्राणियों को मोक्षमार्ग का प्रत्यक्ष उपदेश करने वाले-हितोपदेशी देव कहे जाते हैं। ऐसे ईश्वर की, देव की, भगवान् की आराधना, उपासना, पूजा, भक्ति आदि में लीन रहे। अपने शरीर रूपी गृह को देव-शून्य न करे।[2] अर्थात् देव, प्रभु की स्थापना करे। देव, गुरु व अहिंसा धर्म की अवहेलना करने वाले व्यक्ति के नैतिक और सदाचारी होने में किसी को विश्वास नहीं होता अतः विवेकी पुरुष को शाश्वत कल्याण व लोक में विश्वास पात्र होने के लिए वीतारागी देव, सर्वज्ञ-हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु व अहिंसा धर्म का श्रद्धालु होना चाहिये।[3] देव-भक्ति में रत मनुष्य ही भौतिक सुखों को प्राप्त करता हुआ क्रमशः निर्वाण सुख को प्राप्त करता है।

प्रजा संतों की सेवा में अनुरक्त हो। निर्ग्रंथ साधुओं का दर्शन पुण्य है क्योंकि साधु तीर्थस्वरूप हैं किंतु तीर्थ तो समय पाकर फल देता है पर साधु का समागम शीघ्र ही फल देता है।[4] ऐसे साधुओं की सेवा अर्थात् आहार दानादि देने से बहु पुण्य की प्राप्ति होती है। आहार दान से तीनों लोकों की संपत्ति, मनुष्यभव, भोगभूमि, स्वर्गादि, यश-कीर्ति की प्राप्ति व सुरों के द्वारा अर्चित होते हैं।[5] प्रजा साधु-संतों का सम्मान, आदर पूजा, वंदना करे व आहार दान, वैय्यावृत्ति आदि के माध्यम से अपने पाप-मलों का प्रक्षालन करे। गुरु की सेवा से तीर्थस्थान की सेवा अथवा तीर्थयात्रा का फल प्राप्त होता है।

प्रजा व्रत-पर्वों में उत्साही हो। व्रत-पर्व परिणामों की निर्मलता में निमित्त कारण हैं। इनके आते ही व्यक्ति अपने पुराने वैर-भाव, क्रोधादि को छोड़ वात्सल्यपूर्वक पुनः जीवन-व्यतीत करते हैं। व्रतादि धार्मिक अनुष्ठानों की सार्थकता भी तभी है जब कषायों की गाँठ हृदय में न रहे। उत्सव

---

2. **नादेवं देहप्रासादं कुर्यात्। – नी.वा.**
3. **देवगुरुधर्मरहिते पुंसे नास्ति सम्प्रत्ययः। नी.वा.**
4. **साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः।**
   तीर्थं फलति कालेन, सद्यः साधु समागमः॥
5. **आहारदानेन लभ्यन्ते, तिजगच्छी सुखादयः।**
   नृ भोगभूमि नाकादौ, विश्वकीर्ति सुरार्चना॥

मनाना तभी सार्थक है जबकि इस अवसर पर बंदियों, कैदियों को छुटकारा और अनाथों की रक्षा की जावे, पर्व मनाने की सार्थकता तभी है जबकि इस अवसर पर अतिथियों और कुटुम्बीजनों को दान-सम्मान द्वारा अत्यंत संतुष्ट किया जाये।[6] इन व्रत-उत्सव-पर्वों के माध्यम से परस्पर में प्रेम-वात्सल्य का संचार हो।

इस प्रकार इन लक्षणों से युक्त प्रजा ही आदर्श प्रजा है व माननीय है।

---

6. **स एवोत्सवो यत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च।**
तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणं।। –नी.वा.

श्रेष्ठ नागरिक

देस-सुधम्म-कत्तव्व-उवयारेसु जो रदो।
पिदर-सेवगो णिच्चं सो हु णागरिओ वरो॥74॥

अर्थ–जो देश सद्धर्म, कर्त्तव्य और उपकार में रत है, नित्य माता-पिता की सेवा करता है, वह निश्चय से श्रेष्ठ नागरिक माना जाता है।

A citizen who is engaged in duty and beneficent to his country and true religion, is serving parents, is superior.

भावार्थ–देश में उत्पन्न व वहाँ निवास करने वाले तो नागरिक बहुत हैं किंतु श्रेष्ठ नागरिक होना एक अलग बात है। देश की उन्नति वहाँ के उन नागरिकों के माध्यम से संभव है जो देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हों, धार्मिक प्रवृत्ति के हों, अपने कर्त्तव्यों को निष्ठा के साथ पालते हों, परोपकारी व माता-पिता की सेवा में संलग्न हों। नागरिक या नैतिक मनुष्य को पचने वाले अर्थात् निरंतर विशुद्ध, पुण्य, यशस्वी, न्याय युक्त और भविष्य में कल्याणकारक सत् कार्य करना चाहिए।[1] उसे न पचने वाले समाज-दंड और राज-दंडादि द्वारा अपकीर्ति को फैलाने वाले अन्याय-युक्त असत् कार्यों से दूर रहना चाहिये।

श्रेष्ठ नागरिक अपने देश के प्रति निष्ठावान् हो। देश की संपत्ति को हानि न पहुँचे, जैसे घर की प्रत्येक वस्तु का ध्यान रखता है उसी प्रकार राष्ट्रीय संपत्ति का संरक्षण करना चाहिये। दूसरे देश से आये अतिथियों के प्रति आतिथ्य भाव, सम्मान का भाव रखे जिससे देश की गरिमा बने रही। एक बार विदेशी व्यक्ति भारत आए और एक भारतीय व्यक्ति से मुलाकात हुई। भारतीय व्यक्ति ने मुस्कुराते हुए कहा आपका इस भारत देश में स्वागत है। विदेशी व्यक्ति यह सुनकर स्वागत के प्रतीक भारतीय की मुस्कुराहट को देख अत्यंत प्रसन्न हुआ और आगे बढ़कर भारतीय के चरण स्पर्श करने लगा। भारतीय व्यक्ति ने उसे रोकते हुए कहा अरे! यह क्या कर रहे हो? वह विदेशी व्यक्ति चरण स्पर्श करते हुए बोला कि मैंने भारत के विषय में बहुत सुना है, यहाँ के निवासियों की सौहार्दता, समन्वयता आदि के विषय में भी सुना है मैं यहाँ के प्रत्येक नागरिक को साधु के समान ही मानता हूँ।

श्रेष्ठ नागरिक का कर्त्तव्य है वह अपने देश की अस्मिता, गरिमा को बनाए रखे। देश में लागू हुए नियमों का पालन करे।

वह नागरिक धर्म में तत्पर हो। नीतिकारों ने, विद्वानों ने, मनीषियों ने कहा है कि धर्म श्रेष्ठ मनुष्य का प्राण है। उसे जीवन के किसी भी क्षेत्र में धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए, धर्म के अनुरूप

---

1. **तदेव भुज्यते यदेव परिणमति। –नी.वा.**

ही आचरण करना चाहिए। चाहे राज्य लक्ष्मी चली जाए, चाहे तलवार की चोट पड़े, चाहे मृत्यु भी आ जाये किंतु मन कभी भी धर्म का परित्याग न करे।[2] जब हृदय में धर्म होता है तब व्यक्ति अन्यायपूर्वक कोई कार्य नहीं कर सकता। पं. गोपाल दास बरैया जिन्होंने जीवन का चाहे कोई भी क्षेत्र हो–व्यापार या परिवार अथवा कुछ भी किंतु धर्म को नहीं छोड़ा। एक बार मंडी में आग लगी। उसमें अन्य व्यापारियों के साथ उनका भी माल जल गया। माल का बीमा करवाया हुआ था। दूसरे लोगों ने बीमा कंपनी से खूब धन वसूल किया, जितना माल था उससे भी अधिक बताया। गोपाल दास जी भी चाहते तो ऐसा कर सकते थे किंतु उन्होंने एक पैसा भी अधिक नहीं लिया। रेलवे, पोस्ट ऑफिस या अन्य कहीं का यदि एक पैसा भी भूल से अधिक आ जाता था तो उन्हें वापिस किए बिना चैन नहीं पड़ती थी।

एक समय गोपाल दास बरैया अपनी पत्नी और बेटे के साथ ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। घर पहुँचने पर उन्हें याद आया कि मेरा पुत्र आज ही 8 वर्ष का पूरा हुआ है इसका टिकट तो पूरा लगना था। उन्होंने तुरंत टिकट की धनराशि मनीऑर्डर के माध्यम से रेलवे भेजी। देश के प्रति इसी प्रकार की निष्ठा प्रत्येक नागरिक के हृदय में होनी चाहिये।

मनुष्य को देवकार्य अर्थात् मंदिरादि जाना, गुरुकार्य व धर्मकार्य की देखरेख करनी चाहिए। प्रतिदिन मंदिर जाना, पूजा, स्तुति आदि कर दिन का प्रारंभ करना चाहिए। ईश्वर के प्रति श्रद्धा, आस्था, विश्वास उसकी उन्नति में सहायक होता है। प्रत्येक व्यक्ति सुबह-दोपहर-शाम तीनों संध्या कालों में ईश्वर की उपासना करे।[3]

गुरुओं की सेवा में अनुरक्त रहे एवं शास्त्र स्वाध्याय में भी लीन रहे। धर्म सहित मनुष्य का एक मुहूर्त का जीवन अच्छा है। धर्म रहित मनुष्य का करोड़ों वर्ष का जीवन व्यर्थ है।[4]

धार्मिक व्यक्ति के मन में मैत्री, करुणा, वात्सल्य, कर्त्तव्य पालनादि भावनाएँ सदा अपना स्थान बनाती हैं जिससे वह गलत कार्यों में प्रविष्ट नहीं होता, अन्याय-अनीति आदि के मार्ग पर गतिमान नहीं होता। वह देव-शास्त्र-गुरु का भक्त कभी भ्रांत बुद्धि अर्थात् कर्त्तव्य-पक्ष से विचलित करने वाली बुद्धि युक्त नहीं होता।

श्रेष्ठ नागरिक सभी के प्रति अपने कर्त्तव्यों में रत रहे। प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक सुख में बाधा न डालता हुआ दिन-रात कर्त्तव्य पालन करता रहे तथा शाश्वत कल्याण करने वाले सत्कर्त्तव्यों के पालन

---

2. **सपदिविलयेतु राज्यलक्ष्मीरूपरि पतन्त्वथवा कृपाणधारा।**
   अपहरस्तुतरां शिरः कृतान्तो मे तु मतिर्न मनागपैतु धर्मात्॥ –भामिनी विलास
3. **अहनि संध्याम्रुपासीताऽनक्षत्रदर्शनात्। –नी.वा.**
4. **वरं मुहूर्तमेकं च धर्मयुक्तस्य जीवनम्।**
   तद्धीनस्य वृथा वर्ष-कोटी-कोटी विशेषतः॥

में मौका न चूके। मनुष्य को नैतिक, धार्मिक और आर्थिक लाभ आदि के कारण अवश्य करने योग्य कार्यों में विलम्ब नहीं करना चाहिये। अन्यथा उसका कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता। नैतिक मनुष्य को शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक कष्टों को दूर कर निज रक्षा करने में आलस्य नहीं करना चाहिये। परिवार के पोषण के लिए न्याय मार्ग से निष्प्रमाद हो धन का अर्जन करना चाहिए। पारिवारिक लोगों या मित्रों आदि के कष्ट को भी दूर करना चाहिये। हिंसादि पापों से दूर हो, परोपकारी बने।

श्रेष्ठ नागरिक ऐसे व्यक्तियों-स्थितियों व परिस्थितियों से बचकर रहे जिससे उस पर कोई दोष लग सके। जैसे किसी दूसरे की स्त्री के साथ एकांत में न बैठे। मदिरापान करना, जूआ खेलना, माँस खाना आदि व्यसनों से दूर रहे, सदाचारी हो, अपनी संगति अच्छी रखे। दुष्ट मनुष्य के साथ न तो मित्रता करनी चाहिये और न शत्रुता। अंगार गर्म रहने पर हाथ को जलाता है और ठंडा होने पर हाथ काला करता है।[5] दूसरों की निंदा करने में मौन रहें और अपनी प्रशंसा करने में उदासीन रहें, ऐसे व्यक्ति सर्व लोक में पूज्य होते हैं।[6] श्रेष्ठ नागरिक अपने मन-वचन-काय पर नियंत्रण रखें।

श्रेष्ठ नागरिक माता-पिता की सेवा में तत्पर हो। मनुष्य को अपने माता-पिता के प्रतिदिन चरण-स्पर्श करना चाहिये। मनुष्य को अत्यंत कुपित होने पर भी अपने माननीय माता-पिता आदि हितैषी पुरुषों के साथ कभी भी अशिष्ट व्यवहार या अनादर नहीं करना चाहिये।[7] माता-पिता या वृद्धों की सेवा से मनुष्य के यश, विद्या, आयु और बल वृद्धिंगत होता है। जो नागरिक माता-पिता का सम्मान कर सकता है वह अन्य गुरु आदि का भी सम्मान कर सकता है किंतु माता-पिता की सेवा से हीन व्यक्ति में एक भी गुण विकसित नहीं होता।

इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ श्रेष्ठ नागरिक को पारिभाषित किया।

---

5. **परनिन्दासु ये मूकाः, निजश्लाघ्यपराङ्मुखाः।**
   ईदृशैर्यैः गुणैर्युक्तास्ते पूज्याः सर्वविष्टये॥86॥ – सा. समु.
6. **दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत्।**
   उष्णो दहति चांगार शीतः कृष्णायते करम्॥
7. **नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामदेवमन्येत वा। –नी.वा.**

राज्य के षट् अंग

संधि-विग्गह-याणं च, संसय-आसणं तहा।

दुहा-भावो सडंगाणि, बुहा रज्जस्स भण्णदे।।75।।

अर्थ–संधि, विग्रह, यान, संश्रय, आसन व द्वैधी भाव ये राज्य के छः अंग विद्वानों ने कहे हैं।

The treaty, conspiracy, yaw (climbing), ***asana*** (pause), doubts and dualism - these six parts of the state have been discussed by the scholars.

भावार्थ–राजागण अपने राज्य की स्थिति, वृद्धि और समृद्धि के लिए 6 प्रकार के प्रयोग करते हैं, ये ही राज्य के 6 अंग हैं। आचार्य भगवन् श्री सोमदेव स्वामी ने कहा है–

''राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्मं राज्यं।। –नी. वा.

राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म-षाड्गुण्य को राज्य कहते हैं।

अथवा वर्ग विद्वान् ने भी लिखा है–

षाड्गुण्यचिन्तनं कर्म राज्यं यत्संप्रकथ्यते।

न केवलं विलासाद्यं तेन बाह्यं कथंचन।।

काम विलास आदि को छोड़कर षाड्गुण्य- संधि और विग्रहादि के उचित प्रयोग को राज्य कहा गया है।

आचार्य भगवन् श्री सकल कीर्ति मुनिराज ने भी श्रीपाल चरित्र में राज्य के छः अंग इसी प्रकार कहे हैं–

सन्धि विग्रहयानाख्यमासनं संश्रयस्तथा।

द्वैधीभावः षडेते च प्रोक्ता राज्याङ्गता बुधैः।।73।।

सन्धि, विग्रह, यान आसन, संश्रय तथा द्वैधी भाव बुधों के द्वारा राज्य के 6 अंग कहे गये हैं।

सन्धि आदि षाड्गुण्य का स्वरूप इस प्रकार है–

1. **संधि**–**''पणबन्धः सन्धि''** आचार्य श्री सोमदेव सूरी कहते हैं कि मैत्री करना सन्धि है। जिस समय राजा स्वकीय शत्रु को अधिक बलवान् हुआ जान लेता है, युद्ध में विजय की अपेक्षा सैनिकों के संहार व असफलता का आभास मिल जाता है, राज्य की क्षति परिलक्षित होने लगती है तो सैनिकों आदि की रक्षा के लिए व राज्य के श्री वृद्धि के लिए बलवान् शत्रु को भेंट देकर उससे मित्रता कर लेता है, यह मित्रता करना ही संधि है। शुक्र ने भी कहा है–

दुर्बलो बलिनं यत्र, पणदानेन तोषयेत्।

तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य, यावन्मात्रः प्रजल्पितः।।

जब विजिगीषु अपनी दुर्बलतावश बलिष्ठ शत्रु राजा के लिए धनादि देकर उससे मित्रता करता है, उसे संधि कहते हैं।

2. **विग्रह**–**''अपराधो विग्रहः''** विजिगीषु किसी के द्वारा किए हुए अपराध-वश युद्ध करता है वह विग्रह है। अथवा परस्पर विरोध करना, निर्बल से लड़ाई करना विग्रह है। कोई भी राजा अहंकार वश अपने प्रभुत्व से अन्य राज्य पर आक्रमण करता है, उसे अपने आधीन करना चाहता है, युद्ध के लिए उसे आमंत्रित करता है यह विग्रह है।

3. **यान**–**''अभ्युदयो यानं''** विजिगीषु द्वारा शत्रु पर आक्रमण किया जाना, शत्रु पर चढ़ाई करना उसे यान कहते हैं अथवा शत्रु को अपने से ज्यादा बलिष्ठ समझकर किसी दूसरे स्थान पर चले जाना भी यान है।

4. **आसन**–**''उपेक्षणमासनं''** उपेक्षा करना आसन है अर्थात् सबल शत्रु को आक्रमण करते तत्पर देखकर उसकी उपेक्षा करना (उस स्थान को छोड़ अन्यत्र चले जाना) आसन कहलाता है।

5. **संश्रय**–**''परस्यात्मार्पणं संश्रयः''** बलिष्ठ शत्रु द्वारा देश पर आक्रमण होने पर जो उसके प्रति आत्मसमर्पण किया जाता है उसे संश्रय कहते हैं।

6. **द्वैधीभाव**–संग्रह-विग्रह दोनों से काम लेना द्वैधी भाव है। **''एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः।''**

बलवान् और निर्बल दोनों शत्रुओं द्वारा आक्रमण किए जाने पर विजिगीषु को बलिष्ठ के साथ संधि और निर्बल के साथ युद्ध करना चाहिए अथवा बलिष्ठ के साथ सन्धिपूर्वक जो युद्ध किया जाता है उसे द्वैधीभाव कहते हैं।

प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः।

जब विजिगीषु अपने से बलिष्ठ शत्रु के साथ पहले मित्रता स्थापित कर लेता है और फिर कुछ समय बाद शत्रु के हीन शक्ति हो जाने पर उसी से युद्ध छेड़ देता है उसे बुद्धि-आश्रित 'द्वैधीभाव' कहते हैं।

इस प्रकार सन्धि-विग्रह आदि नाना प्रकार के प्रयत्नों से अपने राज्य को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

राज्य के सप्तांग

राया-मंति-किला-कोस-देस-सेणाहि सव्वदा।
च सत्तंगेहिं च मित्तेणं, रज्जं लोयम्मि सोहदे॥76॥

अर्थ–राजा, मंत्री, किला, कोष, देश, सेना तथा मित्र इन सात अंगों से राज्य सर्वदा लोक में सुशोभित होता है।

King, Minister, Fort, Treasury, Territory and population, Army and Friends, the state always beautifies itself with these seven organs.

भावार्थ–राजा, मंत्री, दुर्ग, कोष, देश, सेना व मित्र इन 7 अंगों से एक राज्य का निर्माण होता है। जिस प्रकार हृदय, मस्तिष्क, नितम्ब, पीठ, दो हाथ, दो पैर ये शरीर के मुख्य अंग हैं इनमें से एक से भी रहित होने से वह विकलांग कहलाता है। इसी प्रकार राजादि राज्य के मुख्य अंग हैं। एक भी अंग से हीन राज्य, विकल राज्य की श्रेणी में आता है जिसका अस्तित्व अधिक समय तक नहीं रह सकता।

आचार्य श्री सकलकीर्ति जी मुनिराज भी राज्य के सप्त अंगों को इस प्रकार कहते हैं-

स्वाम्यमात्यसुहृदकोष दुर्गदेशबलानि च।
सप्तांग राज्यमित्याहुर्नीतिशास्त्र विचक्षणाः:॥72॥ श्री. च.

स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्री), सुहृद (मित्र), कोष, दुर्ग, देश, बल (सेना) ये नीति शास्त्र के विद्वानों ने राज्य के 7 अंग कहे।

राजा–जो प्रजा का संरक्षण करता है, दुष्टों का विग्रह करता है, शिष्टों का संग्रह करता है, पृथ्वी की रक्षा करता है वह राजा कहलाता है।

''योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा'' –नी. वा.

जो अनुकूल चलने वालों की अर्थात् राजकीय आज्ञा मानने वालों की इंद्र के समान रक्षा करता है तथा प्रतिकूल चलने वालों अर्थात् अपराधियों को यमराज के समान सजा देता है, उसे राजा कहते हैं। अथवा भार्गव ने भी कहा है–

वर्तते योऽरिमित्राभ्यां यमेन्द्राभः भूपतिः।
अभिषेको व्रणस्यापि व्यंजनं पट्टमेव वा॥

राजा शत्रुओं के साथ काल के सदृश और मित्रों के साथ इन्द्र के समान प्रवृत्ति (क्रम से निग्रह और अनुग्रह का बर्ताव करना) करने वाला होता है, कोई व्यक्ति केवल अभिषेक और पट्ट बंधन से राजा नहीं हो सकता। उसे प्रतापी और शूरवीर होना चाहिए अन्यथा अभिषेक (जल से धोना) और पट्ट बंधन-पट्टी बांधना आदि चिह्न तो व्रण-घाव के भी किये जाते हैं उसे भी राजा कहना चाहिए।

मंत्री–मंत्री राजा के मित्र के समान माना जाता है। कहा है–

''स्वकर्मोत्कर्षापकर्ष योर्दानमानाभ्यां सहोत्पत्तिविपत्ती येषां तेऽमात्याः''

जो राजा द्वारा दिए हुए दान-सम्मान प्राप्त कर अपने कर्त्तव्य-पालन में उत्साह व आलस्य करने से क्रमशः राजा के साथ सुखी-दुखी होते हैं, उन्हें अमात्य या मंत्री कहते हैं।

मंत्री राजा को उचित समय पर उचित सलाह देते हैं। संभव है राजा को तत्काल वह अप्रिय लगे किंतु फिर भी भविष्य के लिए जो हितकारक हो वैसे ही वचन कहने चाहिए। तत्काल में हानिकारक प्रिय वचन बोलकर अकार्य का उपदेश नहीं देना चाहिए। राज्य की सभी गतिविधियों पर वह दृष्टि रखे और अपने गुप्तचरों से देश की सुरक्षा हेतु समाचार प्राप्त कर देश की उन्नति में संलग्न रहे। मंत्री राज्य का महत्वपूर्ण अंग है। विद्वानों ने कहा है जिस प्रकार रथ आदि का एक पहिया दूसरे पहिये की सहायता के बिना नहीं घूम सकता, उसी प्रकार अकेला राजा भी मंत्री आदि सहायकों के बिना राजकीय कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

दुर्गः–जो व्यक्ति की आपत्तिकाल में रक्षा करे वह दुर्ग है। राजा का दुर्ग जितना सुदृढ़ होगा, शत्रुओं से संरक्षण उतना ही सरल होगा। यह राजादि का रक्षा कवच भी स्वीकार किया जा सकता है इसीलिए इसे राज्य का अंग कहा गया।

''यस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया व स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम्।'' –नी.वा.

जब विजिगीषु राजा अपने राज्य में शत्रु द्वारा हमला होने के अयोग्य विकट स्थान (कोट, खाई आदि) बनवाता है तब शत्रु लोग उन विकट स्थानों से दुःखी होते हैं क्योंकि उनके हमले सफल नहीं हो पाते एवं दुष्टों द्वारा होने वाले आक्रमण संबंधी विजिगीषु के कष्ट-नाशक होने से भी इसे 'दुर्ग' कहते हैं। इस दुर्ग के दो भेद हैं–**(1) स्वाभाविक (2) आहार्य**

स्वाभाविक दुर्गः–स्वयं उत्पन्न हुए, युद्धोपयोगी व शत्रुओं द्वारा आक्रमण करने के अयोग्य पर्वत खाई आदि विकट स्थानों को स्वाभाविक दुर्ग कहते हैं। चाणक्य ने कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसके चार भेद किए।

(i) **औदक**–चारों ओर नदियों से वेष्टित व मध्य में टापू समान विकट स्थान अथवा बड़े-बड़े तालाबों से वेष्टित मध्य स्थान को 'औदक' कहते हैं।

(ii) **पार्वत**–बड़े-बड़े पत्थरों या महान् चट्टानों से घिरे हुए अथवा स्वयं गुफाओं के आकार बने हुए विकट स्थान 'पार्वत दुर्ग' हैं।

(iii) **धान्वन**–जल व घास-शून्य भूमि या ऊपर जमीन में बने हुए विकट स्थान को 'धान्वन दुर्ग' कहते हैं।

(iv) **वन दुर्ग**–चारों ओर घनी कीचड़ से अथवा काँटेदार झाड़ियों से घिरे हुए स्थान को वन दुर्ग कहते हैं।

आहार्य दुर्ग–कृत्रिम उपायों द्वारा बनाए हुए शत्रुओं द्वारा आक्रमण न किए जाने वाले, युद्धोपयोगी खाई-कोट आदि विकट स्थानों को 'आहार्य दुर्ग' कहते हैं।

संकट में घिरे दुर्ग शून्य राजा का कोई रक्षक नहीं होता अतः यह दुर्ग भी राज्य का महत्वपूर्ण अंग है।

''अदुर्गस्य राज्ञः पयोधि मध्ये पोतच्युतपक्षिवदापदि नास्त्याश्रयः''

जिस प्रकार नौका से समुद्र में गिरे हुए पक्षी को कोई रक्षक नहीं है उसी प्रकार शत्रुकृत आक्रमण द्वारा संकट में फँसे हुए दुर्ग-शून्य राजा का भी कोई रक्षक नहीं है।

कोष–राष्ट्र हित के लिए न्यायपूर्वक संचित धनादि कोष है।

''यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः''

जो विपत्ति और संपत्ति के समय राजा के तंत्र (हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे रूप चतुरंग सेना) की वृद्धि करता है एवं उसको सुसंगठित करने के लिए धनवृद्धि करता है, उसे कोश (खजाना) कहते हैं। नीतिकार कामन्दक ने भी कहा है–

मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैताहमहोचितः।
धर्मार्जितो व्ययसहः कोषः कोषज्ञसम्मतः॥

जो मोती स्वर्ण और रत्नों से भरपूर, पिता व पितामह से चला आने वाला न्याय से संचय किया हुआ व **पुष्कल** खर्च सहन करने वाला हो उसे संपत्ति शास्त्र के विद्वानों ने कोष कहा है।

संपूर्ण राजतंत्र कोषाश्रित है इसके बिना वह नष्ट हो जाता है। कोष के बिना विजयलक्ष्मी की भी प्राप्ति नहीं की जा सकती अतः कोष भी राज्य का महत्वपूर्ण अंग है।

देश–राष्ट्र, विषय, मण्डल, जनपद, दारक व निर्गम ये सभी देश के पर्यायवाची नाम हैं। देश गाय, भैंसादि पशु, गेहूँ, चावल, प्रभृति अन्न व स्वर्ण आदि संपत्ति से शोभायमान होता है, इससे इसकी 'राष्ट्र' संज्ञा है।[1] अथवा देश को पशु, धान्य, तांबा, लोहा प्रभृति धातु व बर्तनों से सुशोभित होने के कारण 'राष्ट्र' कहा है।[2] यह स्वामी को सैन्य कोष की वृद्धि देता है, अतः इसकी 'देश' संज्ञा है।[3] नाना प्रकार की सुवर्ण-धान्यादि वस्तुएँ प्रदान कर राजमहल में हाथी-घोड़े बांधता है अतः इसे विषय कहते हैं।[4] यह समस्त मनोरथों की पूर्ति द्वारा राजा के हृदय को अलंकृत करता है, इसलिए इसे मंडल कहते हैं।[5]

---

1. **पशुधान्यहिरण्य संपदा राजते इति राष्ट्रम्। –नी. वा.**
2. **पशुभिर्विविधैर्धान्यैः कुप्यभाण्डैः पृथग्विधैः।**
   राजते येन लोकेऽत्र तद्राष्ट्रमिति कीर्त्यते॥ –भागुरि
3. **भर्त्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशतीति देशः। – नी.वा.**
4. **विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विषिणोति बध्नातीति विषयः। नी.वा.**
5. **सर्वकामधुक्त्वेन नरपतिहृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम्। – नी.वा.**

क्योंकि देश वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) और आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति) में वर्तमान प्रजाजनों का निवास-स्थान अथवा धन का उत्पत्ति स्थान है। अतः इसे 'जनपद' कहते हैं।[6] क्योंकि देश अपने स्वामी की उन्नति करके शत्रु हृदयों को विदीर्ण करता है अतः इसे 'दारक' कहा है।[7] यह अपने धनादि वैभव द्वारा स्वामी को समस्त आपत्तियों से छुड़ाता है अतः इसे विद्वानों ने निर्गम कहा है।[8]

सेना–जिससे राजा शत्रुओं को जीतता है वह सेना कहलाती है।

जो शत्रुओं का निवारण करके धन-दान व मधुर भाषण द्वारा अपने स्वामी के सभी प्रयोजन सिद्ध करके उसका कल्याण करता है एवं उसे आपत्तियों से सुरक्षित रखकर शक्ति प्रदान करता है, अतः उसे बल या सेना कहते हैं।[9] हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल रूप चतुरंग सेना होती है।

चतुरंग सेना में हाथी प्रधान माने जाते हैं, क्योंकि वे अष्टायुध हैं[10] अर्थात् वे अपने चारों पैरों, दो दाँत, पूंछ और सूंड रूप शस्त्रों से युद्ध में शत्रुओं का विनाश करते हुए विजय श्री प्राप्त करते हैं घोड़ों की सेना चतुरंग सेना का चलता-फिरता भेद है, क्योंकि वे अत्यंत चपल व वेग से गमन करने वाले होते हैं।[11] जिस राजा के पास अश्वसेना प्रधानता से विद्यमान है, उस पर युद्ध रूपी गेंद से क्रीड़ा करने वाली लक्ष्मी अर्थात् विजय श्री प्रसन्न होती है जिसके फलस्वरूप उसे प्रचुर संपत्ति मिलती है और दूरवर्ती शत्रुलोग निकटवर्ती हो जाते हैं। इसके द्वारा विजिगीषु आपत्तिकाल में अभिलषित पदार्थ प्राप्त करता है। शत्रुओं के सामने जाना, मौका पाकर वहाँ से भाग जाना, छल से उन पर हमला करना व शत्रु-सेना को छिन्न-भिन्न कर देना, ये कार्य अश्व-सेना द्वारा ही सिद्ध होते हैं, रथादि से नहीं।[12]

---

6. **जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः। – नी.वा.**
7. **निजापतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रु हृदयानि दास्यतिभिनत्तीति दारकम्। – नी.वा.**
8. **आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सवत्यसनेभ्यो निर्गमयतीति निर्गमः। – नी.वा.**
9. **द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवणोतीति बलम्। – नी. वा.**
10. **बलेषु हस्तिनः प्रधानमंगं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति। – नी. वा.**
11. **अश्व-बलं सैन्यस्य जंगमं प्रकारः। – नी. वा.**
12. **अश्व बल प्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीड़ाः प्रसीदन्ति श्रियः भवन्ति दूरस्थापि शत्रवः करस्थाः।**
    आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धस्तुरंगे एव, सरणमपसरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरंगमसाध्यमेतत्। – नी. वा.

जब धनुर्विद्या में प्रवीण धनुर्धारी योद्धागण रथारूढ़ होकर समतल युद्धभूमि में शत्रुओं पर प्रहार करते हैं तब विजिगीषु राजाओं को कोई भी विजय, लाभादि असाध्य नहीं।[13] विश्वास-पात्र पैदल सेना जो की नित्य वश में रहने वाली व प्रमाणिक है वह शत्रु सेना को सुखपूर्वक नष्ट कर सकती है।

मित्र—जो लोग सम्पत्तिकाल में तो साथ होते ही हैं किंतु विपत्ति काल में भी साथ नहीं छोड़ते अर्थात् जो संपत्तिकाल के समान विपत्तिकाल में भी स्नेह करता है उसे मित्र कहते हैं।[14] जो एक-दूसरे को पापों से बचाएँ, कुपथ से हटाकर सुमार्ग पर गतिमान करें, अच्छे कार्यों के लिए प्रेरित करें, गुणों को प्रकट करें, समीचीन व उचित सलाह दें, सदैव उन्नति चाहें, वही मित्र हो सकते हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ राज्य के सात अंग कहे।

---

13. **समा भूमिधनुर्वेदविदो यथारूढाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणाम्। – नी. वा.**
14. **यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम्। – नी. वा.**

समीचीन संसद

विभाविज्जइ अण्णोण्णं, सब्भ-णरेहि जत्थ हु।
संति-सुहुण्णदीए य, मण्णदे सम्म-संसया॥77॥

अर्थ–जहाँ सभ्य पुरुषों के द्वारा सबकी उन्नति, सुख व शांति के हेतु आपस में विचार-विमर्श किया जाता है, वह समीचीन संसद मानी जाती है।

A place where tranquility and development of all is discussed by civilized men mutually is called an expedient parliament.

भावार्थ–सभा सभ्य पुरुषों की होती है। शिष्टता, सदाचार, विनम्रता, सुव्यवहार, मिष्ट वाणी जिनमें पायी जाती है, अनुशासन, मर्यादा व नैतिकता से युक्त हैं वे सभ्य पुरुष कहलाते हैं। सभ्य का आशय होता है सभा में बैठने योग्य। सभा में बैठने योग्य वह है जिसके विचार उच्च व अहिंसक हैं, जिनकी वाणी इष्ट-मिष्ट व शिष्ट है, जो लोक व्यवहार के ज्ञाता हैं, जो धर्मयुक्त बात को कहने वाले हैं, सदाचरण से युक्त हैं। पुरुषों को या तो सभा-सम्मेलन में प्रवेश नहीं करना चाहिए और यदि सभा में प्रवेश करना चाहते हों तो वहाँ धर्म और मर्यादायुक्त वचन बोलने चाहिये। जो वक्ता अनीतियुक्त सुनकर मौन रहता है या तथ्य को विकृत करके बोलता है वह महान् पाप का भागी होता है।[1]

यहाँ ग्रंथकार साधु संसद को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जहाँ सभ्य लोग एकत्रित होकर सर्वहित व देशोन्नति के विषय में विमर्श करें वह सुसंसद कही जाती है। सभी के विचार-विमर्श से कार्य अच्छा हो सके। क्योंकि अकेला कोई व्यक्ति कुछ करने में समर्थ सा प्रतीत नहीं होता अतः सबकी राय जानने के पश्चात् ही उसका अच्छा निर्णय लिया जा सकता है। और विचार-विमर्श भी सबका हित कैसे हो सकता है तथा देश की उन्नति किस प्रकार हो सकती है इन्हीं बिंदुओं पर किया जाता है और सम्यक् निर्णय लिये जाते हैं।

जहाँ अशिष्ट व्यवहार, कटु शब्दों का प्रयोग होता हो तो वह सांसद का विकृत रूप ही जानना चाहिये क्योंकि वास्तव में तो संसद में सभ्य लोगों का ही प्रवेश है और असभ्य व्यवहार सभ्य लोगों के द्वारा नहीं किया जाता है। साधु संसद वही है जहाँ लोग शालीनता से आपस में सभी के हित व उन्नति के लिए विचार-विमर्श करते हैं।

---

1. **सभायां न प्रवेष्टव्याप्रविष्टश्च न वदेद् वृथा।**
अब्रुवत् विब्रुवन् वापि, नरो भवति किलिविषी॥ (मनु. 8/13)

गुप्तचरों के भेद

गेहवदी य संचारो, कावडिगो उदत्थिदो।
सत्ती तावस-तिक्खादी, भेया गुत्तचरा इमे॥78॥

अर्थ–गृहपतिक, संचार, कापटिक, उदास्थित, तापस, तीक्ष्ण, सत्री, वैदेहिक आदि गुप्तचर के भेद हैं।

Grahapatika, Sanchaar, Kapatika, Udasthita, Satri, Taapas, Tikshna etc, are the sorts of spies.

भावार्थ–राज्य में गुप्तचरों का स्थान प्राचीन समय से ही है। आदिपुराण में गुप्तचरों को राजा का चक्षु कहा गया है। नेत्र तो केवल मुख की शोभा बढ़ाते हैं और पदार्थों को देखने का ही कार्य करते हैं पर गुप्तचर रहस्यपूर्ण बातों का पता लगाकर राज्यशासन को सुदृढ़ बनाते हैं। कहा है–

चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासीत्कार्यदर्शने।
चक्षुषी पुनरस्यास्य मण्डने दृश्य-दर्शने॥

गुप्तचर विभाग शासन व्यवस्था के लिए अत्यंत आवश्यक रहा है। प्रजा के कष्टों, क्लेशों और पीड़ाओं से शासक अवगत हो सके इसीलिए गुप्तचरों की आवश्यकता पड़ी। प्रजा की सुख-शांति में बाधा उत्पन्न करने वालों और राजकीय नियमों के पालन करने-कराने में रोक लगाने वालों का दमन कैसे हो, इसकी सूचना राजा तक पहुँचाना गुप्तचरों का प्रमुख कार्य था। देश के अंदर, बाहर, सीमादि पर कहाँ-क्या हो रहा है इसका ज्ञान राजाओं को गुप्तचरों के माध्यम से ही होता था।

आचार्य भगवन् श्री सोमदेव स्वामी ने गुप्तचरों के विषय में नीतिवाक्यामृतम् में कहा है–

स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराः खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्।

गुप्तचर स्वदेश-परदेश संबंधी कार्य-अकार्य का ज्ञान करने के लिए राजाओं के नेत्र हैं। अर्थात् राजा गूढ़पुरुषों के द्वारा ही अपने व दूसरे देश संबंधी राजकीय वृत्तांत जानते हैं, स्वयं नहीं।

गुरु विद्वान् ने भी कहा है–

स्वमण्डले परे चैव कार्याकार्ये च यद्भवेत्।
चरैः पश्यन्ति यद्भूपा सुदूरमपि संस्थिताः॥

राजा लोग दूरदेशवर्ती होकर के भी स्वदेश-परदेश संबंधी कार्य-अकार्य गुप्तचरों द्वारा जानते हैं।

आचार्य श्री ने नीतिवाक्यामृतम् में गुप्तचर के 34 भेद कहे हैं। उनमें कुछ अवस्थायी अर्थात् जिन्हें राजा अपने ही देश में मंत्री व पुरोहित आदि की जाँच के लिए नियुक्त करता है और कुछ यायी अर्थात् जिन्हें शत्रु राजा के देश में भेजा जाता है अथवा होते हैं। छात्र, कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, किरात, यमपट्टिक, अहितुण्डिक, शौण्डिक, शौभिक, पाटच्चर, विट,

विदूषक, पीठमर्द्द, नर्तक, गायन, वादक, वाग्जीवन, गणक, शाकुनिक, भिषग्, ऐन्द्रजालिक, नैमित्तिक, सूद, आरालिक, संवाहक, तीक्ष्ण, क्रूर, रसद, जड़, मूक, बधिर और अंध।

दूसरों के गुप्त रहस्य का ज्ञाता व प्रतिभाशाली गुप्तचर को **छात्र** कहते हैं। दूसरों के रहस्यों को जानने वाला, बड़ा प्रगल्भ और विद्यार्थी की वेष-भूषा में रहने वाला गुप्तचर **'कापटिक'** कहलाता है बुद्धिमान, सदाचारी, संन्यासी के वेष में रहने वाला गुप्तचर **'उदास्थित'** नाम से जाना जाता है। जिसके समस्त शरीर के अंगोपांग कद में छोटे हों उस (बोने) गुप्तचर को **किरात** कहते हैं। प्रत्येक गृह में जाकर चित्रपट वस्त्र में उकेरी हुई तस्वीर दिखाने वाला अथवा गला फाड़कर चिल्लाने वाला गुप्तचर **'यम पट्टिक'** है।

बुद्धिमान, पवित्र हृदय और गरीब किसान के वेष में रहने वाले गुप्तचर को **'गृहपतिक'** कहते हैं। बुद्धिमान्, पवित्र हृदय, गरीब, व्यापारी के वेष में रहने वाले गुप्तचर को **'वैदेहक'** कहते हैं। जीविका के लिए सिर मुंडाये या जटा धारण किए हुए, राजा का कार्य करने वाला गुप्तचर ही **'तापस'** है।

सर्प क्रीड़ा में चतुर-सपेरे के वेष में वर्तमान-गुप्तचर **'अहितुंडिक'** कहा गया है। शराब बेचने वाले के वेष में वर्तमान गुप्तचर को **'शौण्डिक'** कहा है। जो गुप्तचर रात्रि में नाट्य-भूमि में पर्दा लगाकर नाटक पात्र बनकर अनेक रूप प्रदर्शन करता है, उसे **'शौभिक'** कहते हैं। चोर अथवा कैदी के वेष में वर्तमान गुप्तचर को **पाटच्चर** कहते हैं। जो गुप्तचर व्यभिचार आदि व्यसनों में प्रवृत्ति करने वाले व्यभिचारियों आदि को वेश्या आदि के यहाँ भेजकर अपनी जीविका करता हुआ राजकीय प्रयोजन-सिद्धि करता है उसे **विट** कहते हैं। सभी दर्शकों या श्रोताओं को हँसाने की कला में प्रवीण गुप्तचर **'विदूषक'** है। काम शास्त्र के विद्वान् गुप्तचर को **'पीठमर्द्द'** कहते हैं।

जो गुप्तचर कमनीय व स्त्री वेष-प्रदर्शक वस्त्र-साड़ी-जम्फर आदि पहनकर नाचने की जीविका करता हो अथवा नाटक की रंगभूमि में सुंदर वेष-भूषा से अलंकृत होकर भाव प्रदर्शन पूर्वक नृत्य करने वाला हो उसे **'नर्त्तक'** कहते हैं। जो वेश्याओं की जीविका-पुरुष-वशीकरण द्वारा धन-निष्कासन व संगीत कला आदि का उपदेश देने वाला हो, उसे **'गायक'** कहते हैं। गीत संबंधी प्रबंधों की गति विशेषों को बजाने वाला और चारों प्रकार के तत, वितत, घन व सुषिर वाद्य बजाने की कला में प्रवीण गुप्तचर को **'वादक'** कहते हैं। जो स्तुति पाठक या बंदी बनकर राजकीय प्रयोजन-सिद्ध करता है, उसे **वाग्जीवी** कहते हैं।

गणित शास्त्र का वेत्ता अथवा ज्योतिष विद्या के विद्वान् गुप्तचर को **'गणक'** कहते हैं। शुभ-अशुभ लक्षणों से शुभाशुभ फल बताने वाले को **'शाकुनिक'** कहते हैं। अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता व शस्त्रचिकित्सा प्रवीण गुप्तचर को **'भिषक्'** कहते हैं। जो तंत्रशास्त्र में कही हुई युक्तियों द्वारा मन को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला हो अथवा मायाचारी हो उसे **'ऐन्द्रजालिक'** कहते हैं।

निशाना मारने में प्रवीण-धुनर्धारी अथवा निमित्तशास्त्र के विद्वान् गुप्तचर को **'नैमित्तिक'** कहते हैं। पाक विद्या प्रवीण गुप्तचर को **'सूद'** कहते हैं। नाना प्रकार की भोज्य सामग्री बनाने वाले गुप्तचर को **'आरालिक'** कहते हैं। हाथ-पैर आदि अंगों के दाबने की कला में निपुण या भार ढोने वाले (कुली के भेष में रहने वाले) गुप्तचर को **'संवाहक'** कहते हैं। अपने देश में रहने वाले ऐसे व्यक्ति, जो द्रव्य के लिए अपने प्राणों की परवाह न करके हाथी, बाघ, साँपादि से भिड़ जाते हैं, उन्हें **तीक्ष्ण** कहते हैं।

जो गुप्तचर अपने बंधुजनों से प्रेम नहीं करता, उसे **'क्रूर'** कहते हैं। कर्तव्य पालन में उत्साह न रखने वाले आलसी गुप्तचरों को **'रसद'** कहते हैं। मूर्ख को **'जड़'** गूंगे को **'मूक'** बहरे को **'बधिर'** और अंधे को **'अंध'** कहते हैं। परंतु ये स्वभाव से मूर्ख, गूंगे, बहरे और अंधे नहीं होते किंतु कपट से अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए होते हैं। श्री सोमदेव सूरी ने कहा है **''किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम्''**

क्या द्वारपाल के बिना धनाढ्य पुरुष का रात्रि में कल्याण हो सकता है? नहीं हो सकता। उसी प्रकार गुप्तचरों के बिना राजाओं का कल्याण नहीं हो सकता है। शुक्र विद्वान् ने भी कहा है–

स्थायिनो यायिनश्चारा यस्य सर्पन्ति भूपतेः।
स्वपक्षे परपक्षे वा तस्य राज्यं विवर्द्धते॥

जिस राजा के यहाँ स्वदेश में 'स्थायी' और शत्रु देश में 'यायी' गुप्तचर घूमते रहते हैं, उसके राज्य की वृद्धि होती है।

परीक्षा से मंत्रियों का चयन

धम्मोवहाए अत्थाए, काम-भयाए सासगं।
मंतीणं सुणियुज्जेज्जं, णो परिक्खं विणा कया।।79।।

अर्थ–श्रेष्ठ राजा धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा व भयोपधा के द्वारा परीक्षा करके ही सर्वदा अच्छे मंत्रियों को नियुक्त करें।

A great king should always appoint his minister by examining through ***dharmopada*** (religious tests for employment in administering justice***), Kamopada*** (Love Tests for employment in pleasures related supervision work), ***Bhayopada*** (fear tests those who pass out are appointed to positions requiring bravery) and ***Arthapada*** (Monetary tests for employment in Revenue administration).

भावार्थ–राजा जिनकी नियुक्ति के विषय में विचार करता है, पुरोहितादि के सहयोग से गुप्त उपायों के द्वारा उनके आचरणों की परीक्षा की जानी चाहिए। इसका कथन चाणक्य ने भी अर्थशास्त्र के अंतर्गत किया है।

1. **धर्मोपधा**–धर्मोपधा से राजा, पुरोहित को किसी नीच जाति के यहाँ यज्ञ करने तथा पढ़ाने के लिए नियुक्त करे। जब पुरोहित इस कार्य के लिए निषेध करे तो राजा उसको उसके पद से च्युत कर दे। वह पदच्युत पुरोहित गुप्तचर स्त्री-पुरुषों के माध्यम से शपथपूर्वक प्रत्येक अमात्य (मंत्री) को राजा से भिन्न कराये। वह कहे 'यह राजा बहुत अधार्मिक है, हमें चाहिए कि उसके स्थान पर, उसके ही वंशज किसी श्रेष्ठ पुरुष को, किसी धार्मिक व्यक्ति को, समीप के किसी सामन्त को अथवा किसी जंगल के स्वामी को या जिसको भी एकमत होकर हम निश्चित कर लें, उसको नियुक्त करे। मेरे इस प्रस्ताव को सबने स्वीकार कर लिया है। बताओ, तुम्हारी क्या राय है? पुरोहित की यह बात सुनकर यदि अमात्य (मंत्री) उसको स्वीकार न करे तो उसे पवित्र हृदय वाला समझना चाहिए। गुप्त धार्मिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को 'धर्मोपधा' कहते हैं।

2. **अर्थोपधा**–अर्थोपधा से राजा, किसी निंदनीय या अपूज्य व्यक्ति का सत्कार करने के लिए सेनापति को आदेश दे। राजा की इस बात से जब सेनापति रुष्ट हो जाए तो राजा उसको भी पदच्युत कर दे। वह पदच्युत अपमानित सेनापति गुप्तभेदियों के द्वारा अमात्य को धन का प्रलोभन देकर उसे पूर्वोक्त विधि से राजा के विनाश के लिए उकसाये। वह कहे 'मेरी इस युक्ति को सभी ने स्वीकार कर लिया है। बताओ, तुम्हारी क्या सम्मति है?' सेनापति की यह बात सुनकर अमात्य

यदि उसका विरोध करे तो समझ लेना चाहिए कि वह पवित्र हृदय वाला है। गुप्त आर्थिक उपायों द्वारा मंत्री के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को ही **'अर्थोपधा'** कहते हैं।

3. **कामोपधा**—कामोपधा से राजा किसी संन्यासिनी का वेष धारण करने वाली विशेष गुप्तचर स्त्री को अन्त:पुर में ले जाकर उसका अच्छा स्वागत-सत्कार करे और फिर वह एक-एक अमात्य के निकट जाकर कहे 'महामात्य, महारानी जी आप पर आसक्त हैं। आपके समागम के लिए पूरी व्यवस्था कर दी है। इससे आपको यथेष्ट धन भी प्राप्त होगा अमात्य यदि उसका विरोध करे तो उसे पवित्र चित्त समझना चाहिए। गुप्त काम संबंधी उपायों द्वारा मंत्री के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को ही **'कामोपधा'** कहते हैं।

4. **भयोपधा**—भयोपधा से नौका-विहार के लिए एक अमात्य दूसरे अमात्यों को बुलाये। इस प्रस्ताव पर राजा उत्तेजित होकर उन सबको दंडित कर दे। तदनंतर राजा द्वारा पहले अपकृत हुआ कपट-वेषधारी छात्र (छात्र के वेश में गुप्तचर) उस तिरस्कृत एवं दंडित अमात्य के निकट जाकर उससे कहे 'यह राजा बहुत ही बुरा है। इसका वध करके हम किसी दूसरे राजा को उसके स्थान पर नियुक्त करें। सभी अमात्यों को यह स्वीकृत है। कहिए, आपकी क्या राय है? अमात्या दि उसका विरोध करें तो उसको शुचि चित्त समझना चाहिए। गुप्तभय संबंधी उपायों द्वारा मंत्री की शुचिता की परीक्षा को ही **'भयोपधा'** कहते हैं।

इस प्रकार इनके द्वारा अमात्य अर्थात् मंत्रियों के आचरण की परीक्षा कर उनको नियुक्त करना चाहिए। धर्मोपधा में उत्तीर्ण मंत्री को कचहरी संबंधी कार्यों में, अर्थोपधा में उत्तीर्ण मंत्री को कोषाध्यक्षादि पद पर, कामोपधा में परीक्षित मंत्री को विलास स्थानों तथा भीतरी अंत:पुर संबंधी रक्षा में तथा भय परीक्षा में उत्तीर्ण मंत्री को राजा को अपने अंगरक्षक के पद पर नियुक्ति करना चाहिए। इस उपधा या उपाधि से शत्रु की चेष्टा की परीक्षा भी करना चाहिए।

''धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परवित्तपरीक्षणमुपधा''

शत्रु के धर्म, अर्थ, काम और भय की जानकारी के लिए अमुक शत्रुभूत राजा धार्मिक है या अधार्मिक, इसे मंत्री के माध्यम से गुप्तचरों की सहायता से ज्ञात किया जाता है तो यह धर्मोपधा है। राजा के खजाने में प्रचुर संपत्ति है अथवा नहीं? यह जब ज्ञात किया जाए तो अर्थोपधा है। राजा कामान्ध है या जितेंद्रिय? इसे ज्ञात करना कामोपधा है। राजा बहादुर है या डरपोक? इसे ज्ञात करना भयोपधा है। यह 'उपधा' या 'उपाधि' राजमंत्री का प्रधान सद्गुण भी है।

राष्ट्रपति

सासणम्मि पयातंते, मुक्खो रट्ठवई सया।
णाणी-अणुभवी धीरो, अहभीरू हियंकरो॥80॥
गुणी सुहुमदिट्ठो य, सीलवंतो सुजोजगो।
रक्खगो धम्म-धम्मीणं, लोयप्पियो दयाणिही॥81॥

अर्थ–शासन के प्रजातंत्र में राष्ट्रपति प्रधान होता है। वह ज्ञानी, अनुभवी, धीर, पापभीरु, हितंकर, गुणी, सूक्ष्मदृष्टा, सदाचारी, सुयोजक, धर्म-धर्मियों का रक्षक, लोकप्रिय व दयानिधि हो।

The president is always the head in democracy. He should be scholar, veteran, patient, devoid of sins, benevolent, virtuous, meticulous, noble, good planner, protector of religion and religious people, popular and kind.

भावार्थ–राष्ट्र का सर्वप्रधान शासक या स्वामी राष्ट्रपति कहलाता है। देश के राष्ट्रपति राष्ट्र प्रमुख और देश के प्रथम नागरिक हैं, साथ ही भारतीय सशस्त्र सेनाओं के प्रमुख सेनापति भी हैं। राष्ट्रपति के लक्षण बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि वह ज्ञानी हो। वह बहुमुखी ज्ञान से युक्त हो। सर्वप्रधान शासक जिसे राष्ट्र का संचालन करना है वह विशेष प्रतिभा से युक्त हो, ज्ञान-विज्ञान रूपी धन का धनी हो, जिससे सही निर्णय लिया जा सके, प्रजा का सम्यक् मार्ग निर्देशन किया जा सके। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति जब सामान्य संस्था का संचालन नहीं कर सकता तो देश का संचालन कैसे संभव है? अर्थात् नहीं है।

राष्ट्रपति अनुभवी हो। अनुभवशील व्यक्ति कई संकटों से बच जाता और दूसरों को भी बचा लेता है। एक ऊँचे वृक्ष पर एक वृद्ध राजहंस बैठा था। राजहंस पक्षी बुद्धिमान था। वह शिकारी से बचने के लिए ऊँचाई पर ही बैठता था। एक दिन राजहंसों के बच्चे पास के छोटे वृक्ष पर आकर बैठ गए। वृद्ध राजहंस ने कहा कि–तुम किसी ऊँचे वृक्ष पर बैठो, नहीं तो तुम फँस जाओगे। बच्चों ने मजाक बनाया और कहा यदि शिकारी आ जायेगा तो हम उड़ जायेंगे, हम तो अभी शक्तिशाली हैं। वृद्ध शांत हो गया। रात में एक शिकारी ने उन बच्चों पर जाल डाल दिया। प्रातःकाल उन्होंने स्वयं को फँसा देखा। वृद्ध ने कहा तुमने मेरे अनुभव की सीख नहीं मानी तो फँस गए। बच्चों ने अपनी गलती स्वीकार कर ली और बोले कि–हम तो अनुभवहीन हैं इसीलिये फँस गये परंतु अब आप अपने अनुभव से हमें बचाओ। वृद्ध ने कहा–जब शिकारी आयेगा तो मैं तुम्हें इशारा कर दूँगा, उस समय तुम सब अकड़ जाना, पेट फुला लेना। शिकारी आयेगा, तुम्हें मरा समझकर जाल झटक देगा, उस समय तुम सब एक साथ उड़ जाना। थोड़ी देर बाद शिकारी आया, उन्होंने ऐसा ही किया और बंधन से मुक्त हो गये।

जीवन में यदि अनुभव हो तो व्यक्ति बड़ी से बड़ी बाधा से बच सकता है। मनुष्य अपनी शिक्षा का प्रथम चरण (1/4 भाग) गुरु से सीखता है, दूसरा अपनी बुद्धि से, तीसरा विज्ञ पुरुषों की सेवा से प्राप्त करता है तथा चौथा चरण (शेष 1/4 भाग) काल से परिपाक होकर स्वयं ही प्राप्त करता है अर्थात् अनुभव से सीखता है।[1] ज्ञान का कुछ अंश मात्र अनुभव से ही प्राप्त होता है। राष्ट्रपति ऐसे ही परिपक्व ज्ञान, अनुभव से युक्त हो। उसे राजनैतिक ज्ञान का अनुभव हो जिससे देश हित में, राष्ट्र हित में शीघ्र निर्णय ले सके।

राष्ट्रपति धैर्यवान् हो। धैर्यवान् व्यक्ति धैर्य से अपने कार्यों को भी बना लेता है अपितु उतावला व्यक्ति उतावलेपन से बने कार्यों को बिगाड़ लेता है। धीरता यह महापुरुषों का गुण है। कहा है–

सब्र एक ऐसी सवारी है, जो कभी किसी को गिरने नहीं देती
न किसी के कदमों में, न किसी की नजरों में...

नीतिकारों ने धीरता को कुछ इस प्रकार से परिभाषित किया है। युद्ध कर्म में प्रवीण धीर नहीं है अपितु जो शिष्ट पुरुष युवावस्था को प्राप्त करने अपने जीवन को परस्त्री व वेश्याव्यसन आदि दोषों से दूषित नहीं होने देते, इनके त्यागी हैं, वे ही धीर हैं।[2]

राष्ट्रपति पापभीरू हो। पापों से डरने वाला पापों को जीवन में स्थान नहीं देता क्योंकि पाप में रत मनुष्य अन्यों का हित करने में समर्थ नहीं। जो पुण्य- अच्छे कार्य रूपी प्रकाश से स्वयं को प्रकाशित करता हो वही अन्यों को प्रकाशित कर सकता है। पाप निमग्न शासक स्वयं तो दुर्गति का पात्र होता ही है किंतु उस शासक का अनुकरण करने वाली प्रजा भी दुर्गति का पात्र होती है। शासक को आदर्श होना चाहिए।

राष्ट्रपति हितंकर अर्थात् सभी का हित करनेवाला हो। राष्ट्र का प्रथम नागरिक यदि प्राणी मात्र के हित में निहित होगा तो अन्यों को भी यही प्रेरणा प्राप्त होगी। राष्ट्रपति राष्ट्र के हित में निर्णय लेने वाला हो। भारतीय सेनाओं को राष्ट्र सुरक्षा, विकासादि के लिए कब, कहाँ, किस प्रकार आदेश देना है इन सबमें दक्ष हो। कोई भी निर्णय लेने से पूर्व राष्ट्र हित का विचार करे। प्रजा की सुख-शांति का चिंतन करे।

राष्ट्रपति गुणी हो। राष्ट्र का प्रधान पुरुष गुणों का पुंज होना चाहिए। क्षमा, वात्सल्य, दान, निरहंकारता, अनुशासनादि गुणों से सहित हो। जिस प्रकार कांति से युक्त किंतु सुगंध से हीन पुष्प आदर को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार शरीर से सुंदर किंतु गुणों से हीन मनुष्य प्रशंसनीय नहीं होता।

---

1. **आचार्यः पादमाचष्टे, पादः शिष्यः स्वमेधया।**
   तद् विज्ञ सेवया पादः, पादः कालेन पच्यते॥
2. **परदारादिदोषेण, रहितं यस्य यौवनं।**
   प्रयाति वा पुमान् धीरो, न धीरो युद्धकर्मणि॥ –शौनक

मनुष्य अपने गुणों से ही प्रिय व सुंदर होता है।[3] सागर के समान वह गंभीर, मर्यादित और गुण रूपी रत्नों से युक्त होना चाहिये।

राष्ट्रपति सूक्ष्मदृष्टा हो। पर-चक्र या बाहरी आक्रमण को या देश के अहित में होने वाली गतिविधियों को पूर्व में ही जानकर अर्थात् अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उनका निराकरण करे। बारीकी से, सूक्ष्मता से प्रत्येक वार्ता, क्रियादि को जानने व समझने वाला हो। देश में हो रही गतिविधियों पर दृष्टि रखे। वह शीलवान्, सदाचारी हो। राष्ट्रपति का व्यक्तित्व निर्दोष होना चाहिये। वह हर प्रकार के व्यसन से मुक्त हो। वह साधु पुरुष, सज्जन हो। जनसमुदाय को प्रसन्न रखने वाले कार्य सज्जनता और इससे विपरीत भयोत्पादक कार्य दुर्जनता के अंतर्गत आते हैं।[4] वह निर्दोष चारित्र का धारक, सदाचारी हो। समीचीन आचरण अर्थात् बोलना, उठना, बैठना, आदि प्रत्येक क्रिया समीचीन हो।

वह सुयोजक हो। सबको एकता के सूत्र में बांधकर रखने वाला हो। सभी व्यवस्थाओं को व्यवस्थित रखने में दक्ष हो। देश हित में योजनाएँ तैयार करने में, क्रियान्वित करने में कुशल हो। राष्ट्रपति धर्म व धर्मियों का रक्षक हो। राष्ट्रपति का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में धर्म व धर्मियों को हानि न हो, उनकी रक्षा करे क्योंकि धर्म व धर्मी जब तक राष्ट्र में विद्यमान हैं तब तक राष्ट्र की उन्नति संभव है। धर्मात्माओं से धर्म व अन्य धर्मियों की वृद्धि होती है। धर्म से सदाचार, अहिंसादि गुण प्रजा में विद्यमान रहते हैं। जो राष्ट्र की उन्नति में सहायक हैं। धर्म से विद्या, तप, धन, शौर्य, कुलीनता, आरोग्यता, राज्य, स्वर्ग और पुनः मोक्ष की प्राप्ति होती है।[5] ऐसे धर्म और धर्म से युक्त मनुष्यों की रक्षा करना शासक को योग्य ही है।

राष्ट्रपति लोकप्रिय हो। समस्त प्रजा उसको चाहती हो, आदर करती हो। राष्ट्रपति का लोकप्रिय व्यक्तित्व प्रजा को उससे जोड़कर रखता है। प्रजा उसके समस्त आदेशों का प्रफुल्लित मन से पालन करती है अर्थात् यदि वह प्रजा का प्रिय है तो प्रजा उसकी बात मानने में तत्पर रहती है।

राष्ट्रपति दयानिधि हो। दया, अहिंसा, करुणा, अनुकंपा, रहम ये सभी एकार्थवाची हैं। राष्ट्रपति इससे परिपूरित हो। धर्म रूपी वृक्ष की जड़ तथा समस्त व्रतों में मुख्य और सर्वसंपदाओं का स्थान तथा गुणों का खजाना यह दया है इसीलिए विवेकी मनुष्यों को दया अवश्य करनी चाहिए।[6] इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ राष्ट्रपति के लक्षण कहे।

---

3. **गुणेन स्पृहणीयः स्यान्न रूपेण युतो नरः।**
   सौगंध्यहीन नादेयं, पुष्पं कांतमपि क्वचित्।। – दृष्टांतकालिकाशतकं
4. **यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्वाज्जनोऽखिलः।**
   सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं, विपरीतमतोऽन्यथा। –वादरायण
5. **विद्या तपो धनं शौर्यं, कुलीनत्व आरोग्यता।**
   राजस्वर्गाश्चमोक्षाश्च, सर्व धर्मादवाप्तये।।257 –स. कौ.
6. **मूलं धर्मतरोराद्या, व्रतानां धाम सम्पदाम्।**
   गुणानां निधिरित्यंगिदया कार्या विवेकिभिः।।6/38 –प. पं.

प्रधानमंत्री

पहाणो सव्वमंतीसुं, सव्व-मंतीण जोजगो।
णिक्कवडो य णिब्भीओ, सदेसुप्पण्णं-उज्जमी॥82॥
पण्णो सुणीदि-रीदीए, सुसक्किदीए रक्खगो।
णिउणो पुरिसट्ठेसुं, स देसुण्णदि का पेरगो॥83॥

अर्थ–सर्व मंत्रियों में प्रधान अर्थात् प्रधानमंत्री ऐसा हो जो सब मंत्रियों का योजक हो, निश्छल, निर्भीक, स्व-देशज, उद्यमी, नीति-रीतियों को जानने वाला, सुसंस्कृति का रक्षक हो, चार पुरुषार्थों में निपुण व देशोन्नति का प्रेरक हो।

Among all the ministers, Prime Minister should be Head of all ministers, innocent, fearless, indigenous, diligent, knower of good policies and tradition, protector of culture, skilled in four ***purushartha*** and inspiring the development of his own country.

भावार्थ–व्यक्ति को पद पर आसीन करने से पूर्व उसमें उसके अनुकूल योग्यता व गुणों का निरीक्षण कर लेना चाहिए क्योंकि पदानुकूल गुण होने से ही उस पद की गरिमा भी है। अनुकूल गुणी व्यक्ति को पदासीन करने से अन्य भी उससे लाभान्वित हो सकते हैं। मात्र पद को प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है वरन् पद को प्राप्त कर अपने गुणों व योग्यता से उस पद की गरिमा को बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है। आचार्य महाराज यहाँ बता रहे हैं कि व्यक्ति का पद के लिए चयन गुणों के आधार पर किया जाना चाहिए। राजा या प्रजा जो भी प्रधानमंत्री का चयन करे, उसकी नियुक्ति करे तो उसमें उल्लेखनीय गुणों को अवश्य जान लेना चाहिए।

सर्वप्रथम वह प्रधानमंत्री मंत्रियों का संयोजक हो। वह सभी को साथ लेकर चलने वाला हो। पृथक्-पृथक् अंगुलियों की तरह न रहकर एक बंद मुट्ठी के समान राजा की शक्ति बन देश का हित करने वाला हो। वह सबको जोड़कर चल सकता हो अन्य मंत्रियों के लिए देश के प्रति नई, कल्याणकारी योजनाएँ भी बनाकर दे सकता हो।

पुनः कहा वह निश्छल हो अर्थात् छल-कपट से रहित हो। वह दूसरों के छल-कपट का तो जानने वाला हो किंतु स्वयं कपट से रहित हो। जिसका हृदय स्वच्छ व निर्मल होता है वह कभी निर्दोष निरपराधी पर अत्याचार नहीं करता। जिस प्रकार स्वच्छ, निर्मल दर्पण के समक्ष कैसा भी रूपवान, कुरूप, अच्छी-बुरी, वस्तु आये किंतु वह कभी विकृत नहीं होता, अपनी निर्मलता नहीं छोड़ता उसी प्रकार प्रधानमंत्री भी सबका छल-कपटादि जानकर स्वयं विकृत अर्थात् छली न हो। निश्छल व्यक्ति पापों में आसक्त नहीं होता और जैसी बात हो उसे वैसा ही कहता है। उसी प्रकार प्रधानमंत्री यदि निश्छल होगा तो राजा के सामने छल-कपट नहीं करेगा, कभी विश्वासघात नहीं करेगा।

जिस प्रकार टेढ़ी मेढ़ी लकड़ी को जलाकर कोयला बना दिया जाता है और सीधी लकड़ी से उपयोगी वस्तुएँ तैयार की जाती हैं उसी प्रकार छली-कपटी व्यक्ति की दशा होती है जबकि निश्छल सहज व्यक्ति को सब चाहते हैं। निश्छल सहज व्यक्ति पानी के समान कहीं भी स्थान प्राप्त कर सकता है और जल के समान ही सबको अवगाहन स्थान दे सकता है। प्रधानमंत्री भी राजा प्रजादि के ह्रदय में स्थान बना सके और सभी को स्थान दे सके।

प्रधानमंत्री वीर व निर्भीक हो। जो वीर है वही तो रक्षा करने में समर्थ है। जो डरपोक हो, राजा की या प्रजा की रक्षा करने में समर्थ न हो ऐसे मंत्री से क्या लाभ है? जो स्वयं वीर नहीं वह अन्यों को वीरता कैसे प्रदान कर सकता है? कहा भी है–

'किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मंत्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न प्रभवति।'

जो व्यक्ति युद्ध-कला में प्रवीण होकर के भी वीररस-पूर्ण-बहादुर है, वही राजमंत्री होने के योग्य है। परंतु जो केवल शस्त्र-विद्या से परिचित होकर कायरता दोष से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता वह भीरु राजमंत्री होने का अधिकारी नहीं।

संकट के समय भीरु तो उस स्थान से पलायन कर जाएगा। आपत्तिकाल में जो रक्षा न कर सके उसे प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त कैसे किया जा सकता है? इसीलिए यहाँ ग्रंथकार ने कहा कि प्रधानमंत्री वीर और निर्भीक होना चाहिए जिससे वह साहस के साथ आपत्ति के समय आगे बढ़, राजा व प्रजा की रक्षा कर सके।

प्रधानमंत्री स्वदेशोत्पन्न हो। किसी देश में जन्म लेने वाला यदि दूसरे देश में मुख्य पद पर आसीन किया जाए तो पक्षपात के कारण वह यहाँ की प्रजा के हित में कोई कार्य करने में समर्थ नहीं होता। अपितु कभी वो स्वोत्पन्न देश के हित हेतु जहाँ कार्यरत है वहाँ की प्रजा का अहित करने में सकुचाता नहीं। ''**नीतिवाक्यामृतम्**'' में कहा है–

''समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान्।''

समस्त पक्षपातों में अपने देश का पक्षपात प्रधान माना गया है। दूसरे देश का रहने वाला व्यक्ति जो कि प्रजा के आचार-विचार से शून्य है, वह शासक किस प्रकार हो सकता है और उसके शासन में रहने वाली प्रजा सुख कैसे प्राप्त कर सकती है? क्योंकि दूसरे देश का निवासी पक्षपात रूपी पिशाच से गृहीत होने के कारण अपनी प्रजा का कुछ भी हित नहीं कर सकता बल्कि कभी उसका अहित भी कर सकता है। हारीत ने लिखा भी है–

स्वदेशजममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः।
आपत्कालेन सम्प्राप्ते न स तेन विमुच्यते॥

जो राजा अपने देशवासी मंत्री को नियुक्त करता है, वह आपत्तिकाल आने पर उससे मुक्त हो जाता है।

प्रधानमंत्री उद्यमशील हो। उद्यमी व्यक्ति के ही सभी कार्य सिद्ध होते हैं। आलस्य या प्रमाद व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु होता है। वाहन चालक जो पचास यात्रियों को साथ लेकर यात्रा कर रहा है उसका क्षणभर का प्रमाद भी सभी यात्रियों के प्राण हरण कर सकता है यह तो मात्र वाहन चालक है किंतु पूरे देश का भविष्य जिसके हाथ में है ऐसे प्रधानमंत्री का प्रमाद देश के लिए कितना हानिकारक हो सकता है यह कल्पना से बाहर है। अत: प्रधानमंत्री को देश के विकास के लिए निरंतर जागरूक व उद्यमशील होना चाहिए।

प्रधानमंत्री नीति और रीति को जानने वाला हो। नीति से कार्य करने वाला पुरुष प्राय:कार किसी षड्यंत्र का शिकार नहीं बनता, यदि बनता भी है तो वह उससे शीघ्र मुक्त हो जाता है। नीतिवान् मनुष्य अन्यों को भी परेशानी से बचा लेता है, उनको न्याय दिलवाने में समर्थ होता है। उचित समय और उचित स्थान पर उचित कार्य करने की कला को नीति कहते हैं। नीति सोच समझकर बनाए गए सिद्धांतों की प्रणाली है जो उचित निर्णय लेने और सम्यक् परिणाम पाने में मदद करती है।

नीति-रीति को जानने वाला ही राजा को सही समय पर बात बताकर उनके हित में कार्य कर सकता है। इससे अन्य तो राजा का कोप-भाजक भी बन सकता है। **''नीतिर्यथावस्थितमर्थ मुपलम्भयति''** नीतिशास्त्र का ज्ञान मनुष्य को करने योग्य कार्य के स्वरुप का बोध करा देता है। मंत्री स्वयं अच्छे से सोच-समझकर कार्य करने वाला हो जिससे राजा, प्रजा व देश का हित हो सके। नीतियों के बल पर ही तो चाणक्य ने नंद वंश का मूलोच्छेद कर चंद्रगुप्त को शासक बनाया। अत: प्रधानमंत्री सबके हित में नीतियों का ज्ञाता हो व पूर्व में चली आई रीतियाँ भी उसे हृदयंगम हो। रीति का ज्ञाता होने से वह समाज में समायोजन बनाए रख सकता है। इससे सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़ रहती है और राजा या प्रजा की भावनाओं को ठेस भी नहीं पहुँचती।

प्रधानमंत्री सुसंस्कृति का रक्षक हो। देश की संस्कृति आचार-विचार-व्यवहार-रहन-सहन भोजन-पान आदि का संरक्षक हो। संस्कृति से देश की पहचान है। यदि संस्कृति नहीं बचेगी तो देश कैसा? जितना महत्व दूध में घी का है उतना देश में संस्कृति का है। व्यक्ति का नैतिक मूल्य उसकी संस्कृति को प्रदर्शित करता है। किसी भी जाति, देश या राष्ट्र की श्रेष्ठता और हीनता का निर्णय उसकी संस्कृति से किया जाता है।

अत: देश के उत्थान के लिए मनुष्यों की उन्नति व प्रजा के हित के लिए संस्कृति का संरक्षण आवश्यक है। प्रधानमंत्री इन सभी के लिए जागरूक हो और देशोन्नति हेतु अपनी देश की संस्कृति की समीचीन प्रकार से रक्षा करने वाला हो।

प्रधानमंत्री यदि स्वयं संस्कृति की रक्षा के लिए जागरूक होगा तो स्वयं प्रजा भी उसके लिए जागरूक होगी। और संस्कृति की रक्षा ही देश की रक्षा है।

प्रधानमंत्री चार पुरुषार्थों में निपुण हो। ये पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के भेद से चार प्रकार का है। **''इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः''** आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा कि जो व्यक्ति को इष्ट स्थान में धरता है वह धर्म है। अथवा आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने भी यही प्रतिपादित किया–जो प्राणियों को सांसारिक दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) में धारण करता है उसे धर्म कहते हैं।

धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः।
धर्मैकपरतां धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया॥ –आ. पु. पर्व 10

धर्म से सुख मिलता है और अधर्म से दुःख इसीलिए विद्वान् पुरुष दुःखों से छूटने की इच्छा से धर्म में प्रवृत्ति करता है।

उदार मनुष्य का धन जिससे लोक-कल्याणकारी कार्य किए जा सकते हैं वही वास्तविक धन है। किंतु जो धन लौकिक व पारलौकिक सुख रूप प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता वह धन की श्रेणी में नहीं आता। क्योंकि आचार्य सोमदेव सूरी कहते हैं–

''यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः''

जिससे मनुष्यों के सभी प्रयोजन–लौकिक और पारलौकिक सुख आदि कार्य सिद्ध हों उसे अर्थ-धन कहते हैं। लोभ करना अनुचित है। धनार्जन करने वाले को न्यायपूर्वक धन का अर्जन करना चाहिए व पात्रदान, तीर्थयात्रादि शुभ कार्य उसके माध्यम से करना चाहिए।

परस्त्री सेवन से धर्म का तथा वेश्यागमन से धर्म और धन दोनों का नाश होता है अतः वह कामपुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता। अतः नैतिक पुरुष को कुलीन संतान की उत्पत्ति के आदर्श से स्वस्त्री में संतुष्ट रहना चाहिये। राजपुत्र ने कहा है–

सर्वेन्द्रियानुरागः स्यात् यस्याः संसेवनेन च।
स च कामः परिज्ञेयो यत्तदन्यद्विचेष्टितम्॥

जिसके अपनी सती स्त्री के उपयोग से समस्त इंद्रियों में अनुराग उत्पन्न होता है उसे काम समझना चाहिए, इससे विपरीत प्रवृत्ति-परस्त्री व वेश्यासेवनादि कुचेष्टा है।

आचार्य श्री वादीभ सिंह सूरि निर्देशित करते हैं–

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गो ऽप्यनुक्रमात्॥ – क्ष. चू.

यदि मनुष्यों के द्वारा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर की बाधारहित सेवन किए जाएँ तो इससे उन्हें बिना रुकावट के स्वर्ग लक्ष्मी प्राप्त होती है और क्रम से मोक्ष सुख भी प्राप्त होता है।

पुनः इन तीनों के पश्चात् मोक्ष सुख को प्राप्त करने का प्रयास करे। जिस प्रकार पूर्व में चाणक्य, अभय कुमार, अमरचंद दीवान, मंत्री भरत, नन्न, शांतिनाथ दंडाधिप, बूचिंराज, देवराज, बैचप आदि मंत्रियों ने श्रावक वा श्रमण धर्म का पालन कर मोक्ष प्राप्ति का पुरुषार्थ किया उसी प्रकार वह भी आत्मकल्याण करे।

प्रधानमंत्री देशोन्नति का प्रेरक हो। देश प्रेमी, देशभक्त ही देश की उन्नति के विषय में विचार व पुरुषार्थ कर सकता है। उसे देश हित में विचारकर निर्णय लेना चाहिए। राज्य, देश या राष्ट्र की श्री वृद्धि जिससे हो सके ऐसे कार्यों को गति प्रदान करनी चाहिए। किस देश के साथ संधि अथवा विग्रह करने से स्वदेश को लाभ होगा ऐसा पूर्व में ही विचार कर लेना चाहिए। किन प्रणालियों, नीतियों को लाकर, सुधारकर अथवा नष्ट कर देश का हित हो सकता है प्रधानमंत्री इसका विचारक हो।

इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ राष्ट्र हित में प्रधानमंत्री के गुणों का विवेचन किया।

गृह मंत्री

मालायारो या आरामे, गेहम्मि जध गेहिणी।
गेह-मंती, मुणेदव्वो, मादा इव सुपालगो॥84॥
जो देसस्स समस्साणं, बहिरब्भंतराण हु।
सुसमाधाण-कत्तू य, देसे संतीइ ठावगो॥85॥

अर्थ–जैसे बगीचे में माली व गृह में गृहणी शोभायमान होती है उसी प्रकार माता के समान सुपालक गृहमंत्री जानना चाहिये। वह निश्चय से देश की बहिरंग व आंतरिक समस्याओं का अच्छा समाधानकर्ता व देश में शांति का स्थापक हो।

Just as the gardener beautifies the garden and so lady in the home similarly home minister should be known as a good adherent of beautifying the country like mother. He should definitely solve the external and internal problems of the country and establish peace in the country.

भावार्थ–बगीचे की देखरेख माली पर निर्भर है, वही उसकी शोभा बढ़ाने में समर्थ है। बिना माली के वह बगीचा अरण्य के समान प्रतीत होने लगता है। माली उसकी देखरेख कर उसके सौंदर्य को वृद्धिंगत करता है। बगीचे से उसको हानि पहुँचाने वाले बाधित तत्त्वों को दूर करता है। बगीचे में उत्पन्न होने वाले पेड़-पौधों की रक्षा करता है, उनको व्यवस्थित रखता है और उनके विकास में सहायक होता है।

घर को व्यवस्थित करना गृहणी का कार्य है। घर अच्छा या बुरा गृहणी से ही बनता है। परिवार को एकता के सूत्र में बांधकर रखना, घर के सदस्यों के विकास में रत होना, धर्म, प्रेम, वात्सल्य, सदाचार, नैतिकता आदि का संचार करना गृहणी पर निर्भर है। घर में सुख-शांति का वातावरण बनाए अथवा इसके विपरीत वातावरण, इन सबमें गृहणी समर्थ है।

जिस प्रकार बगीचे की शोभा माली से है तथा गृह की शोभा गृहणी से है उसी प्रकार माता के समान प्रजा का पालन करने वाला गृहमंत्री जानना चाहिये। यहाँ ग्रंथकार गृहमंत्री को माता की उपमा दे रहे हैं। जिस प्रकार माँ का अपनी संतान के प्रति नि:स्वार्थ स्नेह होता है, वह उसके हित में, विकास में, उन्नति में रत रहती है, उसके प्रत्येक क्रियाकलापों पर भी नजर रखती है, कहीं किसी से झगड़ा आदि न करे, सद्मार्ग की प्रेरणा देती है, उसे सद्संस्कारादि देकर उसका पालन करती है इसी प्रकार गृहमंत्री को समझना चाहिए।

गृहमंत्री देश की आंतरिक व बाह्य समस्याओं का समाधान करता है। देश को गृह रूप में स्वीकार कर इस गृह में जो भी कोई समस्याएँ हों उन सबका समाधान गृहमंत्री ही करता है। जैसे परिवार में किसको किस चीज की आवश्यकता है वह सब गृहणी देखती है, घर की समस्याओं को सुलझाती है उसी प्रकार देश की समस्याओं का हल गृहमंत्री करता है तथा देश में शांति की स्थापना करता है। बाह्य समस्याओं के समाधान से यहाँ आशय है जिन बाह्य कारणों से देश की आंतरिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता है उनको नियंत्रित करना गृहमंत्री का ही कार्य है।

रक्षा मंत्री

देसस्स धण-संपत्ति-धम्म-हिदाण रक्खगो।
मज्जादा-सक्किदीणं च, रक्खा मंती महागुणी॥86॥

अर्थ–रक्षा मंत्री देश की धन, संपत्ति, धर्म, हित, मर्यादा, संस्कृति का रक्षक और महागुणी हो।

Defence Minister should be the protector of wealth, religion, benevolence, dignity and culture of the country and virtuous.

भावार्थ–रक्षा मंत्रालय का कार्य करने वाला मंत्री जो देश की रक्षा तथा आंतरिक सुरक्षा बनाए रखता है वह रक्षा मंत्री है। रक्षा व सुरक्षा संबंधी मामलों पर नीति निर्देश बनाना यह रक्षा मंत्री का प्रमुख कार्य है। मंत्री अपने-अपने कार्य में चतुर होने चाहिए, उन्हीं से कार्य की सिद्धि होती है। रक्षा मंत्री का विशेष व प्रधान कार्य देश को सुरक्षा प्रदान करना है। देश में मात्र प्रजाजनों की रक्षा ही नहीं अपितु उनके धन, संपत्ति की रक्षा करना भी मंत्री का कर्त्तव्य है। वह आंतरिक सुरक्षा को प्रबल कर निश्चित करे कि देशवासियों को असुरक्षा संबंधी भय की आवश्यकता न हो। देश में निवास करते हुए उन्हें गृह निवास जैसी सुरक्षित अनुभूति हो। पूर्व में ऐसे शासक भी हुए हैं जिनके राज्य में चोरी आदि का कभी भय नहीं रहा। राजा के निराबाध शासन व प्रजा की रक्षा हेतु रक्षा मंत्री इनको नियोजित करता है।

एक देश का निर्माण उसकी प्रजा से होता है। प्रजाविहीन क्षेत्र क्षेत्रफल में कितना भी बड़ा हो किंतु उसे देश नहीं कहा जा सकता। प्रजा, नागरिक जहाँ है वही देश है। प्रजा की सुरक्षा उस देश की सुरक्षा है। और प्रजा के प्राण मात्र की रक्षा ही नहीं अपितु उसकी धन-संपत्ति-धर्म, हित, मर्यादा व संस्कृति की रक्षा भी हो। देश में आपसी विरोध व विद्रोह न हो। बाहरी शत्रुओं से देश की रक्षा करना फिर भी सरल है किंतु आंतरिक शत्रुओं से बचाव करना अत्यावश्यक व अपेक्षातर कठिन भी है। बाहरी शत्रु देश को इतनी हानि नहीं पहुँचा सकते जितनी हानि आंतरिक शत्रु पहुँचा सकते हैं। अतः इन आंतरिक शत्रुओं का दमन कर देश को सुरक्षित रखना रक्षा मंत्री का कार्य है।

प्रजा की समृद्धि से देश भी समृद्ध है। अतः देश को समृद्धशाली बनाए रखने हेतु संपत्ति की रक्षा भी अनिवार्य है। धर्म व संस्कृति देश का गौरव माने जाते हैं। संस्कृति देश की नींव मानी जाती है। संस्कृति से ही देश की विश्व में पहचान होती है। ऋषि, मुनियों, अरिहंतों, भगवंतों के जन्म, उनके निवास आदि से पावन यह भारत भूमि शाकाहार-दूध-फल-अन्नादि से फलती-फूलती रहती है। वैज्ञानिक भी भारतीय संस्कृति को अपनाने का परामर्श देते हैं। समय साक्षी है कि अपनी संस्कृति व जीवन शैली के कारण भारत कई बीमारियों से बचा है।

देश की संस्कृति उसकी पहचान है अतः उसकी भी सुरक्षा रक्षामंत्री द्वारा की जानी चाहिए। देश में धर्म व मर्यादा की भी रक्षा होनी चाहिए। देश हितों की रक्षा करने में भी रक्षा मंत्री तत्पर

होना चाहिए। इन कार्यों को करता हुआ रक्षा मंत्री गुणों से युक्त हो। गुणी व चतुर व्यक्ति ही इस पद के योग्य हो सकता है। गुणों से ही व्यक्ति सम्माननीय होता है।

''गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम्''

जिस प्रकार डोरी शून्य धनुष को शत्रु पर प्रहार करने के लिए चढ़ाना व्यर्थ है, उसी प्रकार जो नैतिक ज्ञान, सदाचार और वीरता आदि गुणों से शून्य है उसको केवल श्वांस लेने मात्र से क्या लाभ है? उसका जन्म निरर्थक ही मानना चाहिए।

गुणी व्यक्ति ही अपने पद को सुशोभित करता है, पद भार सम्हालने में समर्थ होता है अतः यहाँ कहा गया कि अपने रक्षा-संबंधी कार्य को निष्ठा के साथ करता हुआ गुणी रक्षा मंत्री श्लाघ्नीय है।

विदेश मंत्री

सेट्ठ-विदेस-मंती य, सुसंबंधस्स ठावगो।
हिदेसी सग-देसस्स, देस-समिद्धि-वड्ढगो॥87॥

अर्थ–विदेशों में सुसंबंधों का स्थापक, देश का हितैषी और देश की समृद्धि का वर्द्धक श्रेष्ठ विदेश मंत्री है।

Foreign Minister should be founder of good relations, beneficent to his country and booster of the prosperity of the country.

भावार्थ–जस प्रकार शाखा विहीन वृक्ष, फल-फूल छायादि देने में समर्थ नहीं निष्फल होता है उसी प्रकार मंत्रियों से हीन देश की भी स्थिति होती है। अत: विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न मंत्रियों का चयन किया जाता है, जिससे सभी अपने कार्यक्षेत्र को भलीभाँति सम्हालकर देशोन्नति में सहायक बन सकें। देश की विदेश संबंधी नीतियों को बनाने का कार्य विदेश मंत्री का है। पड़ोसी देशों को स्वमित्र बनाकर रखना सदैव देश हित में रहा है। राज्य के सुखद संचालन के लिए यह आवश्यक है। अधिकाधिक देशों से मैत्री का संबंध बना रहे जिससे स्व देश की शक्ति, आर्थिक बल आदि वृद्धिंगत होता है।

विदेश मंत्री का कार्य राज्य की विदेश नीति और संबंधों के प्रभार को सम्हालना होता है। अत: ग्रंथकार ने सर्वप्रथम कहा कि विदेश मंत्री विदेशों में सुसंबंधों का स्थापक हो। विदेशों से अच्छे संबंध रखकर अपने देश को बाहरी आक्रमणों से बचाया जा सकता है अथवा यदि कोई देश अपने देश के विरुद्ध हो तो बाहरी मित्र देश भी शत्रु दमन में सहायक होते हैं। चार नीतियों में सर्वप्रथम साम नीति को ही रखा। जो कार्य मधुर-संबंधों से बनते हैं वे अन्य प्रकार से नहीं बनते। विदेशों से मैत्री कर देश की प्रतिष्ठा भी वृद्धिंगत होती है, प्रभुत्व भी स्थापित होता है। विदेशों से सुसंबंध राष्ट्रीय हितों की रक्षा हेतु उत्तम है क्योंकि किसी भी देश से अलग होकर अपना अस्तित्व बनाए रखना, सर्वपक्षीय विकास करना संभव नहीं।

अन्य देशों के साथ संबंध स्थापित करने और इन संबंधों को राष्ट्रहित में संचालित करने का कार्य विदेश नीति का मूल तथ्य है। अदि० एच० डॉक्टर ने भी कहा है कि अन्य राज्यों के साथ अपने संबंधों को प्रबंधित करना हर राज्य का एक आवश्यक कार्य है। एक राज्य द्वारा अपने विदेशी संबंधों को राष्ट्रीय हितों में विनियमित करने के लिए अपनाई गई संचालन विधि विदेश नीति है। भारत देश की यह उदारता व श्रेष्ठता है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा का विकास करना, राष्ट्रों के बीच निष्पक्ष और सम्मानजनक संबंध स्थापित करना, अंतर्राष्ट्रीय कानून के लिए और संगठित लोगों के आपसी व्यवहार के लिए की गई संधियों के प्रति सम्मान करना और अंतर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने के लिए प्रोत्साहित करना भारत की विदेश नीति नहीं अपितु संवैधानिक प्रावधान है

जिसका उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 51 में भी है। सहजता में ही ये व्यवस्थाएँ देश के राष्ट्रीय हितों का साधन भी बनी।

विदेशी मंत्री यदि देश का हित चाहने वाला होगा तो देश के हित में विदेशों से मैत्री स्थापित करेगा। प्रत्येक निर्णय देश हित में लेगा। पुनः कहा वह देश की समृद्धि का वर्द्धक हो। संबंधों की मधुरता निःसंदेह समृद्धि में वृद्धि करती है। यदि स्वदेश निवासी मित्र देशों में व्यापार आदि उद्देश्यों से जाते हैं तो देश से अच्छे संबंध होने पर उसे भी उसके अनुरूप सम्मान व अधिकार प्राप्त होगा। यदि मंत्री देश की सुख समृद्धि का इच्छुक होगा तो विदेशों से मधुर संबंध बनाए रखेगा। इससे युद्धादि का भय भी नहीं रहता, सुख-शांति की स्थापना होती है एवं आर्थिक, सामाजिक आदि लाभ भी होते हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार ने विदेश मंत्री के गुणों, कार्यों का कथन किया जो देशोन्नति में सहायक है।

स्वास्थ्य मंत्री

माणुस-तिरियाणां च, वत्त-रक्खो सुवड्ढगो।
वेज्ज-चिग्च्छगादीणं, सत्थ-मंती सुजोजगो॥४४॥

अर्थ–स्वास्थ्य मंत्री मनुष्यों और तिर्यचों के आरोग्य का रक्षक, सुवर्द्धक व वैद्य, चिकित्सक आदि का सुयोजक हो।

Health Minister should be the protector and caretaker of health of the people and the animals. He should appoint doctors and apothecaries.

भावार्थ–स्वास्थ्य मंत्री प्रदेश के नागरिकों के जीवन स्तर एवं स्वास्थ्य को उत्तम बनाए रखने में प्रयासरत रहता है– स्वास्थ्य सभी के लिए अति आवश्यक है अत: स्वास्थ्य मंत्री प्रत्येक नागरिक के लिए, विभिन्न प्रकार से स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराता है। स्वास्थ्य वा आरोग्य मानव का सबसे बड़ा धन है, तभी तो कहा है **'पहला सुख निरोगी काया'**। यदि व्यक्ति स्वस्थ है तो वह अन्य कार्यों को सुखपूर्वक कर सकता है। राज्य में स्वास्थ्य मंत्री की नियुक्ति इसी उद्देश्य को लेकर होती है कि वह देश में प्रजा के आरोग्य का ध्यान रखे। विशेष प्रकार की बीमारियों के फैलने पर तुरंत उसके रोकथाम की व्यवस्था करे। विभिन्न डॉक्टर्स या साइन्टिस्ट्स से परामर्श कर बीमारी की औषधि नागरिकों तक पहुँचाये। बीमारियाँ कैसे होती हैं व व्यक्ति किन सावधानियों से इनसे बच सकता है वह सब भी विभिन्न माध्यमों से नागरिकों तक पहुँचाए। प्रजा स्वस्थ हो तो देश में सुख-शांति संभव हो सकती है।

ग्रंथकार यहाँ कहते हैं कि राज्य में रहने वाले मनुष्यों की ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों के स्वास्थ्य की भी देखरेख करना चाहिए। पशु-पक्षी देश से अलग नहीं होते। उनके आरोग्य का रक्षण भी स्वास्थ्य मंत्री का कर्त्तव्य है।

जिस ऋतु में जो वस्तुएँ स्वास्थ्य के लिए उत्तम हैं स्वास्थ्यवर्द्धक हैं डॉक्टर्स आदि की सहायता से उन्हें जानकर नागरिकों तक पहुँचाए जिससे सभी का स्वास्थ्य उत्तम हो सके और हानिकारक वस्तुएँ चेतावनी के साथ हों। स्वास्थ्य के लिए उत्तम वस्तुओं का प्रचार-प्रसार व हानिकारक वस्तुओं के खान-पान की जानकारी नागरिकों तक पहुँचाकर उनकी रोकथाम में प्रयासरत हो।

स्वास्थ्य मंत्री श्रेष्ठ वैद्य व चिकित्सकों का नियोजक हो। इलाज करने वाले जो चिकित्सकादि उत्तम हैं, मनुष्य की प्रकृति आदि के अनुसार औषधि देने में समर्थ हैं, चिकित्सा विज्ञान के ज्ञानी हैं उन्हें नियुक्त करना चाहिए। समाज का हर वर्ग इलाज प्राप्त कर सके ऐसा भी ध्यान रखना चाहिए। वैसे तो सरकारी अस्पतालों में कई सुविधाएँ हैं फिर भी निरीक्षण आवश्यक है कि वहाँ कार्यरत डॉक्टर्स आदि व समस्त औषधियाँ उत्तम हों।

मुख्यमंत्री

विगासगो स-रज्जस्स, दक्खो मंति-णिजोजणे।
सुसंचालग-णीदिण्णू, मुक्खमंती हिदंकरो॥89॥

अर्थ–मुख्यमंत्री स्व राज्य का विकासक, मंत्रियों के नियोजन में दक्ष, सुसंचालक, नीतिज्ञ व हितंकर हो।

The Chief Minister should be the developer of own state, skilled in appointing the ministers, good director, strategist and beneficent person.

भावार्थ–मुख्यमंत्री राज्य का वास्तविक प्रमुख होता है। अपने राज्य की प्राप्ति व सुरक्षा आदि के लिए अत्यंत बुद्धिमान् व राजनीति के धुरंधर विद्वान् और अनुभवी मंत्री मंडल के साथ बैठकर विचार विमर्श करना अत्यंतावश्यक है। अत: शासक का मंत्री मंडल उसकी बहुत बड़ी शक्ति है। विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न मंत्रियों का निर्वाचन किया जाता है। यहाँ ग्रंथकार मुख्य मंत्री के गुण-कर्त्तव्य बताते हुए कहते हैं कि वह अपने राज्य का विकासक हो। जिन नीतियों के माध्यम से प्रजा सुख से जीवन व्यतीत कर सके, दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सके ऐसी नीतियों का प्रतिपादन करना चाहिए। राज्य का विकास उसकी उन्नति किस प्रकार हो सकती है इसका विचार कर कार्य करना चाहिए प्रजा की उन्नति से राज्य की उन्नति व उससे ही देश की उन्नति संभव है। प्रति समय मुख्यमंत्री का ध्यान राज्य की उन्नति पर केन्द्रित होना चाहिए।

मुख्यमंत्री यदि अन्य मंत्रियों का नियोजन करे तो दक्षता के साथ करना चाहिए। मुख्यमंत्री ऐसे मंत्रियों का चयन न कर ले जो पदभार सम्हालने में असमर्थ हों, मूर्ख हों। ऐसे मंत्रियों का चयन करे जो राज्य हित में मुख्यमंत्री के सहयोगी बन सकें। विभिन्न नीति व परीक्षणों से मंत्रियों का चयन किया जाना चाहिए क्योंकि यदि मंत्री समीचीन न हुए तो राज्य का विनाश अवश्यंभावी है। अत: अपनी दक्षता से सुमंत्रियों का नियोजन करें। कहा भी है–

''न हि गली वलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते''

अपरिपक्व होने के कारण बछड़े से बोझा ढुवाना जिस प्रकार निरर्थक है उसी प्रकार कायर व मूर्ख पुरुष को मंत्री पद पर नियुक्त करना निरर्थक है।

ग्रंथकार ने स्वयं भी ग्रंथ में मंत्रियों की विशेषता व उनके गुणों का निर्देश किया है उन सबका परीक्षण कर ही उनकी नियुक्ति करनी चाहिए। अत्यंत क्रोधी, बाह्याभ्यंतर संबंधी मलिनता से दूषित, व्यसनी, नीचकुलीन, हठी, आमदनी से अधिक खर्च करने वाले, परदेसी लोभी व जिसके पक्ष में

बहुत से शक्तिशाली पुरुष हों ऐसे व्यक्ति को मंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए।[1] क्योंकि इन दोषों से युक्त मंत्री राज्यक्षति के कारण हैं।

मुख्यमंत्री राज्य का सुसंचालक हो। जिस प्रकार श्रेष्ठ व ज्ञानी पायलेट वायुविमान में बैठे यात्रियों को बिना किसी परेशानी के गंतव्य तक पहुँचा देता है उसी प्रकार कुशल मुख्यमंत्री भी राज्य का नेतृत्व कर प्रजा को सुखी करते हैं, उन्नति में सहयोगी होते हैं। एक अच्छा संचालक अपने अधीनस्थों को बिना दु:ख, पीड़ा दिए उनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है यही कर्त्तव्य मुख्यमंत्री का भी होता है।

पुन: कहा वह नीतियों को जानने वाला और हितकर हो। राजनीति से अनभिज्ञ तो मंत्री होने के ही योग्य नहीं है। कहा है **''श्राद्ध इवाश्रोन्नियस्य न मंत्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति।''** जो मनुष्य धार्मिक क्रियाकांडों का विद्वान् नहीं है, उसको जिस प्रकार श्राद्ध क्रिया कराने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार राजनीति ज्ञान से शून्य मंत्री को सलाह देने का भी अधिकार नहीं। अत: मंत्री को राजनीति का विशेष ज्ञानी होना चाहिए। चाणक्य की नीति के बल पर मौर्यवंश की स्थापना संभव हुई। जबकि मूर्ख मंत्रियों का संग राज्य को नष्ट कर डालता है। अत: मुख्यमंत्री नीतिवान् हो व सभी का हित करने वाला हो। सबके हित में प्रवृत्ति कर यथार्थ रूप से मुख्यमंत्री अपने कर्त्तव्य का पालन करने में तथा देशोन्नति में समर्थ हो सकता है।

अत: मुख्य मंत्री राज्य का विकासक, मंत्रियों की नियुक्ति में कुशल, राज्य का समीचीन संचालन करने वाला, नीतिवान्, राजनीति में निपुण व सभी का हितैषी होना चाहिए।

---

1. **तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचि व्यसनिनमशुद्धाभिजनमशक्य प्रत्यावर्त्तनमतित्यय-शीलमन्य-देशायातमतिचिक्कणं चामात्यं न कुर्वीत। -नी.वा.**

पर्यावरण मंत्री

अरण्ण-वण्ण-जंतूणं, जल-वाऊण रक्खगो।
पज्जावरण-मंती सो, जो अणत्थ-णिवारगो॥90॥

अर्थ–जो अरण्य, वन्यजन्तु, जल, वायु का रक्षक है, अनर्थ का निवारक है वह पर्यावरण मंत्री है।

The Environment Minister should be the protector of forest, wild animals, water and air and should avert the evil.

भावार्थ–राज्य के सुसंचालन हेतु विभिन्न विभागों के लिए बहुत से मंत्री होते हैं। मात्र एक व्यक्ति के माध्यम से सभी कार्य नियोजित करना संभव नहीं। एक विद्यालय का संचालन भी एक शिक्षक के माध्यम से नहीं हो सकता, एक कंपनी का संचालन भी मात्र एक व्यक्ति से नहीं हो सकता तब एक राज्य का संचालन मात्र एक व्यक्ति से कैसे हो सकता है? कदापि नहीं आचार्य सोमदेव सूरी ने कहा भी है–

''एको हि पुरुषः केषु नाम कार्येष्वात्मानं विभजते।''

अकेला आदमी अपने को किन-किन कार्यों में नियुक्त कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। अर्थात् राजकीय बहुत से कार्यों को एक अकेला मंत्री संपादित नहीं कर सकता अतएव अलग-अलग विभागों के लिए बहुत से मंत्री होने चाहिए। और भी कहा है–

'किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया'।

क्या केवल एक शाखा वाले वृक्ष से अधिक छाया हो सकती है? नहीं हो सकती, उसी प्रकार अकेले मंत्री से राज्य के महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकते।

अतः विभिन्न कार्यों के लिए बहुत से मंत्रियों का चयन किया जाता है। ग्रंथकार ने कई मंत्रियों के गुणों का, कर्त्तव्यों का वर्णन किया। इस श्लोक में वे पर्यावरण मंत्री के विषय में कहते हैं।

प्राणीहित के लिए प्रकृति एवं पर्यावरण का संरक्षण अनिवार्य है। प्रकृति के अंधाधुंध दोहन, रासायनिक, बहिःस्राव, एसिड रेन, वायुमंडल में बढ़ रही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा मनुष्य के पारिस्थितिकी संकट का कारण है जिसे पर्यावरण-संरक्षण से ही दूर किया जा सकता है। बढ़ती हुई हिंसा, वृक्षों को काटने, अंधाधुंध जल दोहन, भूक्षरण के कारण प्राकृतिक प्रकोप वृद्धिंगत हो रहे हैं कभी भूकंप के रूप में तो कभी बाढ़, सुनामी या महामारी के रूप में। प्राकृतिक संतुलन, पर्यावरण संरक्षण मानव के सुख-शांतिमय जीवन के लिए परमावश्यक है।

पर्यावरण मंत्री का कार्य पर्यावरण संरक्षण करना है। जैविक, भौतिक एवं रासायनिक कारक सभी पर्यावरण के अंतर्गत आते हैं। तालाब, वायु, नदी आदि स्वच्छ होना चाहिए अन्यथा मानव जीवन पर इनका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सरकार के द्वारा चलाये गये 'जल बचाओ' 'वृक्ष

लगाओ' वा 'स्वच्छ भारत' जैसे अभियान भी पर्यावरण संरक्षण हेतु उपकारी सिद्ध होते हैं। पर्यावरण मंत्री ऐसी नीतियों का प्रारंभ करे जिससे प्राकृतिक संतुलन बना रहे। जल को स्वच्छ रखना, अत्यधिक मात्रा में पृथ्वी से तत्त्वों का दोहन नहीं करना, वायु को स्वच्छ रखने हेतु-प्रदूषण आदि कम करना, जहरीली गैसों का निरोध करना आदि करने में प्रयास रत रहना चाहिए। अधिकाधिक वृक्षारोपण कर वायु प्रदूषण को कुछ कम किया जा सकता है। वृक्षों के माध्यम से प्राप्त जीवनदायिनी ऑक्सीजन कई प्रकार से प्रकृति को संतुलित करती है। वह मंत्री वन, पशु-पक्षी, जल, वायु आदि का रक्षण व उन्हें स्वच्छ बनाने में तत्पर हो जिससे सभी अनर्थों का निवारण हो सके।

इस प्रकार ग्रंथकार पर्यावरण मंत्री के कर्त्तव्यों का विवेचन करते हैं जिससे देश में सुख-शांति की स्थापना हो सके।

राजदूत

भासाविदो गुणाकंखी, णाणी रज्ज-पसंसगो।
दूरदिट्ठो सहिण्हू य, रायदूदो हिदंकरो॥91॥

अर्थ–राजदूत भाषाविद्, गुणों का आकांक्षी, ज्ञानी, राज्य का प्रशंसक दूरदृष्टा, सहिष्णु और हितंकर हो।

An ambassador should be linguist, aspirant of good qualities, scholar, admirer of the state, farsighted, tolerant, and benevolent.

भावार्थ–राजदूत राज्य या देश द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि होते हैं, जो अन्य राष्ट्र, अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन अथवा अंतर्राष्ट्रीय संस्था में अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। आचार्य सोमदेव स्वामी ने दूत को परिभाषित करते हुए कहा कि जो अधिकारी दूरदेशवर्ती राजकीय कार्य-सन्धि-विग्रहादि का साधक या प्रदर्शक होने के कारण मंत्री समान होता है, उसे दूत कहते हैं। **''अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री''** राजपुत्र विद्वान् ने भी कहा है कि 'राजा का अन्य देश संबंधी कार्य-संधि- विग्रहादि-दूत द्वारा ही सिद्ध होता है अतः वह (दूत) मंत्रीतुल्य उसे सिद्ध करता है।

देशान्तरस्थितं कार्यं दूतद्वारेण सिद्ध्यति।
तस्माद् दूतो यथा मंत्री तत्कार्यं हि प्रसाधयेत्॥

ग्रंथकार यहाँ राजदूत के गुणों का विवेचन करते हैं कि पूर्वकाल में तो राजदूतों का चयन ही उनकी आवाज, मधुर भाषण, मान्य बुद्धि व आकर्षक व्यक्तित्व के आधार पर होता था। यहाँ ग्रंथकार के अनुसार राजदूत अच्छा भाषाविद् हो। जिस प्रकार मयूर मधुर स्वर से दर्प युक्त सर्पों को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मीठे वचन बोलने वाला अपने अहंकारी शत्रुओं को निःसंदेह नष्ट कर डालता है।[1]

राजदूत का मूल कार्य राष्ट्रों के मध्य मैत्री व सौहार्द्र पूर्ण संबंध बनाना होता है। मधुर संबंध बनाने के लिए वाक्पटुता आवश्यक है। सुवचनों के बंधन से व्यक्ति शीघ्र ही सामने वाले को अपना बना लेता है। कहा है जिस प्रकार दूध वाला वृक्ष शीघ्र उत्तम फल देता है, उसी प्रकार सज्जन पुरुषों के वचन भी उत्तम-उत्तम फलदायक होते हैं।[2] शब्दों में अचिन्त्य शक्ति होती है। सबको जोड़ने की भी शक्ति शब्दों में है और विघटन शक्ति भी है। दूत मृदु शब्दों से चित्त का हरण करने वाला हो। **''वचन व्यक्ति के व्यक्तित्व का पैमाना होते हैं।''** दूत के मृदु वचन उसके व्यक्तित्व को और अधिक प्रभावी बनाते हैं। मिष्ट वचनों व उत्तम व्यक्तित्व से ही व्यक्ति

---

1. **प्रियं वद : शिखीव सदर्पानपि द्विषत्सर्पानुत्सादयति। -नी.वा.**
2. **क्षीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः। -नी.वा.**

सामने वाले से मैत्री स्थापित कर सकता है। राजदूत का प्रमुख कार्य मैत्री संबंध स्थापित करना है जिसके लिए वाक्पटुता, भाषाविद् एक महत्वपूर्ण गुण है।

राजदूत गुणों का आकांक्षी हो। व्यक्ति को सदैव गुणग्राही गुणाकांक्षी होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति व्यक्तित्व के नकारात्मक बिंदुओं को दूर करने में और सकारात्मकता के प्रादुर्भाव में प्रयासरत रहता है। गुणों से ही व्यक्ति की गरिमा होती है। गुणाकांक्षी ही सामने वाले में गुणावलोकन कर सुसंबंध स्थापित कर सकता है क्योंकि व्यक्ति के गुण ही व्यक्ति को आकर्षित करते हैं। गुणों से ही व्यक्ति सम्मानीय होता है। जिस प्रकार सुमेरुपर्वत अपने गुण-उच्चता आदि के कारण महान् है उसी प्रकार मनुष्य भी विद्वत्ता व सदाचार आदि सद्गुणों के कारण महान् होता है। गुणों के माध्यम से व्यक्ति का सकारात्मक प्रभाव सामने वाले पर पड़ता है जिससे जुड़ाव शीघ्र होता है।

राजदूत ज्ञानी हो। राजदूत को नीति व्यावहारिक व शास्त्र ज्ञान भी हो। व्यक्ति का ज्ञान सामने वाले को प्रभावित कर देता है। तथा वह किसी भी परिस्थिति में शीघ्र निर्णय लेने की सामर्थ्य से युक्त हो, सामने वाले की बात का प्रत्युत्तर तुरंत देने में समर्थ हो। यह तभी संभव है जब वह ज्ञानवान् होगा।

राजदूत राज्य का प्रशंसक हो। वह अन्य देश या राष्ट्र के समक्ष अपने राज्य की ऐसी प्रशंसा करे जिससे सामने वाला देश में मैत्री करने के लिए आतुर हो उठे। राजदूत का सीधे-सीधे मैत्री प्रस्ताव रखना स्वाभिमान हानि में भी कारण बन सकता है। किंतु अपनी बुद्धिमत्ता, प्रियवचनों से राज्य की वह मधुर प्रशंसा करे जिससे सामने वाला मैत्री हेतु स्वयं अधीर हो उठे। गुण दर्शाकर की गई मैत्री विशेष सुखद भी होती है।

राजदूत दूरदृष्टा हो। उसके किए गए कार्य वा कहे गए शब्दों का प्रतिफल क्या होगा इसे पहले ही जान जाए। किस देश के साथ मैत्री संबंध रखना देश हित में रहेगा वह अपनी दूरदृष्टि से जान ले। वह राजदूत सहिष्णु तथा हित करने वाला हो। संबंध स्थापित करने हेतु कई बार सामने वाले का विपरीत व्यवहार व विपरीत शब्द भी सहन करने होते हैं। यदि दूत सहिष्णु नहीं होगा तो मैत्री संबंध होने की बात तो दूर कहीं शत्रुता ही न उत्पन्न हो जाए। अतः बातचीत के लिए उन्हें ही भेजा जाता है जो सहनशील हों। अंत में कहा राजदूत हित करने वाला हो। सर्वाहित की भावना से युक्त दूत अपने कार्य को निपुणता से संपन्न करेगा। सर्वाहित की भावना में छल, कपट आदि निहित नहीं होते, स्वार्थ नहीं होता और ऐसी भावना से किया गया कार्य ही समीचीन फलदायी होता है।

इस प्रकार ग्रंथकार ने राजदूत के गुण-कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया जो पद योग्य व्यक्ति के लिए ग्रहणीय है।

कुशल मंत्री

हिदेसी रायदेसाणं, सयायारी य उज्जमी।
धीरो वसणहीणो हु, मेहावी होज्ज सक्खयो॥92॥
उप्पण्णो सगदेसम्मि, रज्ज-रहस्स-गोवगो।
दयावंतो सुमित्तं च, णिट्ठो मंती गुणी मिदू॥93॥

अर्थ–मंत्री निश्चय से राजा व देश का हितैषी हो, सदाचारी, उद्यमी धीर और व्यसनहीन हो, मेधावी व सक्षम हो, अपने देश में उत्पन्न हो, राज्य के रहस्य का गोपक, दयावान, अच्छा मित्र, निष्ठ, गुणी और मृदु है।

The minister should be trustworthy to his king and the state virtuous, diligent, patient, devoid of addictions, prudent, capable, indigenous, secretive for his state secrets, kind, good friend, loyal, meritorious and soft.

भावार्थ–राजा वा राज्यहित में मार्गदर्शन करने वाले मंत्री कुछ विशेष गुणों से युक्त होने चाहिए। जब परिवार वा समूह का निर्देशन करने वाले व्यक्ति में गुणों का गुरुत्व आवश्यक है तब देश को निर्देशित करने से पूर्व स्वयं में श्रेष्ठ गुणों का होना तो आवश्यक है ही। ग्रंथकार राज्य संचालन करने वाले शासक व उनमें सहयोगी मंत्री आदि में होने योग्य गुणों को प्रतिपादित करते हैं।

मंत्री राजा और देश का हितैषी हो। राजा यदि कुपथगामी या दिशाहीन हो जाए तो मंत्री उसे समीचीन पथ पर अग्रसर कर सके। वह स्वार्थवश या भयभीत हो राजा के गलत कार्य की अनुमोदना न करे क्योंकि इससे राजा का अहित ही होगा।

''घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मंत्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः'' –नी.वा.

जिस ज्ञान के द्वारा दूसरों को समझा कर सन्मार्ग पर न लगाया जावे, वह मंत्री या विद्वान् का ज्ञान घट में रखे हुए दीपक के समान व्यर्थ है। जैसे जलाकर घड़े में रखा हुआ दीपक केवल घड़े को ही प्रकाशित करता है किंतु बाहर के पदार्थों को नहीं इसीलिए वह व्यर्थ समझा जाता है। इसी प्रकार मंत्री यदि राजा को समझाने में समर्थ नहीं है तो उसका ज्ञान घटदीप के समान व्यर्थ है।

अतः मंत्री सदैव राजा और देश का हित करने वाला हो।

मंत्री सदाचारी हो। यदि उच्चपदासीन कदाचारी या दुराचारी होगा तो प्रधानमंत्री का अनुगमन करने वाली प्रजा सदाचारी कैसे रह सकेगी? दुराचारी व्यक्ति का विवेक, बुद्धि, ज्ञानादि काम नहीं करता। जिसका ज्ञान, विवेक नष्ट हो जाए वह राज्य का क्या हित कर सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

''विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति।'' –नी.वा.

दुराचार अर्थात् कुत्सित और निन्द्य कर्मों में प्रवृत्ति विष-भक्षण की तरह समस्त विद्या, कला, नीतिमैत्री आदि मानवोचित गुणों को व राज्य की वृद्धि और रक्षा करने वाले संधि और विग्रह आदि षाड्गुण्य को नष्ट कर देता है। प्रधानमंत्री के दुराचारी होने पर राजनैतिक ज्ञान और सैनिक-संगठनादि सद्गुणों के अभाव से राज्य की क्षति निश्चित है अतः प्रधानमंत्री सदाचारी ही होना चाहिए।

मंत्री उद्यमी हो। **''अलसः सर्व कर्मणामनधिकारी''**। आलसी पुरुष समस्त राजकीय आदि कार्यों के अयोग्य होता है। प्रमाद से कई कार्य बिगड़ जाते हैं कार्य सिद्ध नहीं होते। छोटा सा प्रमाद भी देश की क्षति में कारण हो सकता है। छोटे-छोटे कार्यों में आलस्य उन्नति या उपलब्धि को नष्ट कर देता है। अतः **प्रधानमंत्री** उद्यमशील हो, परिश्रम में रत रहे।

वह धैर्यशाली हो। जो व्यक्ति धैर्य रखता है वह कार्य-सिद्धि रूपी अनुपम फल को प्राप्त करता है। कहा भी जाता है कि सब्र का फल मीठा होता है धैर्य रखने से, सब्र रखने से व्यक्ति का बिगड़ा कार्य भी बन जाता है।

''उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः।'' –नी.वा.

अधीरता अर्थात् घबराना या आकुल, व्याकुल होना मनुष्य की समस्त कार्य-सिद्धि में अत्यंत बाधक है। अतः किसी कार्य में उतावली न करें।

व्यसन का रूढ़ि अर्थ है–बुरी आदत। माँस भक्षण, मदिरा पान, जुआ खेलना, शिकार करना, चोरी करना, परस्त्री सेवन व वेश्यागमन ये 7 व्यसन कहलाते हैं। मंत्री इन व्यसनों से रहित होना चाहिए। व्यसनी किसी भी कार्य को गंभीरता से नहीं लेता। वह सही निर्णय लेने में, कर्तव्य-अकर्तव्य में बोध नहीं रखता।

सत्यसनसचिवो राजारूढ़व्यालगज इव नासुलभोऽवायः। –नी.वा.

जिस राजा का मंत्री जुआ, मद्यपान और परस्त्रीसेवन आदि व्यसनों में फँसा हुआ है, वह राजा पागल हाथी पर चढ़े हुए मनुष्य की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है।

मंत्री मेधावी व सक्षम हो। वह बौद्धिक शारीरिक आदि बलों से युक्त हो। सूझ-बूझ से समस्त समस्याओं का निदान निकालने में समर्थ हो। सक्षम-समर्थ मंत्री राज्य की ढाल बन उसकी रक्षा में समर्थ होता है। अपनी बुद्धिमत्ता से राज्य की यश कीर्ति वृद्धिंगत करता है।

कहा भी है जो पुरुष राजा के समस्त कार्यों में विशेषता व अपने अधिकार का प्रभाव दिखाने में प्रवीण हों वे राजमंत्री होने के योग्य हैं, अन्यथा मंत्री पद के योग्य नहीं हैं।

मंत्री निष्ठावान् हो। राजा और देश के प्रति निष्ठा से कार्य करने वाला ही देशोन्नित में कारक हो सकता है। निष्ठावान् व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में साथ छोड़कर के नहीं जाता। सुख के समय तो सभी लोग सहायक हो जाते हैं किंतु दुःख में कोई सहायक नहीं होता। अतः विपत्ति में सहायता

करने वाला पुरुष जो अपने राजा व देश के प्रति निष्ठा से कार्यान्वित हो वही कुशलमंत्री पद के योग्य है। कहा भी है–

''किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते।'' –नी.वा.

उस मंत्री मित्र या सेवक से क्या लाभ है? जो विपत्ति के समय अपने स्वामी या मित्र की सहायता नहीं करता किंतु उल्टा उससे द्रोह करता है, चाहे वह कितना ही विद्वान् और व्यवहार कुशल ही क्यों न हो। अत: सर्व गुणों में निष्ठा यह प्रधान गुण के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। शुक्र ने भी कहा है कि द्रोह करने वाले मंत्री के सब गुण व्यर्थ ही हैं।

मंत्री गुणी व मृदु हो। गुणी की सभी लोग प्रशंसा करते हैं। व्यक्ति अपने गुणों से ही लोक में प्रशंसनीय होता है। अत: वह गुणों का आकर हो और मृदु हो। मंत्री राजा और प्रजा के मध्य सेतु के समान होता है। उसका मृदु स्वभाव प्रजा को राजा के प्रति निष्ठावान् व समर्पित बनाता है।

इस प्रकार एक कुशल मंत्री में किन गुणों का होना आवश्यक है उसका ग्रंथकार ने विवेचन किया। राष्ट्र हित की उदात्त भावनाओं से युक्त ग्रंथकार राज्य के सुसंचालन हेतु मंत्रियों के गुणों को कहते हैं जिससे राजा इन गुणों को देख मंत्रियों को चयनित करें अथवा मंत्रियों में इन गुणों का प्रादुर्भाव हो।

मगध देश को अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से एक देश ने दूत के माध्यम से दो सलाइयों में ऐसा अंजन भेजा जिससे आँखों की रोशनी वापस आ सकती है किंतु अंजन मात्र दो नेत्रों के योग्य ही था। मगध के राजा ने युद्ध में दृष्टि खोए वृद्ध मंत्री को वह अंजन दे दिया। मंत्री ने एक सिलाई से एक आँख में अंजन लगाया और उसकी दृष्टि वापिस आ गई तब उन्होंने दूसरी सलाई उठायी और जीभ पर रख ली। पूरे दरबार में शोर होने लगा कि मंत्री ने यह क्या अनर्थ कर दिया। वृद्ध मंत्री ने कहा राजन्! विदेशी दूत को 3 दिन बाद यहाँ से भेजा जाए। राजा ने मंत्री के आग्रह को स्वीकार कर दूत को रोक लिया। तीसरे दिन मंत्री एक डिब्बे के साथ दरबार में उपस्थित हुए। मंत्री के दोनों नेत्रों को ठीक देखकर सभी आश्चर्यचकित थे।

राजा ने पूछा यह कैसे संभव हुआ? मंत्री ने बताया महाराज! अंजन को चखकर मैंने जान लिया था कि इसमें क्या-क्या मिला है। यदि आँख में लगाता तो मात्र मेरे नेत्र ठीक होते और अब राज्य में सभी के नेत्रों में रोशनी होगी। यह सुन सजा आदि सभी ने मंत्री की भूरी-भूरी प्रशंसा की और जो डिब्बा मंत्री लेकर आए थे वह भी अंजन से भरा हुआ था उसे दूत को देकर कहा ''जाओ! अपने राजा को दे देना।''

दूत अपने राज्य पहुँचा, राजा को सब सुनाया तब उस राजा के मंत्री ने कहा ''महाराज! जिस देश में ऐसा समर्थ मंत्री हो, उस देश का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अत: उस देश पर आक्रमण करने का विचार त्याग दें।'' इस प्रकार मंत्री की सूझबूझ ने समस्त राज्य की सुरक्षा की।

मंत्री स्वदेशोत्पन्न हो। व्यक्ति जिस देश में उत्पन्न होता है उसके प्रति उसका विशेष भाव रहता

है। विदेश में उत्पन्न हुए व्यक्ति को स्वदेश मंत्री बनाने से नियमतः देश की हानि होगी। अतः सभी मनीषी, नीतिकारों ने मंत्रियों के विषय में कहा कि स्वदेशोत्पन्न ही मंत्री पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

अगली बात कही- मंत्री राज्य के रहस्यों का गोपक हो। समय से पूर्व रहस्यों का उद्घाटन कार्य के संपादन में बाधा उत्पन्न कर सकता है नीतिवाक्यामृतम् में कहा भी है। **'आकार्यसिद्धेरक्षितब्यो मंत्रः'** अर्थात् जब तक कार्य सिद्ध न हो जावे तब तक विवेकी जन को उसे प्रकाशित नहीं करना चाहिए अन्यथा कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। अथवा यह राज्य के प्रति विश्वासघात भी माना जा सकता है। मंत्री अपनी नीतियों को तब तक उद्घाटित न करे जब तक समय उचित न हो। प्रत्येक राज्य में कुछ रहस्य होते हैं, रहस्यों का उद्घाटन राज्य की शक्ति को कम कर सकता है, अन्य कोई अनुचित लाभ उठाकर राज्य को नुकसान पहुँचा सकता है, भेद जानकर राज्य का अहित करना शत्रु पक्ष की नीति होती ही है।

विदुर ने कहा है कि विष भक्षण केवल खाने वाले व्यक्ति को और खड्ग आदि शस्त्र भी एक आदमी को मारते हैं किंतु धर्म का नाश या मंत्र का भेद (रहस्योद्घाटन) समस्त देश व सारी प्रजा सहित राजा को नष्ट कर डालता है।

गुप्त मंत्रणा के प्रकाशित हो जाने से राजा को जो संकट उत्पन्न होता है वह बहुत कठिनाई से भी नष्ट नहीं होता है। अतः सर्वहित के लिए मंत्री रहस्यों का गोपन करने वाला हो।

मंत्री दयावान् व राजा का अच्छा मित्र हो। दयालु व्यक्ति सबके प्रति संवेदनशील होता है। किसी के प्रति अन्याय की भावना भी नहीं रख सकता। अनीति व अत्याचार, दयावान् के पास नहीं ठहर सकते। दयावान् व्यक्ति में बहुत से गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। दयावान् निश्चय से धार्मिक प्रवृत्ति वाला होता है।

धार्मिक व्यक्ति पाप भीरू होता है। स्वयं भी अन्याय मार्ग पर अग्रसर नहीं होता और राजा के लिए भी न्याय पथ का प्रदर्शक बन राज्य के समीचीन संचालन में निमित्त बनता है। अतः कहा भी है कि मंत्री राजा का अच्छा मित्र हो। राजा व मंत्री के मध्य मित्रता दोनों व राज्य के हित में होती है। मंत्री, राजा को समीचीन परामर्श तब दे सकता है जब वह उसका सबसे अच्छा मित्र हो। राजा को अनीति मार्ग पर बढ़ने से रोके। राजा के किस कार्यकलाप का कैसा प्रभाव स्व वा परराज्य पर पड़ेगा इसका परिज्ञान वह पूर्व में ही करा दे। राजा को सदैव जागरूक रखे। जिस राज्य में राजा का मंत्री बुद्धिमान् व उसका अच्छा मित्र हो उस राज्य से आपत्ति के मेघ विघटित हो जाते हैं। मित्र के रूप में मंत्री राजा को धर्म व नीति युक्त राज्य संचालन की प्रेरणा देकर राजा को सर्वप्रिय बना सकता है और उसके दीर्घकालीन राज्य की स्थापना कर सकता है।

कर्त्तव्यशील नायक

स-गाम-णयराणं च, जणपदस्स णायगा।
सव्वे कुव्वंति खेत्तम्मि, बहुजण-हिदं सया॥94॥

अर्थ–अपने गाँव, नगर व जनपद के नायक अपने क्षेत्र में बहुत जनों का हित करते हैं।

All the leaders of their villages, cities and districts should always take care of the people in their own areas.

भावार्थ–किसी भी समूह के समीचीन नेतृत्व के लिए अच्छे नायक की आवश्यकता होती है। मुखिया निष्पक्ष, अपने समूह के हित में प्रवृत्ति करने वाला व सहिष्णु होना चाहिए। इस पर तुलसीदास जी ने कहा भी है–

मुखिया मुख सो चाहिए खानपान को एक।
पाले पोसे सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥

यहाँ उदाहरण देते हुए कहा कि जब मुख में कोई खाद्य पदार्थ डाला जाता है चाहे वह नमकीन, मीठा, खट्टा, चरपरा, कड़वा, कसैला आदि किसी भी स्वाद का हो वह बिना किसी भेदभाव के उन्हें शरीर के संपूर्ण अंगों को पुष्ट करने के लिए भेज देता है। इसी प्रकार मुखिया भी होना चाहिए। जैसे मुख ने किसी के साथ भेदभाव नहीं किया उसी प्रकार मुखिया को भी प्रत्येक सदस्य के साथ निष्पक्ष व्यवहार करना चाहिए। वह मुखिया चाहे परिवार का हो, संस्था का हो, किसी गाँव, नगर, जनपद या देश का ही क्यों न हो।

जहाँ मुखिया सभी से मधुरता, सहृदयता का व्यवहार करता है, सुख-दुःख में उनसे सहानुभूति रखता है तो वहाँ सभी की कार्यक्षमता वृद्धिंगत हो जाती है जो इस संस्था, देश वा राष्ट्र की उन्नति में कारण बनती है। मुखिया जब निष्पक्ष होकर अपने अधीनस्थों के लिए सोचता है, उनके हित में कार्य करता है, समता भाव से व एक समान मानते हुए कार्य करता है तो लोग उसकी आज्ञा में चलते हैं, उसको मान-सम्मान देते हैं, उसके प्रत्येक निर्देश को स्वीकार करते हैं।

जहाँ मुखिया का प्रेमपूर्ण निष्पक्ष व्यवहार सभी के प्रति होता है तो वहाँ सुख-शांति-समृद्धि का साम्राज्य होता है। मुखिया को चाहिए कि वह स्वार्थी न बने जैसे शरीर के किसी भी अंग की पीड़ा को दूर करने के लिए मुख कड़वी औषधि स्वीकार करता है उसी प्रकार मुखिया स्व समूह की शांति-सुख के लिए निर्णय ले, उनके हित में ही कार्यरत हो। समूह के हित का विचारकर कार्य करने वाला नायक ही श्रेष्ठ कहलाता है। अतः गाँव, नगर या जनपद के नायक सर्वहिताय नीति के साथ नेतृत्व करें।

श्रेष्ठ पुरोहित

किरिया-सीलसंसुद्धो, तच्चणाणी दयाणिही।
णिउणो मंत-तंतेसुं, पुरोहो मण्णदे गुणी॥95॥

अर्थ–जो क्रिया शुद्ध, शील शुद्ध (सदाचारी), तत्त्वज्ञानी, दयानिधि, मंत्र-तंत्र में निपुण है वह गुणी पुरोहित माना जाता है।

A person who is pure in character and rituals, enlightened, skilled in ***mantra tantra*** and virtuous is considered an able priest.

भावार्थ–पुरोहित अर्थात् राजगुरु जो राजादि को धर्मोपदेश दे उन्हें कर्त्तव्य बोध कराता है। पुरोहित का स्थान गुरु के समान होता है। यहाँ ग्रंथकार पुरोहित के लक्षण या गुण बताते हुए कह रहे हैं कि वह क्रिया शुद्ध हो। धर्म की प्रत्येक क्रिया को भलीभाँति जानता हो। पूजन-हवनादि की क्रियाओं को शुद्धतापूर्वक कराए। जिसका उच्चारण आदि अच्छा हो, श्रेष्ठ व कुलीन हो, माता-पिता के सुसंस्कारों से युक्त हो उसी को पुरोहित के पद पर नियुक्त करना चाहिए। क्योंकि कुल के संस्कार सदैव साथ रहते हैं।

पुनः वह शीलवान् हो, सदाचारी हो। जो स्वयं आचारवान् होगा वही सदाचार की शिक्षा अन्यों को दे सकता है। वैसे भी पुरोहित के समान विशुद्ध पद पर आचारवान् व्यक्ति को ही नियुक्त करना चाहिए। यह पद गुरु का पद कहलाता है। आचरण से हीन गुरु की श्रेणी में अधिष्ठित नहीं हो सकता। पुरोहित ऐसा हो जो अपने सम्यक् आचरण से सबको उपदेश दे सके। जिससे संपूर्ण राज-परिवार राजकुमारादि सम्यक् शिक्षा ग्रहण कर सकें। समस्त शिक्षाओं में आचरण की शिक्षा सर्व प्रमुख है। **''आचारः कुलमाख्याति''** व्यक्ति का आचरण उसके कुल को कह देता है। सदाचार की शिक्षा सदाचारी से ही ली जा सकती है। अतः पुरोहित शील-शुद्ध या सदाचारी ही होना चाहिए, इसी से उसकी पद, प्रतिष्ठा, गरिमा व सम्मान है।

पुरोहित तत्त्वज्ञानी हो। वह प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का ज्ञाता हो, शास्त्रों को जानने वाला हो और वस्तु के स्वरूप को, वस्तु-स्वभाव को पहचानने वाला हो। तत्त्वज्ञानी स्वयं भी दुखी नहीं होता और दूसरों को भी वस्तु स्वरूप समझाकर दुःख से बचाता है। किसी कारणवश राजा यदि चिंता से, दुःख या पीड़ा से ग्रसित होगा तो देश का हित किस प्रकार कर सकेगा इसीलिए तत्त्वज्ञानी पुरोहित राजा को उपदेशादि दे पुनः उसे कर्त्तव्यनिष्ठ बनाता है। तत्त्वोपदेश सुनने से व्यक्ति मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता, पथ भ्रष्ट नहीं होता क्योंकि वस्तु-स्वरूप का सही ज्ञान कुपथ के लिए बाधक है।

पुरोहित दया-निधि हो। सर्व धर्मों का आधार दया, करुणा, अहिंसा है। बिना आधार के आधेय कहाँ? बिना मूल के वृक्ष की स्थिति किस प्रकार हो सकती है। धर्म रूपी वृक्ष की जड़ दया ही है। जहाँ दया निवास करती है वहाँ अन्य धर्म के रूप भी निवास करते हैं। दयावान् परहित में संलग्न होता है।

पुरोहित मंत्र-तंत्र में निपुण होना चाहिए जिससे राज्य पर आने वाले संकटों को, प्रकृति प्रकोप अथवा महामारी आदि का शमन कर सके। शुक्र ने कहा है–

दिव्यान्तरिक्षभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये।
तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः॥

राजाओं को देवता व आकाश से उत्पन्न हुए एवं पृथ्वी पर होने वाले समस्त उपद्रव और सभी प्रकार की आपत्तियों जैसे-शारीरिक बुखार, गल-गंडादि, मानसिक, आध्यात्मिक आधि भौतिक, व्याघ्रादि जनित पीड़ा और आधिदैविक-आकस्मिक पीड़ाएँ आदि की शांति के लिए पुरोहित नियुक्त करना चाहिए।

पुरोहित दैवी अर्थात् उल्कापात, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि तथा मानुषी विपत्तियों को दूर करने में समर्थ होना चाहिए। इस प्रकार ग्रंथकार ने यहाँ पुरोहित के गुण कहे।

राज्यपाल

रट्ठइस्स रज्जस्स, रज्जवालाणुगामियो।
दूरदिट्ठो य गंभीरो, देसभत्तो महागुणी॥96॥

अर्थ–राज्यपाल देशभक्त, महागुणी, राष्ट्रपति का अनुयायी, दूरदृष्टा एवं गंभीर हो।

The Governor of the state should be the follower of the president, farsighted, solemn, patriot and virtuous.

भावार्थ–राज्य की कार्यपालिका का प्रमुख राज्यपाल होता है। ये अपने राज्य के सभी विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति भी होते हैं। इनकी स्थिति राज्य में वही होती है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की होती है। राज्यपाल सम्यक् रूप से शासन करने में दक्ष हो। वह देशभक्त हो। देश के प्रति भक्ति, समर्पण की भावना रखने वाला देश को प्रत्येक आपत्ति और संकट से बचाने का पूरा प्रयास करेगा, परतंत्रता की बेड़ियों से बचाकर रखेगा, उसके हित और विकास का चिंतन करेगा, देश हित में निर्णय लेने वाला होगा। एक देशभक्त का देश में रहने वाले लोगों के प्रति जो देश के प्रति अच्छी भावना रखते हों, सहज वात्सल्य रहता है, उनके रक्षण व उन्नति की कांक्षा करता है। अतः राज्यपाल देशभक्त हो जिससे वह देश के प्रति निष्ठा से अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सके।

राज्यपाल महागुणी हो। जिस पुरुष में राजनीतिज्ञ विद्वान् शिष्टपुरुषों के द्वारा नीति, आचार संपत्ति धीरता और शूरता आदि प्रजापालन में उपयोगी सद्गुण स्थिर हो गए हैं–जो इन सद्गुणों से अलंकृत हो गया हो वह शासक होने के योग्य है वे गुण शासकों को समस्त सत्कर्तव्यों में सफलता उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार अच्छी किस्म के पत्थर शाण पर रखे जाने से संस्कृत होते हैं, साधारण नहीं, उसी प्रकार गुणवान् और कुलीन पुरुष ही राज्यादि उत्तम पद के योग्य हैं निर्गुण नहीं।[1]

राज्यपाल दूरदृष्टा हो। वर्तमान से भविष्यकालीन परिस्थितियों का अनुमान करके जो सर्व हित में हो ऐसा निर्णय लेना राज्याधिकारियों को उत्तम ही है। दूरदृष्टा के निर्णय श्लाघनीय व सुखदायक होते हैं। सभी स्थितियों को ध्यान में रखते हुए **''किस निर्णय या कार्य का क्या परिणाम होगा''** यह जानकर कार्य करने वाला सफल भी होता है। और शासक का तो यह आवश्यक गुण है ही जिससे प्रजा में विद्रोहादि की लहरें न उठें, उन सभी में सामंजस्य बना रहे, राज्य में सुख-शांति रहे।

राज्यपाल राष्ट्रपति का अनुयायी हो। केन्द्र में राष्ट्रपति के समान ही राज्य में राज्यपाल की स्थिति होती है। जिस प्रकार राष्ट्रपति निष्ठा के साथ देश के हित में कार्य करने में संलग्न हो उसी प्रकार राज्यपाल भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करने वाला हो। राष्ट्रपति के निर्देशानुसार कार्य करे।

---

1. **दृव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यं। -नी.वा.**

राज्यपाल गंभीर हो। चंचल चित्त से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।[2] जिस प्रकार समुद्र गंभीर होता है उसी प्रकार शासक भी गंभीर हो। किसी आपत्ति या समस्या पर गंभीरता से विचारकर निर्णय लेने वाला हो। क्रोध या कषाय के आवेश में शीघ्रता पूर्वक लिया गया निर्णय उसके स्वयं की क्षति का तो कारण होता ही है राज्य की क्षति का भी हेतु होता है। इस प्रकार राज्यपाल का इन लक्षणों से युक्त होना उत्तम है।

---

2. **क्षणिकचितः किंचिदपि न साधयति। -नी.वा.**

वित्तमंत्री

हिदेसी सुधणाकंखी, पाव-धणस्स उज्झगो।
अत्थ-सत्थस्स णाणी य, रायमित्तं गुणी तहा॥97॥
कुसलो सव्वकज्जेसु, अत्थ-पबंध-जोजगो।
चिंतगो अत्थ-सोआणं, वित्तमंती दयाणिही॥98॥

अर्थ–वित्तमंत्री हितैषी, अच्छे धन का आकांक्षी, अशुभ धन का त्यागी, अर्थ शास्त्र का ज्ञाता हो, राजा का मित्र, गुणी, सर्व कार्यों में कुशल, अर्थ प्रबंध योजक, अर्थ के स्रोतों का चिंतक व दयानिधि हो।

Finance minister should be benevolent, aspirant for just money, hostile to unjust money, economist, friend of the King, virtuous, skilled in all the works, manager of finance system thinker of resources of money and compassionate.

भावार्थ–जो राज्य के आय-व्यय संबंधी लेखा-जोखा करता हो वह वित्तमंत्री कहलाता है। जिस प्रकार रथ का एक पहिया दूसरे पहिये की सहायता के बिना नहीं घूम सकता, उसी प्रकार अकेला राजा भी मंत्री आदि सहायकों के बिना राजकीय कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।[1] प्रत्येक मंत्री जैसे वित्तमंत्री, शिक्षा मंत्री, पर्यटन मंत्री आदि के कार्य निश्चित होते हैं। यहाँ आचार्य महाराज वित्तमंत्री के लक्षणों का निर्देश दे रहे हैं अर्थात् वित्तमंत्री में कौन कौन से गुणों का होना आवश्यक है।

वित्तमंत्री सर्व हितैषी हो। देश के हित में कार्य करने वाला हो। किस प्रकार देश की उन्नति हो सकती है, देश समृद्धशाली हो सकता है उसका चिंतन करने वाला हो। देश हित में निर्णय लेने वाला हो और प्रजा के प्रति भी अनुग्रह, दया रखने वाला हो। जिस प्रकार प्रजा को कष्ट न हो, दीन-निर्धन भी दुखी न हों उन सबको ध्यान में रख कार्य करना चाहिए।

वह सु अर्थात् न्यायोपार्जित धन का आकांक्षी हो। संपत्ति उत्पन्न करने वाले न्यायोचित साधन उपाय कृषि, व्यापार व राजपक्ष में उचित कर-टेक्स लगाना आदि को आय कहा है।[2] इस प्रकार राजकोष में न्यायोचित धन का संग्रह करे। और अशुभ धन का वंचक हो अर्थात अन्याय का धन ग्रहण न करे। धन जिस मार्ग से आता है उस ही मार्ग से जाता है। न्याय का धन राष्ट्रहित व प्रजा के हित में व्यय होता है। अन्याय का धन युद्ध, महामारी आदि में जाता है। न्याय मार्ग से आया धन राष्ट्र के विकास, उन्नति में व्यय होता है, प्रयुक्त होता है।

---

1. **नह्येकं चक्र परिभ्रमति, नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति । -नी.वा.**
2. **आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम्। -नी.वा.**

वित्तमंत्री अर्थ शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। अर्थ शास्त्र का ज्ञाता होने पर ही वह राज्य में अधिक आमदनी का व कम व्यय का प्रबंध कर सकता है। और उसी से राज हित संभव है। थोड़ी आमदनी करने वाला मंत्री दरिद्रता के कारण देश व राजकुटुंब को पीड़ित करता है।

अल्पायमुखो जनपदपरिग्रहौ पीड़यति। –नी.वा.

और यदि वह अर्थ शास्त्र को जानने वाला होगा तब उसके माध्यम से न्यायपूर्वक आय वृद्धिंगत कर सभी को सुख प्रदान करेगा।

वित्तमंत्री राजा का मित्र हो। मित्र से आशय यहाँ राजा के हिताकांक्षी से है। राजा के प्रति समर्पण की भावना हो। वह ऐसे सम्यक् नीर की भाँति हो जिससे राजा रूपी वृक्ष पुष्पित, फलित व पल्लवित हो। तथा वित्तमंत्री गुणी हो। वह क्रोधी, अधिक खर्चीला, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित, व्यसनी, नीच कुल का न हो। वह विवेक, क्षमा, सद् ज्ञानादि से परिपूर्ण हो। सदाचार रूपी धन से युक्त हो। इस प्रकार वह नाना गुण रूपी रत्नों से जड़ित हो।

वित्तमंत्री सर्व कार्यों में कुशल हो। वह लौकिक व पारमार्थिक कार्यों में दक्ष हो। वित्तमंत्री अर्थ प्रबंध योजक हो। कहाँ से, किस प्रकार आय अधिक हो सकती है और आय से व्यय कम हो, जो मंत्री राजकोष में आमदनी कम करता हुआ अधिक खर्च करता है, वह राजकीय मूलधन खा जाता है, उसको नष्ट कर देता है।[3] जो आय से अधिक व्यय करता है वह कुबेर के समान धनी होने के बाद भी भिक्षुक के समान आचरण करता है और अत्यंत दरिद्री, निर्धन हो जाता है। संपत्ति को उत्पन्न करने वाले उपायों अर्थात् समुचित टेक्स प्रभृति का प्रयोग आय है। स्वामी की आज्ञानुसार आमदनी के अनुकूल प्रजा के संरक्षण के लिए सैनिक विभाग आदि में उचित खर्च करना व्यय है।

आय अधिक और व्यय आय की अपेक्षा कम होना चाहिये अन्यथा राज्य में क्षति होती है। जिस प्रकार मुनिराज का कमण्डलु जल-ग्रहण अधिक परिमाण में व शीघ्रता से करता है परंतु उसका खर्च जल निष्कासन (निकालना) सूक्ष्म नली के अग्रभाग द्वारा धीरे-धीरे करता है उसी प्रकार वित्तमंत्री को क्रमशः व्यापारादि द्वारा और टेक्स द्वारा संपत्ति की आमदनी अधिक परिमाण में करते हुए अल्प खर्च करना चाहिए।[4]

वित्त मंत्री अर्थ के स्रोतों का चिंतक हो। अर्थात् किस प्रकार प्रजा को बिना कष्ट दिए अर्थोपार्जन अधिक से अधिक हो सकता है अथवा कहाँ-कहाँ से आमदनी अधिक हो सकती है। देश को अधिक आय किस प्रकार हो सकती है जिससे देश समृद्धशाली हो सके यह चिंतन वित्तमंत्री को करना चाहिये। तथा वित्तमंत्री दया-निधि हो। दया धर्म का मूल है। दया कहने से यहाँ करुणा तो ग्रहण होता ही है साथ ही धर्म का मूल होने से धार्मिक प्रवृत्ति भी ग्रहण की जाती है। धर्म में अनुरक्त व्यक्ति न्यायमार्ग से स्खलित नहीं होता, पाप कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता अतः वह धार्मिक हो। इस प्रकार ग्रंथकार ने वित्तमंत्री के लक्षणों का उल्लेख किया।

---

3. **अल्पायतिर्महाव्ययो भक्षयति राजार्थम्। -नी.वा.**
4. **आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनम्। -नी.वा.**

शिक्षामंत्री

सव्वमंतीसु विण्णाणी, विज्जत्थीणं हिदंकरो।
रदो सिक्खाइ वित्थारे, सिक्खामंती हु सो वरो॥99॥

अर्थ–सर्व मंत्रियों में विज्ञानी, विद्यार्थियों के लिए हितकारी, शिक्षा के विस्तार में रत है, वह ही शिक्षामंत्री श्रेष्ठ है।

A minister who is scholar among all the minister beneficent to students, indulged in the expansion of education, is an able Education Minister.

भावार्थ–शिक्षामंत्री सर्वमंत्रियों में विज्ञानी अर्थात् विशेष रूप से ज्ञानी हो। सर्व क्षेत्रों में बहुमुखी ज्ञान हो। प्रत्येक क्षेत्र का ज्ञाता अन्यों को तत्संबंधी ज्ञान देने में समर्थ होता है। एक प्रज्ज्वलित दीप कई बुझे दीपों को जलाने में समर्थ हो सकता है किंतु बहुत बुझे हुए दीप एक बुझे दीपक को जलाने में समर्थ नहीं। जो स्वयं शिक्षित हो, बहुमुखी ज्ञान से युक्त हो, विशेष ज्ञानी हो, ज्ञान की महत्ता को जानता हो वही सुशिक्षा का प्रचारक हो सकता है।

शिक्षामंत्री विद्यार्थियों का हित करने वाला हो। किस प्रकार विद्यार्थी सुशिक्षा को ग्रहण कर अपना जीवन गरिमामय बना सकते हैं, इसका विचार करने वाला हो। विद्यार्थियों की उन्नति किस प्रकार हो सकती है, जीवन सम्यक् मार्ग पर अग्रसर कैसे हो इस प्रकार उनके हित का विचार करने वाला हो। उनकी शिक्षा के लिए सुविधाएँ प्रदान करे, विद्यार्थियों के जीवन को समुन्नत बनाने में तत्पर हो। सर्व विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास की आकांक्षा रखता हो।

शिक्षामंत्री शिक्षा के विस्तार में कुशल हो। सम्यक् शिक्षा के प्रचार में संलग्न हो। विद्यालय, कॉलिजों की स्थापना करे जिससे समीचीन शिक्षा विद्यार्थी ग्रहण कर सकें। प्रत्येक नगर, शहर, गाँवों में विद्यालयों की स्थापना करे। देश का कोई भी नागरिक शिक्षा ग्रहण करने से न रह जाये, शत प्रतिशत साक्षर देश बने ऐसा प्रयास अहर्निश करे। वह साक्षरता चरित्र निर्माण, जीवन उत्थान में समर्थ हो।

सुशिक्षा ही महाप्राण

देसुण्णदी-विआसो य, विणा सिक्खमसंभवो।
सुसिक्खा हु महापाणो, सिक्खामंती विजाणदे॥100॥
सुपेरगो सुसत्थाणं, सयायारी किवा-णिही।
सम्मं सिक्खं सु-वड्ढेदुं, विज्जालयं हु ठावदे॥101॥

अर्थ–अच्छा शिक्षामंत्री जानता है कि सुशिक्षा के बिना किसी भी देश की उन्नति संभव नहीं है। सुशिक्षा ही महाप्राण है। शिक्षामंत्री शास्त्र व पुस्तकों का प्रेरक होता है, वह सदाचारी व दयानिधि होता है। शिक्षामंत्री अच्छी शिक्षा के वर्द्धन के लिए विद्यालयों की संस्थापना करता है।

Progress and development of the country is not feasible without good education. 'Good Education is life' It is well known by an education minister. Hence, motivator of good books, scriptures and education, virtuous and compassionate, an education minister establishes schools for the enhancement of good education.

भावार्थ–सम्यक् शिक्षा के बिना देश की उन्नति संभव नहीं है। देश की उन्नति उसके नागरिकों के विकास से ही हो सकती है। जिस प्रकार मात्र ईंट पत्थरों से बना मकान है, घर नहीं अर्थात् घर तब बनता है जब उसमें लोग हों, संपूर्ण परिवार हो उसी प्रकार मात्र एक बहुत बड़े क्षेत्र का नाम देश नहीं उसमें रहने वाले नागरिकों से ही देश बनता है अन्यथा अरण्य के समान है। देश के नागरिकों के आधार पर देश को विभिन्न संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। नागरिकों को समुन्नत बनाने हेतु समीचीन शिक्षा अत्यंतावश्यक है। सुशिक्षा व्यक्ति को सम्यक् आचरण, व्यवहार और विचार प्रदान करती है। उसमें नैतिक मूल्यों का विकास करती है। एक सम्यक् शिक्षा कई अपराधों को या अपराधियों को जन्म लेने से रोकती है। प्रेम, वात्सल्य, एकता, सदाचार आदि सब सम्यक् शिक्षा का ही परिणाम है।

सम्यक् शिक्षा मानव में मानवीय गुणों का उत्पादन करती है। आकृति के मानव को प्रकृति का मानव शिक्षा ही बनाती है। यह कर्त्तव्य-पालन का बोध देती है। विद्या निश्चय से कामधेनु समान विद्वानों के मनोरथ पूर्ण करने वाली है क्योंकि उससे उन्हें समस्त संसार में प्रतिष्ठा व कर्त्तव्य-बोध प्राप्त होता है।[1] सुशिक्षा अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करती है। लोक व्यवहार का ज्ञाता बनाती है। नई टेक्नोलॉजी, क्रियेटिविटि सब शिक्षा से प्राप्त होती है। धनार्जन की कला भी सम्यक् शिक्षा से

---

1. **विद्या कामदुधा धेनुर्विज्ञानं संप्रजायते। -नी.वी.**
यतस्तस्याः प्रभावेन पूज्याः स्युः सर्वतो दिशः॥ -शुक्र

प्राप्त होती है। यदि देश के नागरिक सदाचारी, नैतिकता-प्रेम-वात्सल्य-एकता से युक्त, अपराधों से मुक्त विकास के क्षेत्र में अग्रणीय, टेक्नोलॉजी आदि में दक्ष होंगे तो देश उन्नत होगा, विकसित होगा।

सुशिक्षा ही महाप्राण है। यदि शिक्षा जीवन में ग्रहण न की जाये तो मानव का जीवन पशु के समान हो जाता है। कहा भी है **''ज्ञानेन हीना पशुभिःसमाना''** ज्ञान से हीन मनुष्य पशु के समान होता है। मात्र ज्ञान व विवेक ही उनकी दिनचर्या में भेद करता है। अन्यथा बाकी कार्य तो पशु भी करते हैं। सुशिक्षा ही मानव में ज्ञान का नंदा दीप प्रज्ज्वलित करती है। जिससे वह स्वयं प्रकाशित होता हुआ संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है।

शिक्षामंत्री शास्त्र व पुस्तकों का प्रेरक होता है। कहा जाता है व्यक्ति की सबसे अच्छी मित्र अच्छी पुस्तकें होती हैं जो उसका सदा सम्यक् मार्ग निर्देशन करती हैं, उसका साथ देती हैं। एक बार एक निर्धन माँ ने अपने बेटे की खुशी के लिए बहुत कठिनाई से अर्जित धन से 2 पैसे दिये और कहा बेटा जाओ मेला घूम आओ और जो मिठाई अच्छी लगे लेकर खा लेना। बेटा प्रसन्नतापूर्वक मेले में गया और कुछ देर इधर-उधर घूमकर वापिस आ गया। माँ ने पूछा बेटा–मिठाई खा ली। बालक ने कहा–माँ मैंने मिठाई खा भी ली और आपके लिए भी लेकर आया हूँ। माँ बोली किंतु इतना धन तो मैंने दिया ही नहीं था। बालक बोला–माँ मैं मात्र आपके लिए ही नहीं लाया बल्कि जितने लोग चाहे खा सकते हैं और जब तक चाहे खा सकते हैं।

माँ ने पूछा ''ऐसी कौन सी मिठाई लाए हो बेटा, जो खराब भी नहीं होगी और खत्म भी नहीं!''। ''माँ! मैं एक अच्छी प्रेरणादायक पुस्तक लाया हूँ। सामान्य मिठाई तो केवल मुँह में मिठास घोलती है किंतु जो मिठाई यानि पुस्तक मैं लाया हूँ वह जीवन में मिठास घोलती है, जीवन को ही मीठा बना देती है।'' बेटे ने कहा।

शास्त्र और अच्छी पुस्तकें जीवन को नई ऊर्जा प्रदान करते हैं। वे संस्कारवान् बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अतः शिक्षा मंत्री का कर्त्तव्य भी है कि वह अच्छी पुस्तकों और शास्त्रों की प्रेरणा दे। शिक्षामंत्री सदाचारी तथा दयावान् होता है। शिक्षा जो आचरण, चरित्र प्रदान करती है उसका प्रबंध करने वाला भी सदाचारी ही होना चाहिए। जो स्वयं शिक्षित हो, जिसने शिक्षा को आचरण में उतारा हो वही शिक्षा की महत्ता, दुर्लभता को समझ सकता है और उसे जन-जन तक पहुँचाने का सम्यक् पुरुषार्थ कर सकता है। वह दया से पूरित हो। अहिंसा से देश को स्वतंत्रता प्रदान कराकर अहिंसा की शक्ति, उसका बल महात्मा गांधी ने संपूर्ण विश्व का दिखाया है।

करुणा, दया से पूरित मन अपराध मार्ग पर गतिमान् नहीं हो सकता। करुणावान् जब अनजान किसी भी व्यक्ति को सहयोग प्रदान करता है, मित्र की सहायता करता है तब माता-पिता की सेवा में भी वह अग्रणीय ही होगा। यदि प्रारंभ से बच्चों में शिक्षा के माध्यम से करुणा के भाव उत्पन्न

किए जायें तो देश में वृद्धाश्रम जैसे स्थानों की आवश्यकता ही नहीं होगी। शिक्षामंत्री यदि स्वयं करुणावान् होगा तो दया, अहिंसा की महत्ता समझ उसका संदेश भी विश्व में प्रसारित करेगा।

शिक्षामंत्री अच्छी शिक्षा के वर्द्धन के लिए विद्यालयों की स्थापना करे। ऐसे विद्यालय जो देश की, धर्म की संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन करने वाले हों। शिक्षा पद्धति के माध्यम से ही छोटे-छोटे बच्चों के मस्तिष्कों पर प्रारंभ से प्रभाव जमाया जा सकता है। अतः ऐसे विद्यालय जो बच्चों में चारित्र निर्माण करें, नैतिक मूल्यों को बढ़ायें, माता-पिता, देश या राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठता का बोध करायें, साथ ही स्वाभिमानपूर्वक जीवन जीने के लिए अर्थोपार्जन हेतु विद्या भी दी जाये। इसी से देश की संस्कृति व सभ्यता जीवंत रह सकती है। संस्कृति व सभ्यता के नष्ट होने पर देश परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ न जाये अतः इनके संरक्षण व संवर्द्धन हेतु अच्छी शिक्षा प्रणाली तैयार की जाये व ऐसी शिक्षाओं को प्रदान करने वाले विद्यालयों की स्थापना की जाये।

सुशासन से शांति

सुसासणेण पावंते, सुहं संति च सज्जणा।
मिट्ठ-अत्थाणि पावंति, जधा सया पिपीलिआ॥102॥

अर्थ–सुशासन से सज्जन पुरुष उसी प्रकार सुख और शांति को प्राप्त करते हैं जिस प्रकार चीटियाँ सदा मिष्ट वस्तुओं को प्राप्त करती हैं।

Just as ants always get sweets similarly gentlemen always get tranquility by good governance.

भावार्थ–राज करना या राज संचालन शासन कहा जाता है। देश में अनुशासन, सुख-शांति बनाए रखने के लिए शासन आवश्यक है। किंतु यह तभी संभव है जब शासक के साथ उनका शासन समीचीन हो। शासन के विषय में कहा गया है कि समाज की समस्याओं और मामलों के प्रबंधन के लिए राजनीतिक अधिकार और संस्थागत संसाधनों का इस्तेमाल किया जाना शासन है। जिसका मुख्य उद्देश्य प्रभावी नीतियों के माध्यम से राज्य में मैत्री का संचार करना, नागरिकों की सुरक्षा, देश की उन्नति व वहाँ सुख-शांति-समृद्धि की स्थापना है।

यदि अच्छे समीचीन शासन का नाम आता है सभी के मुख पर तो उसका एक पर्यायवाची रूप नाम आ जाता है 'रामराज्य'। अर्थात् श्री रामचंद्र जी के शासन में प्रजा अत्यंत सुखी व संतुष्ट थी। सभी आनंद के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। और इसका कारण था श्री राम की न्यायप्रियता, प्रजावत्सलता आदि। जब शासक प्रजा का पुत्रवत् पालन करता है, उनके व देश के विकास के लिए प्रभावशाली नीतियों का प्रतिपादन करता है, न्यायपूर्वक शासन करता है तब नि:संदेह देश में सुख-शांति की स्थापना करने में समर्थ होता है।

श्रेष्ठ शासक के द्वारा जब राज्य का न्यायनीतिपूर्वक संचालन किया जाता है तब उस राजा को भी सुख-शांति का अनुभव होता है वह स्वस्थ रहता है, प्रसन्नचित्त रहता है व चित्त पवित्र रहता है। जब देश का संचालन करते समय राजा अशांत, दु:खी, रोगी, व्याकुल चित्त है या अन्य प्रकार की दुष्चिंताओं में घिरा हुआ है तब वह अपने देश का सम्यक् संचालन करने में असमर्थ होता है। राजा न्यायप्रिय, प्रजावत्सल, धर्म भावना से संयुक्त, पराक्रमी एवं स्व राज्य का विस्तार करने की भावना से जब युक्त होता है और प्रजा की समृद्धि को ही अपने या देश की समृद्धि समझता है तब, प्रजा में कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है। क्योंकि वे सकारात्मक ऊर्जा से पूर्ण हो जाते हैं। राजा का व्यक्तित्व उनका एक आदर्श बन जाता है। सकारात्मक ऊर्जा से युक्त लघु प्रजा व सेना भी बड़ी प्रजा व सेना से अधिक कार्य कर लेती है।

सुयोग्य राजा के द्वारा राज्य का सुसंचालन शुभ नीति व रीति के अनुसार होता है। उसके माध्यम से राजा में भी सकारात्मक ऊर्जा का संचार होता है उसकी कार्यक्षमता, बौद्धिक क्षमता,

देशप्रेम, देशभक्ति व प्रजा के प्रति वात्सल्य आदि भाव वृद्धि को प्राप्त होता है। साम, दाम, दंड, भेद का उचित पालन करता है। प्रजा पर साम नीति का, लोभी शत्रु को दाम नीति से अपने आधीन करता है, देश द्रोही शत्रु में मिले मित्र के साथ दंडनीति का एवं अपने से सबल शत्रु के प्रति भेद नीति का प्रयोग कर उन्हें जीतने का प्रयास करता है। जो राजा स्थान, व्यक्ति, समयादि को देखकर सुनीति का प्रयोग करना जानता है वह ही श्रेष्ठ राजा कहलाता है। राजा के 6 अंग होते हैं। जो कोई शासक उनमें से एक अंग की भी उपेक्षा करता है तो वह राजा पंगु पुरुष के समान होता है जिसे चलने में कठिनाई का अनुभव होता है और दौड़ तो सकता ही नहीं। ऐसे ही जो राजा एक भी अंग की उपेक्षा करता है वह भविष्य में दुर्दिनों की तैयारी कर रहा है ऐसा मानना चाहिए।

सुसंचालन करने वाले शासक की प्रजा निश्चित रूप से सुख व शांति को प्राप्त करती है। सुख व शांति का आधार धर्म है। जहाँ शासक राज्य का समीचीन संचालन करता है स्वयं धर्मात्मा होता है तो वहाँ राज्य में शांति रहती है। गृहयुद्ध नहीं होते, गृहक्लेश, प्राकृतिक आपदाएँ, महामारी, दुर्भिक्ष, दुष्काल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि की समस्याएँ नहीं होती। राज्य में रहने वाले सभी लोग ज्ञानी वा अज्ञानी, धनी वा निर्धन, अल्प या अधिक परिश्रमी सभी राजा को अपना आदर्श मान करके जीते हैं। उनका जीवन संतोषी, उत्साहयुक्त व राजा के प्रति पूर्ण समर्पित होता है। राजा उल्लास, उत्साह, उमंगादि से युक्त होता है और प्रजा भी। यही उत्साह प्रजा की कार्यक्षमता को और अधिक बढ़ा देता है जो देशोन्नति का कारण है। अधिक कार्य करने के पश्चात् भी प्रजा में असंतोषादि की भावना नहीं होती अपितु आनंद आदि की वृद्धि होती है।

जो श्रेष्ठ, सम्यक् योग्य राजा अपनी प्रजा का पालन करने में समर्थ होता है तो उस राजा की प्रजा श्रेष्ठ व आदर्श प्रजा मानी जाती है। यहाँ उदाहरण दिया चींटी का। चींटी तीन इंद्रिय जीव है। अपनी घ्राणेन्द्रिय के माध्यम से वह मिष्ट वस्तुओं को सूंघने में समर्थ होती है और वह निरंतर गतिशील होती है। एक चींटी दूसरी चींटी के लिए मार्ग प्रदर्शक होती है। चींटी श्रमयुक्त होती है अनेक बार दीवार से गिरने पर भी वह हिम्मत नहीं हारती और मंजिल प्राप्त कर ही लेती है।

नमक के डिब्बे पर शक्कर लिखकर चींटी को धोखा नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसे अपनी घ्राणेन्द्रिय पर विश्वास है। जैसे चींटी अपनी घ्राणेन्द्रिय के सहारे उस विश्वास से मिष्ट वस्तुओं तक पहुँच जाती है ऐसे ही प्रजा को श्रेष्ठ शासक पर विश्वास होता है कि हमारा राजा हमारे हित में कार्य करेगा। राजा स्वयं कष्टों का सामना करता है, त्याग करता है किन्तु प्रजा को हर कष्ट से बचाने का प्रयास करता है। चींटी अपने विश्वास व श्रम से मिष्ट पदार्थों को प्राप्त कर ही लेती है उसी प्रकार प्रजा अपने राजा के निर्देश, आदेश, संकेत का पालन करती हुई वृद्धि, समृद्धि को प्राप्त होती है, एक दूसरे के प्रति उपकार की भावनाओं से युक्त होती है। तब नि:संदेह उस राज्य के सभी निवासी राजा व प्रजा सुख शांति का अनुभव करते हैं।

अनुशासन से उन्नति

पदयो उड्डदे सुण्णे, सुत्त-णियंतणेण हु।
पयाणुसासणेणं च, तहा य सिस्स-सज्जणा॥103॥

अर्थ–जिस प्रकार रस्सी (मंजे) के नियंत्रण में पतंग आकाश में ऊपर उड़ती है उसी प्रकार अनुशासन से सज्जन विद्यार्थी व प्रजा उन्नति को प्राप्त होते हैं।

Just as the kite flies in the sky only by the control of (***manja***) thread, similarly disciples, gentlemen, and subjects attain progress through discipline.

भावार्थ–किसी कार्य को सही समय पर, सही तरीके से नियम-कायदों के साथ करना अनुशासन है। अनुशासन अनु + शासन अर्थात् अपने ऊपर शासन करना। यह अनुशासन ही सफलता की कुंजी है। अनुशासन जीवन के हर क्षेत्र में आवश्यक है, प्रत्येक क्रिया-कलाप में आवश्यक है। अनुशासनहीन व्यक्ति का जीवन कटी हुई पतंग के समान होता है जिसका पतन अवश्यंभावी है। अनुशासन केवल विद्यार्थी के लिए नहीं अपितु प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह व्यापारी है, चाहे किसी भी क्षेत्र में कार्यरत और चाहे सामान्य नागरिक सभी के लिए अति आवश्यक है।

प्रत्येक क्रिया में अनुशासन हो। सर्वप्रथम **आहारानुशासन** अर्थात् आहार पर अनुशासन। कहा जाता है

''जैसा खाओ अन्न, वैसा होए मन।
जैसा पीओ पानी, वैसी होए वाणी॥''

इसके अनुसार सात्विक आहार ग्रहण करना। सात्विक भोजन से मन के विचार सात्विक बने रहते हैं। भक्ष्य पदार्थों का ही सेवन करना चाहिये। अभक्ष्य पदार्थ मानव की प्रकृति के एकदम विपरीत हैं अतः वे त्याज्य हैं। व्यक्ति के द्वारा ग्रहण किए गए भोजन का प्रभाव उसके मन व मस्तिष्क पर पड़ता है अतः उसे अनुशासित रखें।

श्वाँसोनुशासन अर्थात् श्वाँस पर अनुशासन रखना। व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए धीमी-धीमी श्वाँस लेना योग्य है। जितनी धीमी श्वाँस लेता है उतना शांति का अनुभव करता है। क्रोध करते हुए आराम-आराम से श्वाँस बहुत तेज हो जाती है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है जब क्रोध आए तब शरीर ढीला छोड़कर धीमी-धीमी श्वाँस लें वह अपने आप नियंत्रित हो जायेगा।

इन्द्रियानुशासन अर्थात् इंद्रियों पर अनुशासन रखना। जैसा चक्षुओं ने देखना चाहा वैसा ही दिखा दिया चाहे वह स्वयं के लिए अनुकूल हो, अच्छा हो अथवा नहीं। इसी प्रकार पाँचों इंद्रियों की आज्ञा में रहकर मानव अपना जीवन नष्ट कर लेता है। व्यक्ति की उन्नति में सहायता हेतु पाँचों

इन्द्रियों को नियंत्रण करना उचित है। नियंत्रण में रहने वाला गुलाम और नियंत्रण रखने वाला अनुशासक कहलाता है।

व्यवहारानुशासन अर्थात् व्यवहार पर अनुशासन करना। जब व्यक्ति एक-दूसरे से मिलते हैं तो वह उसके वस्त्रादि याद रखे या नहीं किंतु उसका व्यवहार कभी नहीं भूलता। प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपने व्यवहार को नहीं बिगड़ने देना व्यवहारानुशासन है।

भाषानुशासन अर्थात् भाषा पर अनुशासन करना। बंदूक से निकली गोली और मुँह से निकली बोली वापिस नहीं होती। बंदूक का घाव तो भर सकता है किंतु वाणी का घाव आसानी से नहीं भरता। अतः बोलने से पहले तोल लें। सोच-समझकर बातचीत करें। मुँह से अच्छे शब्दों को ही बोलना, गरिमामय, शालीन शब्दों का प्रयोग करना हित-मित-प्रिय बोलना भाषानुशासन है। भाषा पर अनुशासन करने वाले को बाद में पछताना नहीं पड़ता।

पुनः **मनोनुशासन** अर्थात् मन पर अनुशासन करना। अच्छे विचारों को स्थान देना अन्यथा चिंतन नहीं करना। इस प्रकार ये सभी अनुशासन व्यक्ति के जीवन में होने चाहियें। प्रत्येक कार्य को समय पर करना ही योग्य है। जो व्यक्ति समय की कीमत करते हैं, समय उनकी कीमत करता है। बीता हुआ समय लौटकर कभी वापिस नहीं आता अतः प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करें। करोड़ों मुहरें खर्च करने पर भी आयु का एक क्षण प्राप्त नहीं हो सकता इसीलिए उस क्षण को यदि मनुष्य ने व्यर्थ खो दिया तो इससे बढ़कर और क्या हानि हो सकती है?[1] अतः समय का मूल्य समझ एक क्षण को भी बिना व्यर्थ किए उसका सदुपयोग करें। जिस प्रकार फल लगने पर अनार आदि के वृक्षों में से उनके पुष्प तोड़ने की अभिलाषा करना व्यर्थ है, उसी प्रकार समय चूकने पर कार्य करने से सफलता प्राप्त नहीं होती।[2] युक्त समय पर कार्य करना अनुशासन ही है।

जिस प्रकार पतंग जब तक डोर से बंधी है तब तक आकाश में उड़ रही है। कभी खींचना भी पड़ता है कभी ढील भी देनी पड़ती है। परंतु डोर से बंधा बंधन ही उसकी उन्नति का कारण है। इसी प्रकार अनुशासन जब तक सज्जन पुरुषों, विद्यार्थियों या प्रजा के जीवन में है तब उन्नति का मार्ग उन्मुक्त है। किंतु यदि बंधन समझ इसे तोड़ दिया तो जिस प्रकार पतंग बंधन समझ डोर से अलग हो कुछ क्षणों बाद गिर जाती है उसी प्रकार अनुशासन के भंग करने वालों का मार्ग मात्र पतन की ओर जाता है। अतः जीवन में उन्नति के लिए प्रत्येक क्रिया, चर्या, स्थानादि पर अनुशासन रखें, यही सफलता का बीज है।

---

1. **आयुषः क्षण-एकोऽपि, न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः।**
   स चेन्निरर्थको, नीतः, का नु हानिस्ततोऽधिका॥
2. **य ह्यकालकृता वाञ्छा, संपुष्णाति समीहितं।**
   किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते॥1 लं॥ –क्ष. चू.

जीव का धार्मिक स्वरूप

श्रेष्ठ श्रावक

णिट्ठो णाणी विवेगी य, हेयुपादेय-जाणगो।
सावयो हु वरो मण्णे, कज्जाकज्ज-वियारगो॥104॥
रदो पूयाइ-कम्मेसुं, णायेण धणज्जगो।
पंचाणुव्वद-संजुत्तो, सत्त-सीलस्स पालगो॥105॥

अर्थ–निष्ठावान्, ज्ञानी, विवेकी, हेयोपादेय को जानने वाला, कार्य-अकार्य का विचारक, पूजादि कर्मों में रत, न्याय से धनोपार्जन करने वाला, पंचाणुव्रत से संयुक्त और सप्त शीलव्रत का पालन करने वाला श्रेष्ठ श्रावक माना जाता है।

A householder who is venerator, learned, discriminating, knows what to renounce and what to accept, thinker of action and non-action, indulged in worship and other good deeds, who earns wealth with justice, endowed with five atom vows (***anuvrata***) and observer of seven ***sheel vrats*** is considered a great layman.

भावार्थ–**''शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः''** जो श्रद्धापूर्वक गुरु आदि से धर्म श्रवण करता है वह श्रावक है। अथवा पंच परमेष्ठी का भक्त, प्रधानता से दान-पूजन करने वाला, भेद ज्ञान रूपी अमृत को पीने का इच्छुक तथा मूलगुण व उत्तरगुणों को पालन करने वाला व्यक्ति श्रावक कहलाता है।[1] यहाँ श्रावक का स्वरूप बताते हुए ग्रंथकार ने सर्वप्रथम निष्ठा को कहा। निष्ठा का अर्थ सम्यक् दर्शन, श्रद्धा, आस्था से है। 'श्रावक' का प्रथम अक्षर 'श्र' भी श्रद्धा को इंगित करता है। जिस प्रकार बिना मूल के वृक्ष की स्थिति संभव नहीं है उसी प्रकार श्रद्धान के बिना सद्धर्म की स्थिति संभव नहीं।

जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो व्यक्ति मिथ्यात्व से ग्रसित है उसे सम्यक् फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। सम्यक् श्रद्धान के साथ ही सम्यक् फल संभव है। आस्था, निष्ठा ही धर्म का प्राण है, सम्यक् श्रद्धा ही धर्म की प्राणवायु है, सम्यक्त्व ही धर्म की चेतना का आधार है और जब तक अंतरंग में समीचीन समर्पण श्रद्धा नहीं है तब तक धर्म का रसास्वादन नहीं किया जा सकता है। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि 'श्रद्धा' के बिना धर्म को गाया तो जा सकता है किंतु पाया नहीं जा सकता।'

---

1. **मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पंचगुरुपदशरण्यः।**
   दानयजन प्रधानो, ज्ञान सुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्॥ सा. ध.

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने अष्टपाहुड़ में कहा है **'दंसण मूलो धम्मो'** यदि धर्म की जड़ या मूल है तो वह सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार बिना नींव के भवन नहीं ठहर सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-श्रद्धा-आस्था-विश्वास रूपी नींव के बिना धर्म नहीं ठहर सकता जब जड़ ही नहीं होगी तो वहाँ धर्म कैसे संभव होगा अत: ग्रंथकार ने सर्वप्रथम निष्ठा को कहा।

तत्पश्चात् ज्ञान व विवेक कहा। श्रद्धान के सम्यक् होते ही जीव का ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। जब श्रद्धा सम्यक् नहीं होती तब तक ज्ञान भी मिथ्या ही रहता है। सम्यक्दर्शन व सम्यग्ज्ञान अविनाभावी हैं। न्यूनता रहित, अधिकता, विपरीतता व संदेह से रहित वस्तु स्वरूप के यथार्थ जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[2]

सम्यग्ज्ञान रूपी अस्त्र के द्वारा ही जीव मोहनीय कर्म का हनन करने में समर्थ हो सकता है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होते ही जीव का पापादि रूप तम तिरोहित होने लगता है।

महावत के अंकुश का संकेत न मानने वाला उद्दण्ड, मदोन्मत्त हाथी जिस प्रकार प्राण के ग्राहक शत्रुओं की सेना में घुसकर सहसा ही अपने ऊपर बैठे योद्धा के साथ व्यर्थ प्राण गँवाता है उसी प्रकार ज्ञान रूपी अंकुश से हीन चित्त वाला जीव व्यर्थ ही जन्म-मरण के दु:खों को भरता है।[3] दु:खों से मुक्ति पाने का उपाय ज्ञान है। जैसे टॉर्च का प्रकाश व्यक्ति के गमन में सहायक है वैसे ही ज्ञान का प्रकाश सुख का कारण भी है।

जिस प्रकार बिना प्रकाश के गहन अंधकार में यात्रा संभव नहीं उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश के बिना अज्ञान अंधकार में परमार्थ यात्रा संभव नहीं। समीचीन क्रियाओं के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। बिना ज्ञान के श्रावक सत्य से परिचित नहीं हो सकता, अत: ग्रंथकार ने सम्यग्ज्ञान को लिया।

पुन: कहा विवेक। 'ज्ञान' और 'विवेक' ये दो शब्द ऐसे हैं जो ऊपर से देखने पर समान अर्थ वाले प्रतीत होते हैं, किसी स्थूल अपेक्षा से इन्हें समानार्थक कहा भी जा सकता है, परंतु सूक्ष्मता से देखा जाये तो वस्तुत: ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'ज्ञान' शब्द 'ज्ञा' धातु से बना है जिसका अर्थ है–'जानना' किन्तु 'विवेक' शब्द 'विच्' धातु से बना है, जिसका अर्थ पृथक् भाव होता है, भेद करना होता है; **विभजनं विवेक:**। **'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं'** किंतु

---

2. **अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।**
नि:संदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन:। 1/42॥ र. श्रा.

3. **निरंकुशो मत्त इव द्विपेन्द्रो,**
यथा प्रविश्य प्रतिशत्रुसेनाम्।
नेत्रा सहैवाशु विनाशमेति,
जीवस्तथा ज्ञानविहीनचेता:॥3/57॥ –वरांग चरित्र

'विविच्यतेऽनेनेति विवेकः'। अर्थात् ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, परंतु विवेक का कार्य मात्र जानना नहीं है अपितु अच्छे-बुरे, सही-गलत में भेद करना है।

'विविनक्ति सत्यासत्यं यथार्थायथार्थ कार्याकार्यं ग्राह्याग्राह्यमिति वा विवेकः' अर्थात् जो सत्य और असत्य, यथार्थ और अयथार्थ, कार्य और अकार्य अथवा ग्राह्य और अग्राह्य का भेद बताता है वही विवेक है।

'श्रावक' शब्द में दूसरा अक्षर आता है 'व' जिसका अर्थ है विवेकवान्। श्रावक किस कार्य को किस प्रकार से करे, क्या खाये, क्या पिये, कैसे चैले, कैसे सोये, किसकी व कैसे अर्चना करे यह सब विवेक के अंतर्गत आता है। ग्रंथकार ने स्वयं इसका विशद वर्णन अपने ग्रंथ **'विद्या वसुश्रावकाचार'** में किया है।

पुनः कहा श्रावक हेय-उपादेय को जानने वाला हो। जो वस्तु, क्रिया, शब्द या परिणाम श्रावक के योग्य न हों और जो कुछ ग्रहण करने योग्य हो उन सबका श्रावक को परिज्ञान होना चाहिए, श्रावक इन सभी को जानता हो। इनको जानकर ही वह शुभ वा पुण्य को ग्रहण कर पाएगा और अशुभ वा पाप को छोड़ पाएगा। क्योंकि छोड़ने व ग्रहण करने से पूर्व इसका ज्ञान जरूरी है कि क्या ग्रहण करने योग्य है, उपादेय है अथवा क्या छोड़ने योग्य है, हेय है तभी हित में प्रवृति संभव है।

श्रावक कार्याकार्य का विचारक हो। कब कौन सा कार्य करना चाहिए, कौन सा कार्य उचित वा अनुचित है। सब सोच-समझकर ही कार्य करना श्रावक का लक्षण है। जिस कार्य से पुण्यास्रव हो वह तो करने योग्य है पापवर्द्धक कार्यों का तो बुद्धिमानों के द्वारा त्याग किया ही जाना चाहिए। 'श्रावक' शब्द में तीसरा अक्षर है 'क' अर्थात् क्रियावान्। निष्ठा व विवेक के साथ श्रावक क्रिया करता है। क्रियाओं को करने से पूर्व उचित-अनुचित का विचार करने वाला यथार्थ में श्रेष्ठ श्रावक है। जो महाविनय से संपन्न तथा कार्य व अकार्य के विचार में निपुण है वे धर्म के समागम से गृहस्थों में प्रधान होते हैं।[4]

वह सदा पूजा आदि कार्यों में रत रहता है। यहाँ 'आदि' से तात्पर्य श्रावक के सभी आवश्यक कर्त्तव्यों से है। जैसे दान, उपवास, स्वाध्याय, गुरोपासना, तीर्थयात्रा, जाप आदि। श्रेष्ठ श्रावक की दिन चर्या में ये सभी उसी प्रकार सम्मिलित रहते हैं जिस प्रकार सामान्य मानवों की दिनचर्या में भोजन। श्रेष्ठ श्रावक इन सभी का निष्ठा से पालन करता है। प्रथमानुयोग में कई उदाहरण हैं जहाँ श्रावक श्रेष्ठी अपने दिन का प्रारंभ जिनाभिषेक, पूजनादि से करते हैं। भरत चक्रवर्ती के लिए भी आता है कि वे अभिषेक-पूजन कर, मुनियों को आहार दानादि देकर ही भोजन ग्रहण करते थे।

---

4. **महाविनयसंपन्नाः कृत्याकृत्यविचक्षणाः।**
जनाः गृहाश्रमस्थानां प्रधाना धर्मसंगमात्॥215॥ –पद्मपुराण

कहा भी है जो श्रावक प्रतिदिन तीनों कालों में जिनेंद्र अर्चना, चतुर्विध संघ का सम्मान, स्वाध्याय, गुरुसेवा, दान, शक्त्यानुसार व्रतोपवासादि करता है वही श्रेष्ठ श्रावक है।[5] एक सुधी श्रावक सांसरिक कार्यों में वा संसारवर्द्धक कार्यों में संभव है प्रमादी हो भी जाए, किंतु धार्मिक कार्यों में सदैव संलग्न रहता है।

श्रावक न्यायपूर्वक धनार्जन करता है। अन्याय मार्ग का आश्रय वह कभी नहीं लेता। धनार्जन के साधन भी पवित्र होते हैं, उद्देश्य भी पवित्र होता है और लोभ से अतिदूरी पर होता है। रायचंद्र जी, गोपालदास बरैया, साहू श्री नेमिचंद्र आदि अनेक श्रावकों ने न्याय से ही धनार्जन किया और उस धन का कभी दुरुपयोग भी नहीं किया। इस कॉम्पिटीशन के युग में भी आज कई ऐसे श्रावक हैं जो दोपहर की सामायिक के बाद दुकान पर जाते हैं और संध्या की सामायिक के समय लौटकर वापिस आ जाते हैं। जिनके न्यायपूर्वक व्यापार से प्रसन्न ग्राहक पंक्तिबद्ध वहाँ खड़े होते हैं और उनकी ईमानदारी व न्याय से प्रभावित हो उनकी प्रशंसा करते हैं। श्रावक जानता है कि अन्यायपूर्वक धनार्जन से पाप तो वृद्धिंगत होता ही है साथ ही वह फलता भी नहीं एवं ऐसा उचित भी नहीं अतः हेय जानकर वह इसका सर्वथा त्याग कर देता है।

श्रावक पाँच अणुव्रतों व सात शील व्रतों से संयुक्त होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार संतोष व परिग्रह-परिमाण ये 5 अणुव्रत कहे जाते हैं, इनका विस्तार से वर्णन आगे करेंगे। 3 गुणव्रत व 4 शिक्षाव्रत ये सात शीलव्रत कहे जाते हैं।[6] जो अणुव्रतों व मूलगणों की रक्षा करते हैं, उनके गुणों को वृद्धिंगत करते हैं वे गुणव्रत कहलाते हैं। दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगोपभोगपरिमाण के भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं।[7] जीवन पर्यंत सूक्ष्म पापों से बचने के लिए दसों दिशाओं (नदी, जंगल, पर्वत, देश, योजनादि) का परिणाम करके ''इतने क्षेत्र से बाहर मैं नहीं जाऊँगा इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है।''[8]

---

5. **त्रैकाल्ये जिनपूजनं प्रतिदिनं संघस्य सम्माननं,**
   स्वाध्यायं-गुरुसेवनं प्रतिदिनं दानं तथावश्यकं।
   निजशक्त्या व्रतपालनं वर तपो ज्ञानस्य पाठस्तथा,
   एषाः श्रावकपुंगवो सुकथितो धर्मो जिनेन्द्रागमे॥
6. **गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते।**
7. **दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।**
   अनृवृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥67॥ र. श्रा.
8. **दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्नयास्यामि।**
   इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै॥68॥ र. श्रा.

दिशाओं की अवधि के वा मर्यादा के भीतर भी प्रयोजन रहित पापबंध के कारणभूत कार्यों से विरक्त होना अनर्थदंडव्रत है।[9] अर्थात् जिन कार्यों को करने का कोई कारण, उद्देश्य न हो और वे पापबंध में कारणभूत हैं ऐसे कार्यों से विरक्त होना अनर्थदंडव्रत है। पापोपदेश अर्थात् किसी को व्यापार आदि में हिंसादि संबंधित बात कहना वा परामर्श देना, हिंसादान अर्थात् हिंसा के उपकरण बंदूकादि का व्यापार करना, देना या लेना, अपध्यान अर्थात् किसी के विषय में खोटा चिंतन, दुःश्रुती अर्थात् चित्त को गर्व, काम-वासना, क्रोध आदि से क्लेशित करने वाले शास्त्रों को सुनना, प्रमादचर्या अर्थात् पृथ्वी खोदना, जल बहाना, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि को व्यर्थ में खराब करना या व्यर्थ के कार्य ये पाँच प्रकार के अनर्थदंड हैं इन सबका त्याग करना द्वितीय अनर्थदंडविरति गुणव्रत है।

रागभाव के उद्रेक से होने वाली विषयासक्ति को कम करने के लिए दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर भी प्रयोजनभूत इंद्रियों के विषयों का परिमाण या मर्यादा या गिनती कर लेना भोगोपभोग-परिमाणव्रत है।[10] वस्तु एक बार भोगने में आए वह भोग जैसे भोजनादि और जो वस्तु बार-बार भोगने में आए वह उपभोग जैसे–वस्त्रादि कहलाते हैं। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत कहे जाते हैं।

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य ये चार शिक्षाव्रत कहे गए हैं।[11] दिग्व्रत में धारण किए गए विशाल देश का दिन-रात-मास-वर्ष आदि काल की मर्यादा से प्रतिदिन त्याग करना देशावकाशिक नामक व्रत होता है।[12] देश में भी कम से कम क्षेत्र की मर्यादा करना जैसे आज अमुक नगर कॉलोनी या गली तक जाना है या घर में ही रहना है ऐसी मर्यादा करना देशावकाशिक व्रत है। संपूर्ण मर्यादा के अंदर और बाहर के क्षेत्रों में पाँचों पापों के त्याग करने को सामायिक कहते हैं।[13]

पर्व चतुर्दशी व अष्टमी के दिनों में अन्न-खाद्य-लेह्य-पेय चारों प्रकार के भोजन का त्याग करना तथा पर्व के अतिरिक्त अन्य दिनों में भी अपनी इच्छानुसार व्रत-विधान के उद्देश्य से चारों

---

9. **अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।**
विरमणमनर्थदंडव्रतं च विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥74॥ र. श्रा.
10. **अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।**
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥82॥ –र. श्रा.
11. **देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।**
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥91॥ –र. श्रा.
12. **देशावकाशिकं स्यात्काल परिच्छेदनेन देशस्य।**
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य॥92॥ –र. श्रा.
13. **आसमयमुक्तिमुक्तं पंचाघानामशेषभावेन।**
सर्वत्र च सामायिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥97॥ –र. श्रा.

प्रकार के भोजनों का त्याग करना प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है।[14] गुणों में अनुराग से संयमी जीवों के खेद को दूर करना, पाद मर्दनादि करना और भी जितना अन्य उपकार है सभी वैय्यावृत्य है।[15] इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत हैं। श्रावक इनका निष्ठा से पालन कर सातिशय पुण्य का बंध करता है।

कहा भी है यही मनुष्य पर्याय यदि अहिंसा, सत्य आदि व्रतों को धारण कर सकी और सामायिक आदि शीलव्रतों से संपन्न हुई तो तिर्यंचगति और कुमानुष योनि की सभी विपत्तियों को समूल नष्ट कर देती है और तो कहना ही क्या नरक गति के अपरिमित अनन्त दु:खों का विध्वंस करके वह क्रमश: मोक्षमहापद की ही प्राप्ति करा देती है।[16] इस प्रकार इन गुणों से युक्त और व्रतों का पालन करने वाला श्रेष्ठ श्रावक है जो इनके पुण्यफल स्वरूप स्वर्गादि भोग भोगकर पुन: निर्वाण प्राप्त करते हैं।

---

14. **पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्य: प्रोषधोपवासस्तु।**
चतुरभ्यवहार्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभि:।।106।। –र. श्रा.
15. **व्यापत्तिव्यपनोद: पदयो: संवाहनं च गुणरागात्।**
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोन्योऽपि संयमिनाम्।।112।। –र. श्रा.
16. **मनुष्यजातिर्व्रतशीलयुक्ता, तिर्यंङ्नराणामशुभं निहन्ति।**
दु:खान्यमेयानि च नारकाणा-मुन्मूल्य सिद्धिं नयति क्रमेण।।8/13।। –व. च.

सप्त व्यसन त्याग

उज्झेज्ज पावकम्माणि, सत्ताणि वसणाणि हु।
सव्व-दुक्खाण बीयाणि, दारं दोत्थस्स सव्व्दा॥106॥

अर्थ–पाप कर्म और सप्त व्यसनों को छोड़ना चाहिए। वे सर्वदा सब दु:खों के बीज हैं व दुर्गति का द्वार हैं।

Sinful acts and Seven addictions should be abandoned. They are always the seeds of all miseries and the door of abjection.

भावार्थ–व्यसन का अर्थ है–आदत। किंतु वर्तमान में व्यसन शब्द बुरी आदतों को लिए प्रसिद्ध है। पापों की जनक, सदाचार, धर्म व सुसंस्कारों की नाशक, दु:खोत्पादक, सुख विध्वंसक बुरी आदतें व्यसन कहलाती हैं। जुआ, माँस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी व परस्त्री ये सात व्यसन कहलाते हैं तथा ये सात व्यसन निश्चय से सात नरकों को देने वाले हैं।[1] इन व्यसनों का आश्रय लेने वालों के लिए सुगति के द्वार सदैव अर्गला युक्त हैं अर्थात् बंद हैं और उनका सेवन करने वाले दुर्गति वा नरक में प्रवेश के लिए पुरुषार्थरत हैं।

जिस क्रिया में गोट, पासा आदि रखकर धन से हार-जीत होती है वह सब जुआ माना गया है। पैसों की बाजी लगाकर जितने भी खेल खेले जाते हैं वह सब **जुआ** है। त्रस कलेवर, अंडादि का भक्षण **माँस सेवन** है। सड़े गले फल, अनाज, महवा, गुड़ आदि से बना, असंख्यात त्रस जीव राशि का निचोड़ा रस आसव या शराब का सेवन **मद्यपान** है। लोभयुक्त व्यभिचारिणी स्त्रियों (वेश्याओं) के साथ संबंध रखना **वेश्या सेवन** है। मनोरंजन आदि के लिए मूक पशुओं का वध करना **शिकार व्यसन** है। वस्तु के मालिक की अनुमति के बिना किसी की पड़ी हुई, भूली हुई, रखी हुई वस्तु को छिपकरके ग्रहण करना **चोरी** है। स्वकीय परिणीता स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री के साथ संबंध रखना **परस्त्री सेवन** है।

ये सातों ही व्यसन दु:ख, पीड़ा, क्लेश आदि का कारण हैं। व्यसनों से व्यक्ति की बुद्धि, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा, निष्ठा, धर्म आदि सब नष्ट हो जाता है। व्यसनी व्यक्ति इस लोक में तो दु:खों को भोगता है परभव में भी दु:ख के गर्त में जा गिरता है। व्यसनी का संसार परिभ्रमण निरंतर चलता रहता है। रोग, चिंता, दु:ख, निद्रा, मान व धर्म हानि आदि व्यसनी के मित्र बन जाते हैं। यहाँ घोर दु:खों को भोगने के पश्चात् अत्यंत घोर कष्टों को भोगने के लिए नरक में जा पड़ता है। अत:

---

1. **द्यूतमांससुरावेश्या खेटचौर्यपरांगना:।**
सप्तैव व्यसनानि स्यु: सप्तश्वभ्रप्रदानि वै॥

ग्रंथकार यहाँ व्यक्ति को दु:खों व दुर्गति से बचाने के लिए कहते हैं कि व्यक्ति पाप व व्यसनों से सदा दूर रहे।

हिंसा (प्राणियों को सताना, मारना, वध करना), झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाप कार्यों का परित्याग करें। क्योंकि ये पाप दु:खकूप में ले जाकर व्यक्ति को पटक देते हैं। पाप को तो दु:ख ही कहा गया है **'दु:खमेव वा'** अर्थात् पाप कर्म करने वाला व्यक्ति स्वयं दु:खों को आमंत्रण दे रहा है। यदि खेत में गेहूँ की फसल चाहते हैं तो बीज गेहूँ के ही डालने होंगे। बीज डालते समय तो कंटीली झाड़ियाँ आदि वृक्षों के बीज बो दिये और बाद में इन्हें देखकर पछतायें तो कोई लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार सुखांकाक्षियों को पुण्य कर्म रूपी बीज ही बोने चाहिए।

जब एक-एक व्यसन से ही व्यक्तियों पर कष्ट आ पड़ते हैं, वह दु:ख रूपी जाल में फंसकर नष्ट हो जाते हैं तब सप्त व्यसनी की क्या कथा? जुआ से युधिष्ठिर, माँस से बक, मदिरा से यादव, वेश्या से चारूदत्त, चोरी से श्रीभूति, शिकार से ब्रह्मदत्त और परस्त्री के राग से रावण नष्ट हुआ है ऐसा जानकर भयंकर पाप के कारणभूत जुआदि व्यसनों का त्याग करना चाहिए।[2]

जिस प्रकार जल के स्रोत से जल उत्पन्न होता है उसी प्रकार इन व्यसनों से दु:ख उत्पन्न होता है और जिस प्रकार वायु से धूलि उड़ जाती है उसी प्रकार व्यसनों से व्रत नष्ट हो जाते हैं।[3] अत: पाप व व्यसन बुद्धिमानों के द्वारा सर्वदा त्याज्य हैं।

---

2. **द्यूतेन पांडवा नष्टा नष्टो मांसाशनाद् बकः।**
   मद्येन यादवा नष्टा चारूदत्तश्च वेश्यया।।
   चौर्याच्छ्री भूतिराखेटाद् ब्रह्मदत्तः परस्त्रियाः।
   रागतो रावणो नष्टो मत्वेत्येतानि संत्यजेत्।।
3. **दु:खानि तेन जन्यन्ते जलानीवाम्बुवाहिना।**
   व्रतानि तेन धूयन्ते रजांसि मरुता तथा।

पाँच अणुव्रत

अहिंसा सच्चमत्थेयं, सदार-तोसणुव्वदं।
परिमाणं च संगस्स, पंचव्वदाणि जाणह॥107॥

अर्थ–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, स्वदार संतोष व परिग्रह परिमाण ये पाँच अणुव्रत जानने चाहिए।

Non-violenece, truth, non-stealing, chastity (satisfied in own spouse) and to fix the size of acquisition, these are five atom vows (***anuvrata***).

भावार्थ–हिंसादि पापों की एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत कहते हैं। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी अणुव्रत को परिभाषित करते हुए कहते हैं स्थूल रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, काम (कुशील) और मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह इन पाँच पापों से विरक्त होना अणुव्रत है।[1]

अहिंसा अणुव्रत–मन, वचन और काय इन तीनों योगों से एवं कृत-कारित-अनुमोदना रूप संकल्प से जो त्रस जीवों को नहीं मारता है, उसको अहिंसा अणुव्रत कहा जाता है।[2] अहिंसा अणुव्रत को पालन करने वाला दयालु गृहस्थ गृह आदि कार्यों को विवेकपूर्वक, त्रस (दो इंद्रिय से पंचेंद्रिय तक) जीवों की रक्षा करता हुआ संपादित करता है। झाड़ू आदि लगाते हुए, सफाई करते, भोजन पकाते या अन्य सभी कार्यों में जागरूक रहता हुआ, जीवों की रक्षा करते हुए प्रयत्नपूर्वक उन्हें पूर्ण करता है। हिंसा 4 प्रकार की होती है–**संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी।** इनमें से वह संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। स्वाद, श्रृंगार सजने-सजाने आदि के लिए उन मैमोज, पेस्ट्री, मैगी, कॉस्मैंटिक्स, चमड़ा, शैंपू आदि वस्तुओं का प्रयोग नहीं करता जिसके निर्माण में बाहुलता से जीव घात हुआ हो। त्रस जीवों का कलेवर, रक्तादि उनमें प्रयुक्त हो। त्रस जीवों की रक्षा हेतु रात्रि भोजन का त्यागी होता है,सदैव जल छानकर ही प्रयोग करता है। अहिंसाणुव्रती के विषय में कहा गया है कि वह आरंभ के अतिरिक्त अन्य कार्यों में होने वाली हिंसा को छोड़े और कृषि आदि आरंभों में होने वाली हिंसा से व्यर्थ ही स्थावर हिंसा की तरह यथाशक्ति बचने का प्रयत्न करे।[3]

सत्याणुव्रत–स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलना और न दूसरों से बुलवाना तथा ऐसा सत्य भी नहीं बोलना जो अपने या दूसरों के लिए विपत्ति का कारण हो, सत्याणुव्रत कहलाता है।[4] दूसरों को कष्ट

---

1. **प्राणातिपातवितथ व्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः।**
   स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥52॥ –र. श्रा.
2. **संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्यचरसत्वान्।**
   न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद् विरमणं निपुणाः॥53॥ –र. श्रा.
3. **इत्यनारम्भजां जह्याद् हिंसामारम्भजां प्रति।**
   व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद गृही॥10॥ –सा. ध.
4. **स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।**
   यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूलमृषावादवैरमणम्॥55॥ –र. श्रा.

पहुँचाने के उद्देश्य से बोले गए वचन अथवा किसी को बुरा-भला कहना या ऐसा सत्य जिससे किसी के प्राण ही चले जाऐं सब असत्य की श्रेणी में आते हैं। सत्याणुव्रती इन सभी का त्यागी होता है। वह ऐसे वचनों का प्रयोग हँसी-मजाक में भी नहीं करता। कई बार व्यक्ति अकारण भी झूठ बोलते हैं या भयादि से झूठ बोलते हैं, इन सभी से प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए। व्यापारादि में भी अधिक झूठ बोलने से बचना चाहिए क्योंकि झूठ बोलने वाले की पद, प्रतिष्ठा, सम्मान सब चला जाता है।

अचौर्याणुव्रत–रखा हुआ, गिरा हुआ, भूला हुआ, बिना दिया हुआ हो ऐसे दूसरे के वस्तु या धन को जो न स्वयं लेता है और न दूसरे को देता है वह अचौर्य अणुव्रत है।[5] किसी चोर को स्वयं या दूसरे के द्वारा चोरी करने की प्रेरणा करना, कराना या प्रशंसा करना या चोरी का माल खरीदना, वस्तुओं की माप, तौलादि में गड़बड़ करना, मिश्रित गलत वस्तुओं को बेचना आदि सभी चोरी के अंतर्गत आता है इन सब कार्यों को अचौर्याणुव्रती नहीं करता।

ब्रह्मचर्याणुव्रत–पाप के भय से दूसरे की स्त्री को स्वयं सेवन नहीं करना और न दूसरों को सेवन कराना, परदारनिवृत्ति व्रत है तथा स्वदार संतोष व्रत भी यह कहा जाता है।[6] मात्र अपनी परिणीता स्त्री में संतुष्ट रहना स्वदार संतोष व्रत है। स्त्री अपने पति व पति अपनी स्त्री में तुष्ट रहे। ऐसे चित्रादि न देखे और गाने आदि न सुने जिनसे कामवासना जागृत हो।

परिग्रहपरिमाणव्रत–स्त्री, पुत्र, घर, धन आदि वस्तुओं में 'ये मेरी हैं' इस तरह का जो ममत्व रहता है, उस ममत्व परिणाम को परिग्रह कहते हैं और ममत्व भाव को कम करते हुए समस्त परिग्रह को घटाना, उनका परिमाण करना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है। धन-धान्यादि बाह्य दस प्रकार के परिग्रह की सीमा का नियम करके उससे अधिक परिग्रह में इच्छा का नहीं होना परिग्रह परिमाण व्रत अथवा स्थूलमूर्च्छा विरति है।[7] आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह कष्टदायक होता है। संचय की वृत्ति आने पर न्याय-अन्याय वा युक्तायुक्त का विचार नहीं रहता। इन सब कष्ट और पापों से बचने के लिए व्रत कहा गया है।

---

5. **निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।**
   न हरति यन्न च दत्ते, तदकृशचौर्यादुपारमणम्॥57॥ –र. श्रा.
6. **न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।**
   सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि॥59॥ –र. श्रा.
7. **धन-धान्यादि-ग्रंथं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।**
   परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण-नामापि॥61॥ –र. श्रा.

इन पाँच अणुव्रतों को पालन करने वाला दुर्गति के द्वार को बंद कर देता है, सुगति प्रवेश की तैयारी करता है। यह परंपरा से मुक्ति का कारण है। पाँच अणुव्रत रूप निधियाँ देवगति को प्रदान करती हैं। अणुव्रतधारी जीव के द्वारा अवधिज्ञान तथा अणिमा आदि आठ ऋद्धियाँ और दिव्य शरीर प्राप्त किए जाते हैं।[8] अतः इहपर लोक सुख के लिए सद्गृहस्थ पाँच अणुव्रतों का पालन करता है।

---

8. **पंचाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।**
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥63॥ –र. श्रा.

जिनपूजा फल

सव्व-विग्घाणि णस्संति, भय-दुहाणि होज्ज णो।
लहंति इट्ठ-वत्थूणि, जिणपूयाइ सव्वदा॥108॥

अर्थ–जिनपूजा से सर्वदा सर्व विघ्न नाश को प्राप्त होते हैं, भय व दु:ख नहीं होते तथा इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

All obstacles get destroyed, fear and sorrows do not occur, and favorable things are attained by (***Jinapuja***) worship of ***Jinendra Deva***.

भावार्थ–जिनपूजा श्रावक की वह आवश्यक क्रिया है जो उसकी संसार की घाम से रक्षा करती है, जिसकी छाया में स्थित होकर दु:खों से मुक्ति पाता है। जैसे सुरसरिता में अवगाहन करने वाले को जल की शीतलता, पीने वाले को तृषाशामकता स्वत: प्राप्त होती है वैसे ही प्रभु पद उपासकों को आत्मिक शांति अवश्य मिलती है। कोई जल में अवगाहन करे, सरिता में डुबकी लगाए और उसे शीतलता का स्पर्श न हो, तो वस्तुस्वभाव से विरुद्ध है। यदि कोई मुख में शक्कर रखेगा तो मुख तो मीठा होगा ही और मुट्ठी में शक्कर भरके मिठास की याचना भी करता रहे उससे कोई लाभ होने वाला नहीं है। वृक्ष के नीचे खड़े होंगे तो छाया तो स्वत: प्राप्त होगी ही और यदि तरुमूल में नहीं है तो वृक्ष की छाया की याचना भी व्यर्थ है।

श्री जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना से सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार मंत्र सर्प के विष को नष्ट कर देता है उसी प्रकार जिनपूजा रूपी मंत्र से सभी विष तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

'विघ्नों का नाश होता है तुम नाम जाप से,
संपूर्ण उपद्रव नशे हैं तुम प्रताप से।'

जिस प्रकार सूर्य के आते ही अंधकार तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार जिनपूजा से विघ्न विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

विघ्नौघा: प्रलयं यांति, शाकिनी भूतपन्नगा:।
विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे।

जिनेंद्र भगवान् की स्तुति से विघ्नों के समूह नष्ट हो जाते हैं, शाकिनी, भूत व सर्प प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं व विष निर्विष हो जाता है।

पुन: जिनपूजा के फल का कथन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि जिन पूजा करने वाले के जीवन में दु:ख व भय नहीं रहते। जिनपूजा की कुठार दु:ख रूपी वृक्ष का उन्मूलन करने में समर्थ है। कहा भी है 'सर्वज्ञ के स्तवन मात्र से सब रोग, सब भय और समस्त दु:खों की परंपरा नष्ट हो जाती है, इसमें संशय नहीं है।

सर्वे रोगाः भयाः सर्वे सर्वदुःखस्य सन्ततिः।
सर्वज्ञस्तोत्रमात्रेण नश्यन्त्यत्र न संशयः।

यदि जिनेंद्र प्रभु की शरण में आकर भी किसी प्रकार का दुःखादि शेष रह जाता है तो भक्ति सपर्या में कहीं त्रुटि है, ऐसा मानकर और अधिक तन्मयता से जिनेन्द्र अर्चना करनी चाहिए। क्योंकि शक्कर खाने से मिठास तो आएगी और मिठास नहीं आई तो शक्कर मुख में पहुँची ही नहीं संभवतः हाथ में लेकर ही बैठ गए हों। यदि कोई वस्तु 10 फीट ऊपर रखी है और ऊपर हाथ 9 फीट तक भी पहुँच जाए तो वस्तु हाथ में आने वाली नहीं है थोड़ा और पुरुषार्थ उस वस्तु की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होगा। इसी प्रकार यदि दुःखादि शेष हों तो और लीनता व श्रद्धा से जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना करनी चाहिए। जिस प्रकार अग्नि ईंधन को जलाकर नष्ट कर देती है उसी प्रकार जिन भक्ति, पूजन दुःखों की सन्तति का अंत कर देती है।

जिन भक्ति से इष्ट वस्तुओं की संप्राप्ति होती है, सर्व मनोरथ पूर्ण होते हैं। यह सर्वथा सत्य है कि रागद्वेष से रहित जिनेन्द्र प्रभु किसी की याचना की पूर्त्ति नहीं करते, किसी को कुछ देते नहीं है तथापि यह जिनेन्द्र प्रभु की पूजन से संचित पुण्य का ही प्रभाव है कि जिन भक्ति, पूजन करने वाले को मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है।

यद्यपि भक्त सांसारिक सुख की वांछा न भी करे तब भी उसे वह राजादि का वैभव, स्वर्गादि की विभूति तो प्राप्त होगी ही क्योंकि भोजन करने वाले का पेट तो भरेगा ही।

यस्य चित्ते जिनेन्द्राणां भक्तिः सन्तिष्ठते सदा।
सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि, तस्य नैवात्र संशयः॥

जिसके मन में सदा जिनेन्द्र देव की भक्ति विद्यमान रहती है उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है।

इस प्रकार ग्रंथकार जिनपूजन का फल बताते हुए अन्यों को भी जिनपूजन के लिए प्रेरित करते हैं क्योंकि संसार में एक जिनभक्ति रूपी वृक्ष ऐसा है जो मनुष्यों के दुःखादि को नष्ट करता हुआ उसे समस्त सुखों की छाया प्रदान कर सकता है। संसार से संतप्त प्राणीजन जिनभक्ति के माध्यम से सांसारिक सुख को प्राप्त करते हुए पुनः पारमार्थिक सुख को प्राप्त करते हैं।

जिनपूजा में प्रसिद्ध

धण्ण-पुण्णेहि मेणाए, दुद्दर-भरदेहि य।
धण-पीदिंकरादीहिं पूया फलं हु पाविदं॥109॥

अर्थ–धण्णंकर, पुण्णंकर, मैनासुंदरी, मेंढक, भरत, धनदत्त व प्रीतिंकर आदि ने पूजा के फल को प्राप्त किया।

Fruition of the worship was attained by Dhannakar-Punnankar, Maina Sundari, Frog, Bharata, Dhandatta and Preetinkara etc.

भावार्थ–जिन पूजा में अनुरक्त प्रत्येक जीव उसके समीचीन महान् फल को प्राप्त करता है। प्रथमानुयोग में सहस्रों उदाहरण ऐसे हैं जिनके जीवन में जिनपूजा से महातिशय उत्पन्न हुआ, उभय लोक में सुखों का भोग करते हुए नि:श्रेयस सुख को प्राप्त किया है वा करेंगे। यहाँ ग्रंथकार भी जिनपूजा के महत्त्व को बताने के पश्चात् उनके फल को प्राप्त करने वाले कुछ महानुभावों के नामोल्लेख करते हैं।

धण्णंकर-पुण्णंकर[1]–ऋषभपुर नगर में राजा अरिदमन के राज्य में अभयंकर नामक श्रेष्ठी रहा करते थे। वे दान, पूजा आदि गुणों से सुशोभित थे। उनके यहाँ धण्णंकर व पुण्णंकर नामक दो कर्मचारी कार्यरत थे। दोनों भाई अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन करते थे। संसार की स्थिति को देखते हुए पुण्य व पाप के फलों की परस्पर वार्त्ता करते उन्हें संसार का अंत करने वाले दुर्लभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई। एक दिन वे दोनों सम्यग्दृष्टि भाई सेठ अभयंकर के साथ जिन वंदना हेतु जिनालय पहुँचे। पुण्य संयोग से वहाँ विश्वकीर्ति नामक मुनिराज विराजमान थे। मुनिवर के धर्मोपदेश से सभी कृतार्थ हुए।

धर्मोपदेश के पश्चात् सेठ ने जिनेन्द्र भगवान् की अष्टद्रव्यों से पूजा की। धण्णंकर-पुण्णंकर ने पूजन हेतु सेठ के द्वारा दिया गया द्रव्य स्वीकार नहीं किया। उन बुद्धिमान्, विवेकी भाइयों ने विचार किया कि अन्यों के द्रव्य से पूजन करने से क्या लाभ? हमारे पास जो कुछ भी है उसे ही जिनचरणों में अर्पित कर स्वयं को सौभाग्यशाली समझेंगे। उनके पास उस समय 5 कौड़ियाँ ही थीं तब अपनी उन 5 कौड़ियों की द्रव्य से ही उन्होंने जिनेन्द्र भगवन् की भाव सहित पूजन की। अंत में समाधि मरण कर सनत्कुमार स्वर्ग में 7 सागर की आयु वाले देव हुए व वहाँ से चयकर जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में कलिंग देश के दलवट्टणनगर के राजा सूरसेन व रानी विजया के अमरसेन-वइरसेन नामक पुत्र हुए। पुन: अतिशय राज्य सुखों को भोगते हुए बाद में दिगंबर दीक्षा ग्रहण की।

---

1. **अमरसेन चरित्र**

मैनासुंदरी[2]—जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में अवंति देश की उज्जैनी नगरी के राजा पुहुपाल व रानी निपुणसुंदरी की सुरसुंदरी व मैनासुंदरी नामक दो पुत्रियाँ थीं। सुरसुंदरी ने शैव गुरु और मैनासुंदरी ने जैनाचार्य से शिक्षा प्राप्त की। सुरसुंदरी ने स्वेच्छित वर से पिता की स्वीकृति से विवाह किया किन्तु राजा के द्वारा इस विषय में पूछने पर कर्मसिद्धांत का आश्रय लेती हुई मैनासुंदरी बोली 'मैं अपने भाग्य का खाती हूँ।' इससे राजा अत्यंत क्रोधित हुआ और कषाय के उद्वेग में उसी के भाग्य से वर चयन करने का निर्णय लिया।

चंपापुर के राजा अरिदमन व रानी कुंदप्रभा अपने पुत्र श्रीपाल को राज्य दे दीक्षित हो गए। किंतु श्रीपाल सहित 700 सैनिक पूर्व कर्मोदय से कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गए। दुर्गंध से पीड़ित श्रीपाल ने प्रजा की रक्षा हेतु कुष्ठ रोग ठीक होने तक चाचा वीरदमन को राज्य सौंप राज्य छोड़कर दूर जाने का निर्णय लिया तथा नगरी त्यागकर उज्जैनी के निकट उद्यान में अपना पड़ाव डाला। श्रीपाल के परिचय से अनभिज्ञ राजा पुहुपाल ने इस कुष्ठ रोगी के साथ मैनासुंदरी के विवाह का निश्चय किया। सभी के बहुत समझाने पर भी गर्व में चूर पुहुपाल ने अपनी पुत्री का विवाह श्रीपाल के साथ कर दिया।

विवाह के पश्चात् विदाई लेकर मैनासुंदरी अपने पति के साथ प्रयाण कर गयी। उसने अपने पति की खूब सेवा की। मैनासुंदरी को अपने पिता से कोई शिकायत न थी क्योंकि वह कर्मसिद्धांत को जानती थी। एक दिन मुनि दर्शन कर उसने मुनिराज से पाप क्षय का उपाय पूछा। मुनिराज ने मैना को सिद्धचक्र की उपासना करने को कहा। मैनासुंदरी ने मुनि के संकेतानुसार विशुद्धि व भक्ति के साथ सिद्धचक्र आराधना की व बाद में सभी पर गंधोदक छिड़का। **'सत्यं हि यति भाषितं'** मुनियों के वचन सत्य ही होते हैं। सिद्धचक्र आराधना के फल स्वरूप गंधोदक छिड़कते ही सभी का कुष्ठ रोग ठीक हो गया।

पश्चात् श्रीपाल ने विद्याएँ आदि प्राप्त कीं, राज्य प्राप्त किया। ऐसे कोटिभट्ट श्रीपाल की मैनासुंदरी पट्टरानी हुई। सांसारिक सुख को भोग मैनासुंदरी ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की और समाधिमरण कर 16वें स्वर्ग में 22 सागर की आयु वाला देव हुई व शीघ्र मोक्ष प्राप्त करेगी।

मेंढक की कथा[3]—मगध देश की राजगृही नगरी में नागदत्त सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम भवदत्ता था। वह सेठ अपनी आयु के अंत में आर्त्त ध्यान के साथ मरकर अपने ही भवन के पश्चिम भाग में स्थित बावड़ी में मेंढक उत्पन्न हुआ था। उसे वहाँ अपनी पत्नी को देखकर जातिस्मरण हो गया। वह जब तक उसके समीप में आता था तब तक वह भागकर घर के भीतर

---

2. **कोटिभट्ट श्रीपाल चरित्र**
3. **पुण्यास्रव कथाकोश**

चली जाती थी। वह बार-बार भवदत्ता के पीछे आता। भवदत्ता ने एक समय सुव्रत नामक अवधिज्ञानी मुनि से मेंढक के विषय में पूछा। मुनि ने बताया कि वह नागदत्त सेठ है।

यह सुनकर वह उसे अपने घर ले गई। वहाँ उसने उसे योग्य आदर-सत्कार के साथ रखा। उसी समय राजा श्रेणिक ने श्री महावीर स्वामी की वंदना के लिए आनंदभेरी करायी। उसके शब्द को सुनकर वह मेंढक भक्तिपूर्वक मुख से कमल पांखुड़ी को लेकर समवशरण की ओर चल दिया किंतु मार्ग में ही राजा श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे आकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। जिनपूजा की अनुमोदना व भक्ति के प्रभाव से वह मेंढक देव हुआ और विभूति के साथ श्री महावीर जिन की पूजन की।

चक्रवर्ती भरत–आदि पुरुष प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ व यशस्वती (नंदा) के सबसे बड़े पुत्र भरत थे। भरत चक्रवर्ती जिनपद रूपी कमल के भ्रमर ही थे। जब उनके पास तीन समाचार आए (1) तीर्थंकर ऋषभदेव को केवलज्ञान (2) पुत्रोत्पत्ति (3) आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होना तब उन्होंने सर्वप्रथम श्री आदि जिनेन्द्र की पूजन की। वे अतुल वैभव के साथ जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना करते। पूजन में रत्नों के पहाड़ जैसे लगा देते थे। कैलाश पर्वत पर स्वर्ण, रत्नादि के 72 जिनमंदिर बनवाए। जिनभक्ति के प्रभाव से उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति भी हुई। उनकी जिनभक्ति स्वयं उनके जिन बनने में हेतु बनी। दीर्घकालीन राज्य कर बाद में दैगंबरी दीक्षा स्वीकार कर अंतर्मुहूर्त में ही केवली हो गए।

धनदत्त[4]–भरतक्षेत्र के विजयार्द्ध पर्वत स्थित रथनूपुर चक्रवाल नगर में राजा नील राज्य करता था। उसके राज्य में धनमित्र सेठ रहा करता था। उसकी पत्नी का नाम धनवती था। उनके धनदत्त नाम का एक ग्वाला था। एक समय उस ग्वाल ने वन में घूमते हुए तालाब में सहस्रदल कमल को देखकर उसे तोड़ लिया। तब नागकुमार देव प्रकट हुआ और अपने से बड़े को कमल चढ़ाने का आदेश दिया। तत्पश्चात् उस ग्वाले ने कमल के साथ घर आकर समस्त वृत्तांत सेठ को कहा और कमल सेठ को देने लगा। तब सेठ ने उसे रोका और समस्त वृत्तांत पुनः राजा से कहा। तब राजा, सेठ व ग्वाल यशोधर मुनिराज के समीप पहुँचे और उनसे सब वृत्तांत कह सुनाया। सब सुनकर मुनिराज ने कहा कि जिनेंद्र देव ही सबसे बड़े हैं– सर्वश्रेष्ठ हैं। यह सुनकर ग्वाल ने जिनेन्द्र प्रभु के समक्ष भक्ति पूर्वक कमल अर्पित किया।

जिनभक्ति के प्रभाव से वह चंपा नगरी के राजा धाड़ीवाहन व रानी पद्मावती का पुत्र करकंडु हुआ। क्योंकि ग्वाले की पर्याय में बिना हाथ पैर धोए मंदिर में प्रवेश किया था इसीलिए इसके हाथ-पैरों में खुजली (कंडु) रहती थी। यही कारण था कि पुत्र का नाम करकंडु रखा गया। राजा

---

4. **करकंडु चरित्र**

करकंडु महान् पराक्रमी व विशाल साम्राज्य का शासक बना था। अंत में दिगंबर दीक्षा लेकर तप करके सर्वार्थ सिद्धि पहुँचा।

प्रीतिंकर[5]**–**भरत क्षेत्र के पोदनपुर नगर में हित व माधवी का प्रीति नामक पुत्र था। उसी पोदनपुर नगर में उदयाचल राजा व अर्हच्छ्री नामक रानी से उत्पन्न हेमरथ राजा राज्य करता था। एक दिन उसने जिनमंदिर में, बड़ी श्रद्धा के साथ महार्चना की। उस पूजा के समय लोगों ने बड़े जोर-जोर से जय-जय शब्द किया, उसे सुनकर प्रीतिंकर ने भी आनंदविभोर हो जय-जय शब्द उच्चारण किया। इस आनंद के कारण वह घर के भीतर ठहर नहीं सका इसीलिए बाहर निकलकर आँगन में इस तरह नृत्य करने लगा जिस प्रकार कि मयूर मेघ का शब्द सुनकर नृत्य करने लगता है।

इस जिनभक्ति के प्रभाव से वह मृत्यु को प्राप्त कर यक्ष हुआ। तदनन्तर किसी दिन पश्चिम विदेह के कांचनपुर नगर में शत्रुओं ने मुनियों के ऊपर उपसर्ग शुरू किया। यक्ष ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया। तदनंतर वहाँ से च्युत होकर वह विजयार्द्ध पर्वत पर तडिदगंद विद्याधर और श्रीप्रभा विद्याधरी के उदित नामक पुत्र हुआ। एक बार अमरविक्रम नामक विद्याधरों का राजा मुनियों की वंदना के लिए आया था उसे देखकर उदित ने 'मेरा भी ऐसा वैभव हो' यह निदान किया।

तदनंतर महातपश्चरण कर ऐशान स्वर्ग में देव हुआ और वहाँ से च्युत होकर मेघवाहन का पुत्र महारक्ष हुआ। राज्य का भोग कर अंत में अमररक्ष पुत्र को राजा व भानुरक्ष पुत्र को युवराज बना समाधिस्थ हुआ।

पुण्यास्रव कथाकोश के अनुसार प्रीतिंकर जिनपूजन के प्रभाव से यक्ष पुनः मुदित पुनः देव फिर महाराक्षस विद्याधर हुआ जो जिनदीक्षा धारण कर मुक्तिलक्ष्मी का स्वामी हुआ।

इस प्रकार सहस्रों जिनभक्तों ने भक्ति के उत्कृष्ट फल को प्राप्त किया।

---

5. **पद्मपुराण**

दया धर्म फल

सुहंकरं बि-लोगेसुं, दया-धम्मस्स सप्फलं।
लहेदि य सिरिं सत्तिं, जसं होदि हु णिच्छलो॥110॥

अर्थ–दया धर्म का सद्फल दोनों लोकों में ही सुखकर होता है। दया धर्म का पालन करने वाला श्री, शक्ति और यश को प्राप्त करता है तथा निश्छल होता है।

Fruition of compassion is always blissful in both worlds. A person who follows the religion of mercy, he gets wealth, strength and fame and becomes unaffected.

भावार्थ–**'धम्मो दयाविसुद्धो'** आचार्य महाराज की यह सूक्ति बताती है कि दया से विशुद्ध ही धर्म होता है। जिस प्रकार प्राण निकलने के पश्चात् देह माटी रूप रह जाती है उसी प्रकार यदि धर्म से दया निकल जाए तो धर्म भी न बचेगा। दया धर्म का प्राण है। दया ही धर्म की उत्कृष्ट सीमा है। यदि सूर्य से रहित दिन, राजा के बिना राज्य, सरोवर के बिना कमल, आश्रय के बिना चित्र, स्त्री-पुरुषों से रहित कुल तथा पृथ्वी के बिना वृक्ष हो तो प्राणिरक्षा जीवदया से रहित धर्म भी उस समय निश्चित रूप से हो। जिस प्रकार उपर्युक्त बातों का होना असंभव है, उसी प्रकार दया के बिना धर्म का होना असंभव है।[1]

दया के द्वारा ही मनुष्य देवत्व प्राप्त करता है। व्यास जी ने कहा है 'सर्व प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना ईश्वर तक पहुँचने का सबसे सरल मार्ग है। दया व सुख-शांति का अन्योन्याश्रय संबंध है क्योंकि जहाँ दया नहीं वहाँ सुख-शांति भी नहीं। जहाँ दया निर्झरित होती है वहीं आह्लाद, आनंद के मधुर स्वर निनादित होते रहते हैं। दया से संपूर्ण वातावरण हिंसा, क्रूरता, द्वेष आदि से मुक्त बनता है। दया से स्नेह, आत्मीयता आदि कोमल भावों का विकास होता है। दया धर्म से दोनों लोकों में सुख प्राप्त होता है। करुणावान् सब प्राणियों पर करुणा दृष्टि रखता हुआ उनके लिए सहायक बनता है और उसके द्वारा की गई प्राणियों की सहायता स्वयं उसके लिए भी उपकारी सिद्ध होती है।

दयालु व्यक्ति इस लोक में भी सुख प्राप्त करता है और पर लोक में सुखी होता है। दयावान् व्यक्ति के अंदर ही वात्सल्य, मैत्री आदि गुण परिलक्षित होते हैं। दया स्वर्ग के आर्गल को खोलने

---

1. **भानुभ्रष्टमहो यदि प्रभुमृते राज्यं च संजायते।**
राजीवं च जलाशयेन रहितं चित्रं तथापाश्रये।
पुंभामापगतं कुलं यदि धराहीनस्तथानोकहः,
प्राणित्राणविवर्जितोऽपि नियतं जायेत धर्मस्तदा॥

वाली है, समस्त कल्याणों से युक्त मोक्षसुख की जननी है, कीर्ति की खान है, प्राणों को देने वाली है, संसार-समुद्र से तारने वाली है और समीचीन रत्नत्रय की भूमिका है।[2]

यहाँ ग्रंथकार निरूपित करते हैं कि दयावान् व्यक्ति को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। सांसारिक बाह्य लक्ष्मी व पुनः अंतरंग लक्ष्मी भी प्राप्त करने में समर्थ होता है। क्रूरता मानव की मानवता को नष्ट कर उसे नीचे स्तर पर लाकर खड़ा कर देती है। जबकि दया मनुष्य में देवत्व की स्थापना कर उसकी आंतरिक शक्ति वृद्धिंगत करती है। दया, अहिंसा, करुणा में वह शक्ति है जो वन्य पशु हिरनों को भी स्तंभित कर सकती है, शेर को जलेबी खाने पर मजबूर कर सकती है, क्रूर से क्रूर व्यक्ति के चित्त का भी परिवर्तन कर सकती है। जिसके अंतरंग में दया है समझना चाहिए वह गुणों का आकर है। दयावान् शब्द, क्रिया, व्यवहार आदि के माध्यम से भी किसी का मन नहीं दुखाता तब ऐसे व्यक्ति की कीर्ति तो दिग्दिगंत तक व्याप्त होगी ही।

दयावान् अनंत पापों से अपनी भी रक्षा करता है और संभवतः अन्य प्राणियों की भी पापों से रक्षा कर सके। अहिंसा, दया, करुणा के माहात्म्य से मनुष्य दीर्घायु, सुंदर, श्रीमान, उत्तम रूप वाला और कीर्तिमान् होता है।[3] निःसंदेह दयावान्, करुणा वा अहिंसा से परिपूरित व्यक्ति समस्त सुखों व गुणों का स्वामी होता है। अतः छोटे से छोटे जीव से लेकर मनुष्य तक सभी के प्रति दया रखनी चाहिए और यही दया का भाव देशों को विभिन्न समस्याओं से मुक्त कर उनकी सुख-शांति व समृद्धि में समर्थ हो सकता है।

---

2. **सर्वप्राणिदया जिनेन्द्रगदिता स्वर्गार्गलोद्घादिका,**
   सर्वश्रायसमुक्तिसौख्यजननी कीर्त्याकरा प्राणदा।
   संसाराम्बुधितारिका गुणकरी पापान्तिका प्राणिनां,
   सद्रत्नत्रयभूमिका कुरु सदा सर्वेषु जीवेषु तां॥
3. **आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्तिमान् नरः।**
   अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायदे॥

स्वपर रक्षक

परजीवा सुरक्खेदि, सगप्पं सो वि सव्वदा।
कमेण लहदे मोक्खं, मेहरहो मिगो जहा॥111॥

अर्थ–जो दूसरे जीवों की सुरक्षा करता है वह अपनी आत्मा की भी सर्वदा रक्षा करता है तथा क्रम से मोक्ष प्राप्त करता है जैसे राजा मेघरथ व मृगसेन।

A person who always protects other living beings, also protects his soul and gets liberation respectively, as king Megharath and Mrigasen fisherman.

भावार्थ–दया के माध्यम से मनुष्य के हृदय में संवेदना का प्रादुर्भाव होता है। संवदेनशील हृदय ही किसी के दु:ख को समझकर उसका निराकरण करने में सक्षम हो सकता है। जब व्यक्ति के हृदय में संवेदना नहीं होती तब वह अपने माता-पिता के प्रति भी बुरा व्यवहार कर उनकी सेवा न करता हुआ भी निर्विकल्प रूप से रहता है। दया, करुणा के अभाव में मूक पशुओं या अन्य मनुष्यों की बात तो दूर माता-पिता के आँसू भी उसे प्रभावित नहीं करते और वह उन माता-पिता को बेघर कर देता है जिन्होंने उसे घर दिया। वर्तमान में वृद्धाश्रमादि का खुलना दया, संवेदना के ह्रासमान होने का प्रतीक है। बढ़ते हुए भू-चड़खाने आकृति में मानव की अंतरंग में दानवता का प्रतीक है। इन सबका कारण है दया, करुणा का अभाव।

जब आत्मीयता का भाव समाप्त होने लगता है तब व्यक्ति सिकुड़ता चला जाता है, मात्र पत्नी-बच्चों तक रह जाता है और कभी-कभी तो वह भी नहीं रहता। आत्मीयता के इसी अभाव से वर्तमान में संबंध भी सुदृढ़ नहीं रहे। भगवान् महावीर स्वामी का संदेश **'जीओ और जीने दो'** यदि हर व्यक्ति के जीवन में चरितार्थ हो जाए तो पाप घटते चले जाएँ और पापों की हानि होने पर ही सुखद साम्राज्य की स्थापना संभव है। दयावान् व्यक्ति स्व व पर सभी की सुरक्षा करता है। जहाँ स्व-पर की रक्षा में व्यक्ति निहित हो जाऐंगे वहाँ आंतकवाद, अपराध जैसे शब्द भी न टिक पायेंगे।

स्व-पर के प्रति करुणा की भावना लोगों के संबंधों को दृढ़ करती हुई, मैत्री-वात्सल्य आदि गुणों को वृद्धिंगत करती है। पेड़-पौधों से लेकर मानव तक सभी के दु:ख का अहसास कर उनकी रक्षा करनी चाहिए। सभी में वही आत्मा होती है। सबकी रक्षा करने वाला अपनी सुरक्षा भी करता है। परघात वा आत्मघात दोनों ही दु:ख कूप में ले जाने वाले हैं। दयावान् व्यक्ति के हृदय में धर्म होता है और क्रमश: वह मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। ग्रंथकार यहाँ दया के प्रभाव को दिखलाने हेतु उदाहरण देते हैं।

राजा मेघरथ-जंबूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र के पुष्कलावती देश में पुण्डरीकिणी नगरी के राजा धनरथ व रानी मनोहरा के मेघरथ नामक पुत्र था।

मेघरथ का विवाह प्रियमित्रा व मनोरमा नामक दो राजकन्याओं से हुआ। मेघरथ व प्रियमित्रा के नंदिवर्धन नामक पुत्र हुआ। एक समय राजा धनरथ, मेघरथ को राज्य सौंप दीक्षित हो गए व केवलज्ञान प्राप्त किया।

किसी समय स्वर्ग की सौधर्म सभा में चर्चा चल रही थी। वहाँ सौधर्मेन्द्र ने राजा मेघरथ की दया व करुणा की भूरी-भूरी प्रशंसा की। सौधर्मेन्द्र के मुख से एक मनुष्य की प्रशंसा सुन दो देव उसकी परीक्षा के लिए तत्पर हुए। तथा एक कबूतर व दूसरा बाज का रूप बना राजा मेघरथ के महलों में पहुँचें। कबूतर राजा मेघरथ के निकट जाकर बैठ गया और बाज उसका पीछा करते हुए वहाँ आया। बाज ने राजा मेघरथ से अपने शिकार की याचना की। राजा ने यह कहकर बाज को मना कर दिया कि शरणागत की रक्षा करना उसका धर्म है तथा वह दयामूर्ति कबूतर की प्राण रक्षा हेतु कबूतर के बदले उसके ही वजन का स्वयं का माँस देने को तत्पर हो गया। राजा मेघरथ ने तराजू के एक पलड़े पर कबूतर को बैठाया और दूसरे पर अपनी जंघा से माँस निकालकर रखने लगा। वह जितना माँस निकालता, कबूतर उतना भारी हो जाता। जब मेघरथ राजा ने देखा की निकाले हुए माँस का वजन कबूतर के बराबर नहीं हो रहा है तब स्वयं ही उस पलड़े पर बैठ गया। कबूतर के प्राणों की रक्षा के लिए स्वयं के प्राणों का भी व्यामोह नहीं करना, इस उत्कृष्ट दया के परिणाम को देख वे दोनों देव रूप में प्रकट हुए और सौधर्म इंद्र ने राजा की दया का ठीक वर्णन किया था ऐसे कहते हुए राजा की वंदना व उनका सत्कार किया। 'धन्य है राजा मेघरथ की दया'। यही राजा मेघरथ आगे सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ हुए।

मृगसेन धीवर

अवन्ति देश के शिरीष नामक गाँव में मृगसेन नामक धीवर रहा करता था। अपने कंधों पर एक बड़ा भारी जाल लटकाए हुए वह एक दिन मछलियाँ पकड़ने शिप्रा नदी की ओर जा रहा था। रास्ते में उसे यशोधर मुनिराज के दर्शन हुए। मुनि धर्मोपदेश को सुन वह कंधों से जाल हटाकर मुनि के समीप पहुँचा और प्रार्थना की कि **'मुझे भी ऐसा व्रत दें, जिससे मेरा जीवन सफल हो।'** मृगसेन धीवर की आयु कम जान अवधिज्ञानी मुनिराज ने करुणाबुद्धि से उसे समझाया कि जीव दया का पालन करना। उसे नियम दिया कि उसके जाल में जो पहली मछली आए वह उसे छोड़ दे। मृगसेन ने प्रसन्नतापूर्वक यह व्रत स्वीकार किया।

व्रत लेकर मृगसेन नदी पर आया। उसने नदी में जाल डाला। भाग्य से एक बड़ा भारी मत्स्य उसके जाल में फँस गया। उसने देखकर धीवर ने विचारा–'हाय! मैं निरंतर ही तो महा पाप करता हूँ और आज मुनिराज ने मुझे व्रत दिया है, भाग्य से आज ही इतना बड़ा मच्छ जाल में आ फँसा। पर जो कुछ भी हो, मैं तो इसे कभी नहीं मारूँगा।' यह विचारकर मृगसेन ने 'कपड़े की एक

चिन्दी फाड़कर उस मत्स्य के कान में इसीलिए बांध दी कि यदि वह मच्छ दोबारा जाल में आ जाए तो मालूम हो जाए। इसके बाद वह उसे बहुत दूर जाकर नदी में छोड़ आया।

फिर दूसरी ओर आकर वह मछलियाँ पकड़ने लगा। पर भाग्य से इस बार भी वही मच्छ उसके जाल में आया। उसने उसे फिर छोड़ दिया। इस प्रकार उसने जितनी बार जाल डाला, उसमें वही-वही मत्स्य आया पर वह धीवर अपने नियम पर अडिग रहा। सूर्यास्त हो गया पर उसके जाल में अन्य कोई मत्स्य नहीं आया। अंत में मृगसेन निरूपाय होकर घर की और लौट पड़ा। जब वह अपने घर के द्वार पर पहुँचा तो उसकी स्त्री उसे खाली हाथ देखकर आग बबूला हो उठी। उसने गुस्से में कहा–'रे मूर्ख! घर पर खाली हाथ तो आ गया, अब बता क्या पत्थर खायेगा?' इतना कहकर वह घर के भीतर चली गई और गुस्से में किवाड़ बंद कर लिए। अपनी स्त्री के दुर्व्यवहार के कारण उसे घर के बाहर ही रहना पड़ा। बाहर एक पुराना बड़ा भारी लकड़ा पड़ा हुआ था। मृगसेन उसी पर सो गया। नींद में एक भयंकर जहरीले साँप ने उसे काट खाया जिससे उसकी मृत्यु हो गई।

मृत्यु को प्राप्त कर वह धीवर विशाला नगरी के सेठ गुणपाल व सेठानी धनश्री के अत्यंत पुण्यवान् पुत्र हुआ। बचपन से ही शत्रु के द्वारा मारने के प्रयास किए जाने पर भी पूर्व में मछली के प्राणों की 5 बार रक्षा के पुण्य से उसके प्राणों की भी 5 बार रक्षा हुई। पुनः धनकीर्त्ति ने राज्य सुख का उपभोग कर अंत में जिनदीक्षा अंगीकार की।

विस्तार से जानने के इच्छुक महानुभाव आराधना कथाकोश आदि ग्रंथों से इसका अध्ययन करें। सत्य है दूसरे की रक्षा के माध्यम से अपने प्राणों की भी रक्षा होती है व दयावान् सम्यग्दृष्टि जीव नियम से आगे भव में मुक्ति को प्राप्त करता है।

सुपात्र दान

णायेण अज्जिदं अत्थं, सवराणुग्गहस्स हु।
भत्तिजुत्तो सुपत्ताणं, जच्छदे गुणि-दायगो॥112॥

अर्थ–भक्ति युक्त गुणी दाता न्याय से अर्जित धन को स्वपरानुग्रह के लिए सुपात्रों को दान देता है।

Devout and virtuous donor donates his money earned by justice to worthy recepients for welfare of self and others.

भावार्थ–जिनागम में दान का विशेष महत्व बताया गया है। श्रावक धर्म तो दान के बिना अपूर्ण ही है। दान व पूजा को श्रावकों का मुख्य धर्म बताते हुए आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने रयणसार में कहा कि इनके बिना श्रावक, श्रावक नहीं। पुनश्च आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय में सूत्र रूप से श्रावकाचार प्रकरण में दान का वर्णन किया। उसी प्रकार आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने रत्नकरंड श्रावकाचार में व पुनः कितने ही आचार्यों ने प्रथमानुयोग ग्रंथों वा श्रावक के आचार संबंधी ग्रंथों में दान का महत्त्व बताया। दान में विशेषता दाता, पात्र, विधि, द्रव्य से आती है।

दाता श्रद्धा, अलुब्धता, तुष्टि आदि गुणों से सहित होता हुआ दान देता है तब उसके परिणाम के विशुद्धि स्वरूप उसे सम्यक् फल की प्राप्ति होती है। भक्ति, विनय आदि सत्कार विधि कही जाती है। न्यायार्जित धन के द्वारा दिया गया आहारादि दान तपस्वियों की साधना में समीचीन वृद्धि करने वाला होता है अतः यहाँ ग्रंथकार ने न्यायार्जित धन कहा जिसका अर्थ प्रत्यक्षतः धन देने से ही नहीं अपितु धन के द्वारा लाये गए द्रव्य से भी है। ग्रंथकार ने यहाँ दाता, पात्र, विधि व द्रव्य का कथन किया क्योंकि जिस प्रकार मेघ से बरसा हुआ पानी भूमि के आश्रय से विशिष्ट हो जाता है उसी प्रकार दाता, पात्र, विधि और द्रव्य की विशेषता से दान विशिष्ट हो जाता है।

भक्तियुक्त होकर दान देने से आशय विधि से है। आहार दान के संबंध में इसे नवधा भक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। गुणी दाता से आशय का यहाँ दाता के सप्त गुण आदि से है अथवा दाता की विशेषता को दर्शाने हेतु यह विशेषण प्रयुक्त है। न्यायार्जित धन कहते हुए यहाँ द्रव्य की विशेषता दिखाई गई है क्योंकि न्यायार्जित धन के माध्यम से प्राप्त द्रव्य ही साधक की साधना में समीचीन साधन बन सकता है। पुनः सुपात्रों को दान देने का निर्देश दिया।

'पात्र' को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री रविषेण स्वामी ने कहा कि 'जो आपत्तियों से रक्षा करे वह पात्र कहलाता है। **(पातीति पात्रम्)** इस प्रकार पात्र शब्द का निरुक्त्यर्थ है।'

'आपद्भ्यः पाति यस्तस्मात्पात्रमित्यभिधीयते'

विशुद्ध गुणों को धारण करने से उस पात्र को पात्र-भाजन के समान जानना चाहिए अथवा अभीष्ट स्थान तक पहुँचा देने के कारण यानपात्र-जहाज के समान समझना चाहिए।[1] अथवा जो मोक्ष के कारणभूत गुणों से संयुक्त होता है वह पात्र होता है।[2] उत्तम, मध्यम व जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के कहे गए हैं। जो सब प्रकार के परिग्रह से रहित है, महातपश्चरण में लीन है और तत्त्वों के ध्यान में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे श्रमण अर्थात् मुनि उत्तम पात्र कहलाते हैं।[3] जो सम्यक्त्व गुण सहित मुनि हैं उन्हें उत्तम पात्र कहा है। जो सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं, उन्हें मध्यम पात्र समझना चाहिए तथा व्रत रहित सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है।[4]

दाता के द्वारा सुपात्रों को ही दान दिया जाना चाहिए, कुपात्रों वा अपात्रों को नहीं क्योंकि इनको दिए गए दान का फल कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार उत्तम खेत में बोया गया उत्तम बीज अत्यधिक संपदा देता है उसी प्रकार उत्तम दाता के द्वारा उत्तम पात्र को दिया गया दान उसे अत्यधिक संपदा प्रदान करता है।[5] क्या ऊसर भूमि में बोया गया बीज फल देने में समर्थ होता है, नहीं। उसी प्रकार कुपात्रों को दान देने से किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार एक ही तालाब में गाय ने पानी पिया और साँप ने भी। गाय के द्वारा पिया पानी दूध हो जाता है और साँप के द्वारा पिया पानी विष हो जाता है उसी प्रकार एक ही गृहस्थ ने उत्तम पात्र को दान दिया वा नीच पात्र को भी। उत्तम पात्र को दिए दान का फल उत्तम होता है और नीच वा कुपात्र-अपात्र को दान देने का फल नीचा ही होता है।[6]

उत्तम दात्ता के द्वारा उत्तम अर्थात् न्यायार्जित धन द्वारा उत्तम पात्र को भक्ति आदि से सहित दान को निरूपित करते हुए 'स्वपरानुग्रह' कहकर दान को परिभाषित भी करते हैं। आचार्य श्री उमास्वामी जी मुनिराज ने भी कहा है–

---

1. **पात्रं तत्पात्रवज्ज्ञेयं विशुद्ध-गुणधारणात्।**
   यानपात्रमिवाभीष्ट-देशे सम्प्रापकं च यत्॥
2. **मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। –स. सि.**
3. **सर्वग्रंथविनिर्मुक्ता महातपसि ये रताः।**
   श्रमणास्ते परं पात्रं तत्त्वध्यानपरायणाः॥58/14॥ –प. पु.
4. **उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।**
   सम्मादिट्ठी सावय-मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो॥17॥
   णिद्दिट्ठो जिणसमये, अविरदसम्मो जहण्णपत्तोति॥18॥ बा. अ.
5. **क्षिप्तं यथैव सत्क्षेत्रे बीजं तत्संपदं पराम्**
   प्रयच्छति तथा दत्तं, सत्पात्रे शुद्धचेतसा॥60/14॥ प. पु.
6. **सरस्यां जलमेकस्यां गवात्तं पन्नगेन च।**
   क्षीरभावमवाप्नोति विषतां च यथा तथा॥64/14॥ प. पु.

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'

अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। अर्थात् अपने और दूसरे का उपकार करना अनुग्रह है और उस स्व और पर के उपकार के लिए अपना धन देना दान है। दान देने से दाता विशिष्ट पुण्य का संचय करता है। स्वपरानुग्रह हेतु यथाशक्ति पात्रों को दान अवश्य करना चाहिए।

दान फल

दाणेण णस्सदे दुक्खं, दाणं सुगदि-कारणं।
सुहं बलं जसं संतिं, दाणी लहदि सव्वदा॥113॥

अर्थ–दान से दु:ख नाश होता है, दान सुगति का कारण है। दानी सर्वदा सुख, बल, यश और शांति को प्राप्त करता है।

Sorrow is destroyed by charity. Charity is the cause of good transit or state. A Donor always attains pleasure, strength, force, and peace.

भावार्थ–मानव जीवन में संपत्ति, आयु, काय अत्यंत अस्थिर हैं। गृहस्थ दशा तो दान से ही पूज्य है। दान बिना गृहस्थपना तो पाप के आरंभ के भार से पाषाण की नाव के समान केवल संसार समुद्र में डुबोने वाला है। दान सांसारिक सुख व परंपरा से मोक्ष का भी कारण है। दान की महिमा अचिंत्य है। दान गृहस्थों के पाप कर्मों को नष्ट कर देता है। कहा भी है–

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥115॥ र. श्रा.

निश्चय ही जिस प्रकार जल खून को धो देता है, उसी प्रकार गृह रहित मुनियों को दिया हुआ चतुर्विध दान (आहार, औषध, शास्त्र, वसतिका) गृहस्थी संबंधित कार्यों से उपार्जित संचित पाप को नष्ट कर देता है।

गृहस्थ के कार्यों में हिंसादि अवश्य होती है। व्यापार, सफाई, भोजन बनाना आदि सभी कार्यों में निरंतर पाप कर्मों का संचय होता रहता है। यदि गृहस्थ गृहत्यागी मुनियों आदि के लिए दान देते हैं तो उससे उत्पन्न हुआ पुण्य संचित पाप कर्म को नष्ट कर देता है। दान दु:ख, दुर्भाग्य, दरिद्रता दुर्गति को दूर करता है, गृहस्थ की धन-संपदा की चर्चा तो मात्र कुछ ही लोग करते हैं किंतु उनके दान की चर्चा तो स्वर्ग के देव भी करते हैं। तभी तो देव भी मनुष्य द्वारा दिए गए दान की अनुमोदना करते हैं। श्री जिनसेनाचार्य ने हरिवंश पुराण में निरूपित किया है, कि जब राजा श्रेयांस ने तीर्थंकर श्री वृषभदेव को आहार दान दिया तब पंचाश्चर्य प्रकट हुए और 'अहो दान, अहो दान, अहो पात्र, अहो दान देने की पद्धति, धन्य-धन्य', इस प्रकार आकाश में देवों के शब्द हुए। दाता देवों द्वारा भी प्रशंसनीय होता है। आदरपूर्वक दिए गए दान से पाप का नाश होकर पुण्य वृद्धिंगत होता है। जीव के अनंत भव के कर्म भी नष्ट होते हैं।

दानं दुर्गतिनाशनं हितकरं दानं बुधाः कुर्वते,
दानेनैव गृहस्थता गुणवती दानाय यत्नः सताम्।
दानान्नास्त्यपरः सुभोगजनको दानस्य योग्या विदो,
दाने दातृमनः स्थितिं प्रकुरुते दानं ददध्वं जनाः॥

दान दुर्गति का नाश करने वाला है, हितकारी है, विद्वान् सदा दान करते हैं। दान से गृहस्थपना सार्थक है, दान के लिए सत्पुरुषों का यत्न होता है, दान से बढ़कर कोई दूसरा उत्तम भोगों का जनक नहीं है। दाता का मन सदैव दान में स्थिर रहता है।

जो भव्य जीव आदर सहित दान देता है उसे क्रोध, मद, माया, काम, द्वेष, मोह, गर्व इत्यादि दोष दूषित नहीं करते अपितु सम्यक्त्व, व्रत, पुण्य विचार, इत्यादि गुण प्राप्त होते हैं। दान देने वाले दाता की कीर्ति तीनों लोकों में विस्तार को प्राप्त होती है। सभी प्रकार का सुख उसकी समीपता प्राप्त करता है। मनोवांछित फल को प्रदान करने की सामर्थ्य से वह युक्त है। दान से स्वर्गादि सुगति को प्राप्त करता है व दुर्गति के प्रवेश द्वार बंद कर देता है। कान्ति, बल, यश, आयु, बुद्धि, लक्ष्मी आदि सभी वृद्धिंगत होते हैं और तो क्या वह सांसारिक सुख को प्राप्त करता हुआ परंपरा से मोक्ष पद प्राप्त करता है।

चक्रित्वं सकलं शुभं भवसुखं भुक्त्वाष्ट जन्मांतरे।
निर्वाणं कृतिनां भवेत्तदखिलं सत्पात्रदानादिदम्॥71/8॥ दा. शा.

सत्पात्र दान के फल से यह जीव सुंदर रूप, विशुद्ध वंश, उत्तम चारित्र, पवित्र शील, श्रेष्ठ गुण, विशाल ज्ञान, कुशाग्र बुद्धि व शुभ लक्षणों को प्राप्त करता है। माता-पिता, मनोहारिणी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, प्रतिष्ठित कुल, भाई-बहन, धन-धान्यादि से सुसम्पन्न रहता है। उत्तम चक्रवर्ती पद को प्राप्त करता है। नवनिधि, चौदह रत्नादि का अधिपति होता है। आठ भव तक सांसारिक सुख भोगकर मुक्ति लक्ष्मी का स्वामी होता है। हरिवंश पुराण में भी लिखा है कि 'दान देने से जो पुण्य संचित होता है वह दाता के लिए पहले स्वर्गादि रूप फल देकर अंत में मोक्ष रूपी फल देता है।'

पुण्यमित्थमुपात्तं यत् तदभ्युदयलक्षणम्।
दत्वा दातुः फलं दत्ते प्राग् निश्रेयसलक्षणम्॥201/9॥

अतः मुक्तिरमा से पाणिग्रहण करने के अभिलाषी गृहस्थजनों को उत्तम पात्रों को दान देकर स्वपुण्य वृद्धिंगत करना चाहिए।

दान में प्रसिद्ध

अकिदपुण्ण-सीयाहिं, वज्ज-सिरीमदीहि य।
सिरि-उसहसेणाहिं, लद्धं दाण-सप्फलं॥114॥

अर्थ–अकृतपुण्य, सीता, वज्रजंघ, श्रीमती, श्रीषेण व वृषभसेना आदि के द्वारा दान का सत्फल प्राप्त किया गया।

Real fruition of donation was attained by Vajjrajangha, Shrimati, Shrishena, Vrishabh sena etc.

भावार्थ–ग्रंथों में दृष्टान्तात्मक कथाओं का समावेश विवरण को सरल व सहज बना देता है। जिसके माध्यम से श्रावक पाप से विरक्त हो पुण्य में अनुरक्त होते हैं। **'दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः'** दृष्टान्तों के माध्यम से विषय समझना सरल हो जाता है। जैसे पानी कठिन से कठिन चट्टान को भी फोड़ डालता है वैसे ही दृष्टांत भी अल्प से अल्प बुद्धि में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ दान के फल को जिन्होंने प्राप्त किया उन कुछ व्यक्तियों के नाम ग्रंथकार यहाँ कहते हैं जिससे सद्फल को देख अन्य भी पुण्य कार्यों के लिए प्रेरित हों।

अकृतपुण्य की कथा

मगध देश की भोगवती नगरी में कामवृष्टि नामक जमींदार रहता था। उसकी पत्नी का नाम मृष्टदाना था। कामवृष्टि के एक सुकृतपुण्य नाम का सेवक था। एक समय मृष्टदाना के गर्भ हुआ। जैसे-जैसे उसका गर्भ बढ़ता गया वैसे-वैसे उसके सहायक कुटुंबियों की मृत्यु हो गई। सेठ कामवृष्टि का भी मरण हो गया। प्रसूति के पश्चात् मृष्टदाना की माँ भी मृत्यु को प्राप्त हो गयी। समय कुछ ऐसा परिवर्तित हुआ कि मृष्टदाना का समस्त वैभव नष्ट हो गया अब वह अपने नवजात अकृतपुण्य नामक शिशु का पालन दूसरों के घरों में अनाज पीसने आदि का कार्य करके करती। और सेवक सुकृतपुण्य अब जमींदार हो गया।

एक समय वह अकृतपुण्य सुकृतपुण्य के चनों के खेत पर जाकर उससे बोला कि हे सुकृतपुण्य! मैं तुम्हारी चनों की फसल को काट देता हूँ, तुम मुझे क्या दोगे? उस समय उसको देखकर सुकृतपुण्य ने सोचा कि जिसके पिता के कारण मैं इस प्रकार गाँव का प्रमुख हुआ हूँ वही भाग्यवश इस समय मेरी आज्ञा का कारण बन गया है। इस प्रकार से दुःखी होकर सुकृतपुण्य ने अपनी थैली से दीनारों को निकालकर उसके लिए दिया। परंतु उसके हाथ में पहुँचते ही वे अंगार बन गईं। तब अकृतपुण्य बोला कि तुम सबके लिए तो चने देते हो और मुझे अंगारे। इस पर सुकृतपुण्य बोला कि मेरे अंगारों को मुझे वापिस दे दो और जितने तुमसे बने उतने चने तुम ले जाओ।

सुकृतपुण्य के इस प्रकार कहने पर वह अपने वस्त्र में पोटली बाँधकर चनों को घर ले गया। परंतु वह पोटली छेदयुक्त थी जिससे वस्त्र से गिरकर आधे ही चने शेष रह गए थे। उनको देखकर माता ने अकृतपुण्य से पूछा कि तू चनों को कहाँ से लाया? इस पर अकृतपुण्य ने बता दिया कि ये सुकृतपुण्य के पास से लाया हूँ। यह सुनकर मृष्टदाना बहुत दुखी हुई और सोचा जो हमारे यहाँ सेवक था आज मेरा पुत्र उसी की सेवा करने गया। तत्पश्चात् वह पुत्र के साथ उस नगर से निकल पड़ी और अवन्ति देश के शीशवाक नगर में पहुँची।

उस गाँव का स्वामी बलभद्र था। वहाँ जाकर के वे दोनों उस घर के आगे ठहरे। उसको देख बलभद्र ने पूछा कि हे माता! तुम कहाँ से आ रही हो? मृष्टदाना की परिस्थिति सुनने के पश्चात् वह बोला कि तुम मेरे घर पर भोजन का काम करो और यह तुम्हारा पुत्र मेरे बछड़ों का पालन करे। ऐसा करने पर मैं तुम्हारे लिए भोजन व रहने का स्थान दूँगा। मृष्टदाना ने यह स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अब वे दोनों वहीं रहने लगे।

एक दिन मृष्टदाना ने खीर बनाई। बलभद्र के सातों पुत्रों ने खीर खाई। अकृतपुण्य ने भी माँ से खीर माँगी। पर वह खत्म हो गई थी, जिसके कारण वह पूरे दिन रोया। सेठ ने उसकी इस अवस्था को देख उसका कारण पूछा तब उसने खीर खाने की इच्छा प्रकट की। सेठ ने मृष्टदाना से कहा मैं सामान ला दूँगा, इसके लिए खीर बना देना। माँ ने अकृतपुण्य से कहा कि हे पुत्र! आज मैं तुम्हें खीर खाने को दूँगी, तुम जंगल से जल्दी आ जाना। इधर मृष्टदाना ने खीर आदि को बनाकर तैयार कर लिया तब अकृतपुण्य भी घर वापस आ गया।

माँ अपने पुत्र से यह कहकर पानी भरने चली गई कि इस बीच यदि कोई मुनिराज आयें तो उन्हें रोक लेना। इतने में ही मासोपवास के समाप्त होने पर पारणा के लिए सुव्रत नामक मुनिराज पधारे। अकृतपुण्य मुनि को देखते ही उन्हें रोकने लगा। बोला बाबा! मेरी माँ ने खीर बनाई है, उसे खाकर जाना। पड़गाहन विधि से अनभिज्ञ उस बालक के भोलेपन व सरल भावों को देखकर मुनिराज कुछ मुस्कुराते हुए आगे बढ़ने लगे। इतने में ही मृष्टदाना सामने से आ गयी और मुनिराज को देखकर भक्तिपूर्वक उनका पड़गाहन किया और अतिशय निर्मल परिणामों के साथ उन्हें आहारदान दिया। उनके आहार के समय अकृतपुण्य बहुत खुश हुआ। उछल-उछल कर कहने लगा माँ! मेरे हिस्से की खीर भी दे दो। मुनिराज का आहार निरंतराय संपन्न हुआ।

वे मुनि अक्षीण महानस ऋद्धि के धारक थे । इस ऋद्धि का ये प्रभाव होता है कि जिस चौके में मुनि आहार करें उस दिन आहार अक्षीण हो जाता है। आहार के पश्चात् मृष्टादाना ने अपने पुत्र को भोजन कराया और तत्पश्चात् कुटुम्ब के साथ बलभद्र को भी भोजन कराया। फिर भी जब वह रसोई समाप्त नहीं हुई तब पूरे गाँव को भी भोजन कराया। दूसरे दिन अकृतपुण्य बची हुई खीर खाकर जंगल में गया।

वहाँ जाकर वह एक वृक्ष के नीचे सो गया। इस बीच में बछड़े स्वयं घर आ गये। उनको अकेले देख मृष्टदाना रोने लगी। तब उसके आग्रह से बलभद्र दो तीन सेवकों के साथ उसे खोजने गया। इधर बलभद्र को आता देख अकृतपुण्य भय के कारण पहाड़ के ऊपर चढ़ गया। तथा पहाड़ पर गुफा के द्वार पर स्थित हो गया। उस गुफा में स्थित सुव्रत मुनि वंदना के लिए आए श्रावकों को, व्रतादि का उपदेश दे रहे थे। सबकी व्रत में अगाढ़ श्रद्धा हो गई। धर्म श्रवण के पश्चात् **'णमो अरिहंताणं'** कहते हुए सभी श्रावक गुफा से बाहर निकल गए। उधर अकृतपुण्य ने भी मुनि का उपदेश सुना पुनः उन्हीं श्रावकों के पीछे **'णमो अरिहंताणं'** कहता हुआ दूर-दूर से चलने लगा। तभी मार्ग में एक व्याघ्र ने आक्रमण कर दिया और वह मृत्यु को प्राप्त कर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।

वहाँ से च्युत होकर अवन्ती देश की उज्जैनी नगरी में सेठ धनपाल व प्रभावती के धन्य कुमार नामक अष्टम पुत्र हुआ। जिस लोकातिशायिनी सुंदरता के धनी ने असीम वैभव का भोग किया। वो जहाँ भी हाथ डालता, वहीं से स्वर्ण-रत्नादि प्राप्त हो जाते। आश्चर्यचकित करने वाले स्वपुण्य का उपभोग करते हुए धन्यकुमार ने अंत में दिगंबरी दीक्षा स्वीकार की व समाधि कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ।

सीता की कथा

मिथिला नगरी के राजा जनक व रानी विदेहा के पुण्यवान् सीता नामक पुत्री हुई। जिसका विवाह राजा दशरथ के पुत्र राम के साथ हुआ। केकया की वर याचना के अनुसार भरत का राज्याभिषेक हुआ। तत्पश्चात् राम लक्ष्मण व सीता राज्य छोड़कर वन चले जाते हैं। कर्णरवा नदी के तट पर सघन वन में मधुर फल-फूलों का भोग करते हुए आनंद के साथ समय व्यतीत कर रहे थे। किसी एक दिन द्वार प्रेक्षण करते हुए सुगुप्ति-गुप्ति नामक-आकाश-चारण ऋद्धि धारी मासोपवासी मुनिराजों को देखा।

तब राम और सीता ने मुनिराज को नवधाभक्ति पूर्वक गाय-भैंसों के ताजे घी, दूधादि निर्मित पदार्थों व खजूर, आम, नारियल आदि फलों का आहार कराया। पुनः वहाँ पंचाश्चर्य प्रकट हुए। बाद में सीता आर्यिका दीक्षा अंगीकार कर समाधि मरण कर सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई।

वज्रजंघ-श्रीमती की कथा

पूर्वविदेह के पुष्कलावती देश के उत्पलखेटपुर के राजा वज्रबाहु और रानी वसुंधरी के वज्रजंघ नामक पुत्र का विवाह पुण्डरीकिणी पुर के राजा वज्रदंत एवं रानी लक्ष्मीमती के श्रीमती नामक पुत्री से हुआ। समयानुसार श्रीमती को वीरबाहु आदि इक्यावन युगल पुत्र हुए। उनका विवाहादि कर वज्रबाहु सुख से रहा। एक दिन मेघ विद्यटन देख वज्रबाहु को वैराग्य हो गया तथा वज्रजंघ को राज्य सौप मुनि दीक्षा स्वीकार की। इधर एक दिन वज्रदन्त चक्रवर्ती व उनके अमिततेजादि 1000 पुत्रों ने

राज्य का परित्याग किया। राज्य अपने पौत्र अर्थात् अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को सौंपा। एवं दीक्षा ग्रहण की।

एक दिन अनार्य देशवासी शत्रु पुण्डरीक बालक को कुछ भी न समझ उसके देश में उपद्रव करने लगे। तब उसे रोकने के लिए लक्ष्मीमती ने विजयार्ध पर्वतस्थ गंधर्वपुर के राजा चिंतागति व मनोगति नामक विद्याधरों के द्वारा एक पत्र वज्रजंघ को भिजवाया। समस्त वृत्तांत को जान वज्रजंघ चतुरंग सेना के साथ उसी समय निकल पड़ा व मार्ग में सर्प सरोवर के किनारे डेरा डाला। उस समय वहाँ दमवर व सागरसेन नामक दो चारणमुनि चर्यामार्ग से आहार के निमित्त आए। तब श्रीमती व वज्रजंघ ने अत्यंत गद्‌गद् हो नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान दिया तथा व्याघ्र, शूकर, बंदर व नेवला ने भी प्रसन्नतापूर्वक आहार चर्या देखी।

वज्रजंघ पुण्डरीक के राज्य को स्थिर कर अपने नगर में वापिस आ गया। उसने बहुत समय तक राज्य किया। एक दिन रात्रि में शयनागार की व्यवस्था करने वाला सेवक सूर्यकांत मणिमय धूपघट में कालागरु को डालकर खिड़की खोलना भूल गया। उसके धुएँ से श्रीमती व वज्रजंघ मृत्यु को प्राप्त हुए। मुनि को आहार दान के प्रभाव से वे उत्तरकुरु में आर्य हुए। पुनः आहार दानादि के फल से राजा वज्रजंघ आगे चलकर प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभदेव हुए तथा आहार दान की अनुमोदना से वे व्याघ्रादि पशु श्री वृषभदेव के अनंत, अच्युत, वीर व सुवीर नामक चरमशरीरी पुत्र हुए।

राजा श्रीषेण की कथा

जंबूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के आर्यखंड में मलय देश के रत्नसंचयपुर नगर में राजा श्रीषेण राज्य करता था। उनकी सिंहनंदिता व अनंदिता नामक दो रानियाँ थीं। उन दोनों के क्रम से इंद्रसेन व उपेंद्रसेन नामक पुत्र थे। एक दिन आदित्य गति और अरिंजय नामक दो चारणमुनि चर्या के निमित्त राजभवन में आए। राजा ने मुनि का पड़गाहन कर विशुद्धि व भक्तिपूर्वक उनका आहार कराया। उसकी दोनों रानियों और ब्राह्मणी सत्यभामा ने आहारदान की अनुमोदना की।

एक समय इंद्र और उपेन्द्र नामक दोनों राजपुत्र अनंतमती वेश्या के निमित्त से परस्पर युद्ध में उद्यत हुए। बहुत रोकने पर भी जब वे नहीं रुके तब राजा, दोनों रानियों और ब्राह्मणी सत्यभामा ने विष पुष्प को सूंघकर अपने प्राणों का परित्याग कर लिया। आहार दान के प्रभाव से वह राजा धातकीखंड द्वीप के पूर्व मेरु संबंधी उत्तम भोगभूमि में आर्य हुआ। आहार दान की अनुमोदना से सिंहनंदिता उस आर्य की आर्या हुई। अनंदिता का जीव उसी भोगभूमि में आर्य तथा ब्राह्मणी सत्यभामा इस आर्य की आर्या हुई। इतना ही नहीं आगे चलकर राजा श्रीषेण पुण्य के प्रभाव से त्रिपदधारी 16वें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ हुए।

वृषभसेना की कथा

जनपददेश के कावेरीपत्तन नामक नगर में राजा उग्रसेन रहते थे। वहीं एक धनपति नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनश्री था। उन दोनों के वृषभसेना नाम की पुत्री थी। वृषभसेना की रूपवती नाम की धाय थी। एक दिन वृषभसेना के स्नान के जल के गड्ढे में एक रोगी कुत्ता गिरकर जब उसमें से लोटने के बाद निकला तो वह रोगरहित हो गया। उसे देखकर धाय ने विचार किया कि इसकी निरोगता का कारण पुत्री का स्नान जल ही है। तदनंतर धाय ने यह समाचार अपनी माता से कहा। उसकी माता बारह वर्ष से नेत्र-रोग से पीड़ित थी। माता ने एक दिन परीक्षा के लिए अपने नेत्र उस जल से धोये तो धोते के साथ ही उसे ठीक दिखने लगा। इस घटना के वह धाय उस नगर में सब रोगों को दूर करने वाली है, इस तरह प्रसिद्ध हो गई।

एक समय राजा उग्रसेन ने अपने रणपिंगल नामक मंत्री को बहुत सेना से युक्त कर मेघपिंगल के ऊपर भेजा। मंत्री ज्यों ही उस देश में प्रविष्ट हुआ त्यों ही विषमिश्रित पानी का सेवन करने से ज्वर से ग्रसित हो गया। जब वह लौटकर आया तब रूपवती धाय ने उसे उस जल से निरोग कर दिया। राजा उग्रसेन भी क्रोधवश वहाँ गया और ज्वर से आक्रांत हो लौटकर आ गया। रणपिंगल से जल का वृत्तांत सुनकर राजा ने भी उस जल की याचना की। तदनंतर धनश्री सेठानी ने सेठ से सलाह की कि हे श्रेष्ठिन्! राजा के शिर पर पुत्री का स्नान जल कैसे डाला जावे? धनपति सेठ ने कहा कि यदि राजा जल का स्वभाव पूछता है तो सत्य कह दिया जावेगा? उसमें दोष नहीं है। ऐसा कहने पर रूपवती धाय ने उग्रसेन राजा को उस जल से निरोग कर दिया। तदनंतर निरोगी राजा ने रूपवती से जल का माहात्म्य पूछा। रूपवती ने सब सत्य ही कह दिया। पश्चात् राजा ने सेठ को बुलाया और वह डरते-डरते राजा के पास आया। राजा ने सम्मान कर उससे वृषभसेना को विवाह देने की याचना की। तदनंतर सेठ ने कहा कि हे राजन्! यदि तुम जिनप्रतिमाओं की आष्टाह्निक पूजा करते हो, पिंजड़ों में स्थित समस्त पक्षियों को छोड़ते हो और बंदीगृह में स्थित सब मनुष्यों को बंधन-मुक्त करते हो तो मैं अपनी पुत्री देता हूँ। राजा उग्रसेन ने वह सब कर वृषभसेना को विवाह लिया तथा उसे पट्टरानी बना दिया। राजा अन्य सब कार्यों को छोड़कर अतिशय प्रिय उसी वृषभसेना के साथ क्रीड़ा करने लगा।

इसी अवसर पर वाराणसी का एक पृथिवीचन्द्र नामक राजा उसके यहाँ कैद था। उसे अत्यंत शक्तिशाली होने के कारण राजा ने वृषभसेना के विवाह के समय भी नहीं छोड़ा था। तदनंतर पृथिवीचन्द्र की जो नारायणदत्ता नाम की रानी थी उसने मंत्रियों के साथ सलाह कर, पृथिवीचन्द्र को छुड़वाने के लिए वाराणसी में सब जगह वृषभसेना रानी के नाम से ऐसे भोजनगृह खुलवाये, जिनमें किसी के प्रवेश करने का निषेध नहीं था। उन भोजनगृहों में भोजन कर जो ब्राह्मण आदि कावेरीपत्तन गये थे उनसे उस वृत्तांत को सुनकर रूपवती धाय ने रुष्ट हो वृषभसेना से कहा कि हे

वृषभसेने! तू मुझसे बिना पूछे ही वाराणसी में भोजनगृह क्यों बनवा रही है। वृषभसेना ने कहा कि मैं नहीं बनवा रही हूँ किंतु मेरे नाम से किसी कारणवश किसी अन्य ने बनवाये हैं, तुम इसका पता लगाओ। तदनंतर गुप्तचरों से पता लगाकर तथा यथार्थ बात जानकर उसने वृषभेसना से सब समाचार कहा। वृषभसेना ने यह सब राजा से कहकर पृथिवीचन्द्र को बंधन से छुड़वा दिया।

पृथिवीचन्द्र ने एक चित्रपट्ट पर वृषभसेना और उग्रसेन के चित्र बनवाये तथा उनके नीचे प्रणाम करता हुआ अपना चित्र बनवाया। वह चित्रपट्ट उन दोनों के लिए दिखाया गया और वृषभसेना रानी से कहा गया कि हे देवि! तुम मेरी माता हो, तुम्हारे प्रसाद से मेरा यह जन्म सफल हुआ है। तदनंतर उग्रसेन ने सम्मान देकर कहा कि तुम्हें सेना लेकर मेघपिंगल के ऊपर जाना चाहिए, ऐसा कहकर उन दोनों ने उसे वाराणसी भेज दिया। मेघपिंगल भी यह सुनकर तथा 'यह पृथिवीचंद्र मेरा मर्मभेदी है' ऐसा विचारकर आया और उग्रसेन से सम्मान प्राप्त कर उसका सामन्त बन गया। राजा उग्रसेन ने ऐसी व्यवस्था की राजसभा में स्थित रहते हुए मेरे लिए जो भेंट आती हैं उसका आधा भाग मेघपिंगल को दूँगा और आधा भाग वृषभसेना के लिए। इस प्रकार की व्यवस्था किये जाने पर एक दिन दो रत्नकम्बल भेंट में आये। राजा ने उसे नाम से चिह्नित कर एक-एक कम्बल दोनों के लिए दे दिया।

एक दिन मेघपिंगल की रानी विजया मेघपिंगल का कम्बल ओढ़कर किसी कार्य से रूपवती के पास गई। वहाँ उसका कम्बल बदल गया अर्थात् वृषभसेना के नाम से अंकित कम्बल को ले आई और मेघपिंगल के नाम से अंकित कम्बल को वहाँ छोड़ आई। एक दिन वृषभसेना के कम्बल को ओढ़कर मेघपिंगल सेवा के समय राजा उग्रसेन की सभा में गया। राजा उग्रसेन उस कम्बल को देखकर अत्यंत क्रोध से लाल-लाल नेत्रों वाला हो गया। मेघपिंगल, उसे उस प्रकार देख, 'यह मेरे ऊपर कुपित है' ऐसा जानकर दूर चला गया। और क्रोध से युक्त राजा उग्रसेन ने मारने के लिए वृषभसेना को समुद्र के जल में फिकवा दिया। वृषभसेना ने प्रतिज्ञा की यदि इस उपसर्ग से उद्धार पा सकूँगी तो तप करूँगी। तदनंतर व्रत के माहात्म्य से जल देवता ने उसके लिए सिंहासन आदि का अतिशय किया। यह सुनकर पश्चाताप करता हुआ राजा उसे लेने के लिए गया। वापिस आते हुए राजा ने वन के बीच एक गुणधर नाम के अवधिज्ञानी मुनि को देखा। वृषभसेना ने नमस्कार कर उनसे अपने पूर्वभव का समाचार पूछा। भगवान् मुनि ने कहा कि तू पूर्वभव में इसी नगर में नागश्री नाम की ब्राह्मण पुत्री थी और राजा के देवमंदिर में झाड़ने का कार्य करती थी। एक दिन उस मंदिर में अपरान्ह् के समय कोट के भीतर वायु रहित गहरे स्थान में मुनिदत्त नाम के एक मुनि पर्यंकासन से कायोत्सर्ग कर विराजमान थे। तूने क्रुद्ध होकर उनसे कहा कि कटक से राजा यहाँ आवेंगे, अतः तुम यहाँ से उठो, मुझे झाड़ना है। इस तरह तू कहती रही, परंतु मुनि कायोत्सर्ग कर मौन से स्थित रहे। तदनंतर तूने कचरे से उन्हें ढँककर ऊपर से झाड़ू दे दी। प्रातःकाल जब राजा

आया और क्रीड़ा करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा तब उसने श्वास के कारण ऊँचे-नीचे होते हुए उस स्थान को देखकर खुदवाया और उन मुनि को बाहर निकाला। तदनंतर तूने आत्मनिंदा कर धर्म में श्रद्धा की और उन मुनि की पीड़ा को शांत करने के लिए बड़े आदर से उन्हें विशिष्ट औषध दी तथा उनकी सेवा की। तदनंतर निदान से मरकर तू यहाँ धनपति और धनश्री के वृषभसेना नाम की पुत्री हुई है। औषधदान के फल से तुम्हें सर्वौषधऋद्धि का फल प्राप्त हुआ है। तथा कचरे से ढँकने के कारण तू कलंक को प्राप्त हुई है। यह सुनकर वृषभसेना अपने आपको राजा से छुड़ाकर उन्हीं मुनि के समीप आर्यिका हो गई। यह औषधदान का फल है।

तीर्थयात्रा

भव्वो हु तित्थजत्ताए, पावकम्माणि णस्सदे।
सुहकम्माणि अज्जेदि, मोक्खं वि लहदे तहा॥115॥

अर्थ–भव्य जीव तीर्थयात्रा से पाप कर्मों को नष्ट करता है, शुभ कर्मों को अर्जित करता है तथा मोक्ष भी प्राप्त करता है।

Potential souls destroy sinful karmas by pilgrimage, get auspicious karmas and liberation also.

भावार्थ–तीर्थ परिणाम विशुद्धि व चित्त की पवित्रता का अनुपम साधन है। कोई भी भूमि स्वयमेव पूज्य या अपूज्य नहीं होती लेकिन महापुरुषों के संसर्ग से स्थान पवित्र हो जाते हैं तब वही तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थ आध्यात्मिक उत्थान के उचित स्थान हैं। वहाँ पहुँचकर ही व्यक्ति का चित्त निर्मल होने लगता है। सहज ही उत्तम क्षमा, मार्दव आदि आत्मिक गुणों का विकास होने लगता है। तीर्थों की पवित्र वर्गणाएँ व्यक्ति के आत्मिक उत्थान में सहायक होती हैं। 'तीर्थ' का शाब्दिक अर्थ है–घाट या किनारा अर्थात् जो संसार से किनारे या उस पार कर दे।

'तीर्थते संसार-महार्णवः येन निमित्तेन तत् तीर्थमिति,'

जिस पवित्र साधन से संसाररूपी महादुःख समुद्र को पार किया जाए वह तीर्थ है।

तरति इति तीर्थं अथवा तीर्यन्ते अनेन वा जनाः इति तीर्थं।

जो लोगों को पार करता है अथवा जिसके द्वारा पार किया जाता है वह तीर्थ है।

जिनागम में रत्नत्रय, श्रुत देवता, जिन चैत्य, जिन चैत्यालय, देव-शास्त्र-गुरु, नवदेवता, पंचपरमेष्ठी, जीव, चारित्र, आत्मा आदि को तीर्थ कहा। आदिपुराण में भगवज्जिनसेनाचार्य कहते हैं–

'संसाराब्धेरपारस्य तारणे तीर्थमिष्यते'

जो इस अपार संसार सागर से पार करे, उसे तीर्थ कहते हैं। क्योंकि ये सभी भव सागर पार करने में निमित्त हैं अतः ये तीर्थ के अंतर्गत आते हैं।

स्थान के अनुसार मनोवृत्ति प्रभावित होती ही है। बुरे स्थान पर परिणाम कुछ बिगड़ने लगते हैं व अच्छे स्थानों पर जाकर उस ही अनुरूप हो जाते हैं। तीर्थ वह आलंबन है, जो आत्मसाधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। पं० आशाधर जी ने लिखा है–**'स्थूललक्षः क्रियात्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये।'**

गृहस्थ अपने तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के लिए तीर्थयात्रा आदि किया करे। यहाँ 'दृग्विशुद्धये' शब्द स्पष्ट करता है कि तीर्थ वंदना आत्म निर्मलता के प्रधान अंग सम्यग्दर्शन को परिपुष्ट करता है। भगवती आराधना में कहा है–

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिहीओ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि॥145॥

जिनदेवों के जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान और समवशरण के चिह्न, मानस्तंभ का स्थान निषीधिका का स्थान देखने वाले के सम्यक्रूप से निर्मल सम्यग्दर्शन होता है।

तीर्थस्थल वीतरागता के पोषक होते हैं। वहाँ पहुँचकर जब व्यक्ति भगवान् के गुणों का स्मरण करता है कि किस प्रकार भगवान् ने निःस्पृही होकर वैराग्य धारण कर कठोर तपस्या की और कर्मरिपुओं का संहार कर मोक्ष को प्राप्त किया, तो स्वयं ही वैराग्य का भाव पुष्ट होता है।

श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजी भवन्ति, तीर्थेषु विभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति।
तीर्थव्ययादिह नराः स्थिरसंपदः स्युः, पूज्याः भवन्ति जगदीशपथाश्रयन्तः॥

तीर्थयात्रा की अथवा तीर्थमार्ग की धूलि के सेवन से मानव पाप रहित होते हैं। तीर्थक्षेत्रों पर यात्रा करने से मानव भव-भव में भ्रमण नहीं करते हैं। तीर्थयात्रा के निमित्त संपदा का व्यय करने से इस लोक में मानव स्थायी संपदा के धनी होते हैं। अरिहंत भगवान् के मार्ग का अथवा तीर्थक्षेत्रों का आश्रय लेने से मानव पूज्य हो जाता है। तीर्थयात्रा करने वाला मानो भक्त से भगवान् बनने की ही यात्रा कर रहा हो। तीर्थयात्रा से पाप कर्म वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय होते ही अंधकार तिरोहित हो जाये।

तीर्थयात्रा करने अथवा तीर्थ का चिंतन मात्र भी जीव को अभय संपत्ति से परिपूरित कर देता है। तीर्थ पाप का संहार करने व पुण्य की उत्पत्ति में विशेष निमित्त हैं। तभी तो आचार्यों ने श्रावक को तीर्थयात्रा करने की प्रेरणा दी। आचार्य श्री शुभचंद्र स्वामी कहते हैं–

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये, ध्यानसिद्धिः प्रजायते॥

त्रेसठ श्लाका महापुरुषों से प्रभावित, कल्याणक का स्थान, पवित्र सिद्धक्षेत्र ऐसे महान् तीर्थ का ध्यान करने से परम पद तथा स्वर्गादि वैभव की सिद्धि होती है।

तीर्थस्थल चित्त की शांति के स्रोत हैं। उद्वेलित व व्यथित मन भी वहाँ शांति प्राप्त कर आनंद से परिपूरित होता है। वहाँ पहुँचकर परिणाम स्वयं ही विशुद्ध होने लगते हैं। परमात्मा से कुछ निकटता का अनुभव होता है। जैसे किसी प्रिय इष्ट व्यक्ति से संबंधित स्थान उस व्यक्ति की याद दिलाता है उसी प्रकार तीर्थंकरों के जन्म, केवलज्ञान, निर्वाणादि स्थली पर पहुँचकर उनके गुणों का स्मरण हो आता है। तीर्थयात्रा करने वाला संसार से कुछ समय के लिए परांगमुख हो जाता है। पापों से विरक्त होकर पुण्य में अनुरक्त होता है। तीर्थवंदना का फल मनीषियों ने सत्पात्रदान, तप और संन्यासमरण कहा है।

'दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासना फलम्' –नी० वा०

यहाँ ग्रंथकार भी इसी प्रकार तीर्थ यात्रा के फल को कहते हैं कि तीर्थयात्रा से जीव पाप कर्मों को नष्ट करता है, पुण्य कर्मों का संचय करता है और पुनः मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

पाप विनाशिनी-जाप

दाहणत्थं हु कम्माणि, दावाणलोव्व सव्वदा।
दायगो सुह-संतीण, जम्म-पाव-विणासगो॥116॥

अर्थ–सभी कर्मों को जलाने के लिए जाप सर्वथा अग्नि के समान है वह सुख-शांति प्रदायक व जन्म-पाप की विनाशक है।

Just as all the birds flew away from a pebble thrown at a group of birds, similarly all the karmas get destroyed by chanting once.

भावार्थ–जप आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाला, परिणामों को निर्मल करने वाला, पापों को क्षय करने व पुण्य को वृद्धिंगत करने का अनुपम साधन है।

जयधवला जी में आचार्य द्वारा शंका उठाई गई कि कर्म अकृत्रिम क्यों नहीं हैं? समाधान करते हुए कहा–क्योंकि अकृत्रिम पदार्थ का विनाश नहीं बन सकता है, इसीलिए कर्म को कृत्रिम ही होना चाहिए। कृत्रिम होते हुए कर्म मूर्त हैं। फिर शंका की कि यह कैसे जाना कि कर्म मूर्त रूप ही हैं? समाधान बताया कि यदि कर्म को मूर्त रूप न माना जाए तो मूर्त औषधि के संबंध से परिणामांतर की उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् रुग्णावस्था में औषधि का सेवन करने से रोग के कारणभूत कर्मों की जो उपशांति वगैरह देखी जाती है वह नहीं बन सकते, इससे ज्ञात होता है कि कर्म मूर्त ही हैं।

यदि कहा जाए मूर्त औषधि के संबंध से रोग के कारणभूत कर्मों में परिणामांतर प्राप्ति सिद्ध नहीं है, सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि परिणामांतर की प्राप्ति के बिना ज्वर, कुष्ठ और क्षय आदि रोगों का विनाश बन नहीं सकता, इसीलिए कर्म में परिणामांतर की प्राप्ति होती है–यह सिद्ध है। जिस प्रकार कर्म कृत्रिम है उसी प्रकार मंत्र, गंधोदक आदि भी कृत्रिम हैं। मात्र अंतरंग की श्रद्धा-भक्ति के माध्यम से कृत्रिम मंत्र भी कृत्रिम कर्म को नाश करने में कारण बन जाता है। इस प्रकार जीव के कर्म भी पुद्गल हैं और मंत्रों में प्रयुक्त शब्द भी पुद्गल हैं। पुद्गल, पुद्गल को प्रभावित करने की क्षमता से युक्त है। जैसे औषधि सेवन कर शरीर का रोग ठीक हो जाता है वैसे ही मंत्र जाप से पाप कर्म विलीन होने लगते हैं। जाप के विषय में कहा भी है–

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जपेति प्रोक्तव्यः जन्म-पाप-विनाशकः॥

जप शब्द में जो 'जकार' है वह जन्म का नाश तथा 'पकार' पाप का नाश करने के अर्थ में है। इस प्रकार 'जप' शब्द का अर्थ जन्म व पाप का विनाश करने वाला कहा गया है। वा किसी शब्द विशेष का पुनः पुनः उच्चारण करना जप कहलाता है। **जपः स्यादक्षरावृत्तिः।**

वैखरी, उपांशु, मानस और सूक्ष्म के भेद से जप चार प्रकार की कही गयी है। **'जपः चतुर्विधः वैखरी उपांशु मानसः सूक्ष्मश्चेति'**

मंत्र बोलते समय ओंठ और जिह्वा हिलना, अपने एवं दूसरों के कानों में सुनाई देना, वह वैखरी जप है। वैखरी द्रव्याक्षर कंठ से उत्पन्न होने वाली वाणी उच्च और गंभीर सुनाई दे। जो शब्द शरीर के वाहिनी सिराओं में भ्रमण करते हैं, उनका प्रभाव आत्मा एवं शरीर पर भी पड़ता है।

मंत्र बोलते समय ओंठ और जिह्वा का किंचित् हिलना यह उपांशु जप है।

जिह्वौष्ठौ चालयेत् किञ्चिद्देवतागतमानसः।
जिनश्रवणयोग्यः स्यादुपांशु स जपः स्मृतः॥ (पद्मचंद्रकोश)

जिह्वा और ओष्ठ को किंचित् हिलाकर मन में प्राप्त इष्ट देवता, आराध्य, पंचपरमेष्ठी का जाप करना, सबको नहीं सुनने योग्य वा मात्र जिनश्रवण योग्य वह उपांशु जप कहलाता है। जिह्वा का न्यास-कंपन हो किंतु शब्द-घोष न हो उसे ही उपांशु जप कहते हैं।

मंत्र बोलते समय ओंठ और जिह्वा का नहीं हिलना एवं मन से जाप करना मानस जप है। मानस जप को निगूढ़ाक्षर जप भी कहते हैं। सूक्ष्म जप के विषय में बताया कि **'णमो अरिहंताणं'** बोलने का विकल्प समाप्त हो गया और **'णमो सिद्धाणं'** बोलने का विकल्प अभी नहीं आया, इसके बीच में जो निर्विकल्प रूप ध्यान है वह सूक्ष्म जप है। इन चारों प्रकार की जप का फल उत्तरोत्तर अधिक है। यशस्तिलक चंपू में आचार्य सोमदेव सूरी इनका फल इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं–

वचसा वा मनसा वा कार्यो जाप्यः सव्यहितस्वान्ते।
शतगुणमाद्ये पुण्ये सहस्रसंख्यं द्वितीयं तु॥

वाचिक (वैखरी) जप से उपांशु शतगुण पुण्य और उपांशु जाप की अपेक्षा मानस जप में सहस्रगुणा पुण्य होता है। मानस जप भी ध्यान का अभ्यास रूप है। सूक्ष्म अन्तर्जल्प है। अर्थात् वैखरी जाप करने से 25 प्रतिशत, उपांशु जाप करने से 50 प्रतिशत, मानस जाप करने से 75 प्रतिशत और सूक्ष्म जाप करने से आत्मा को 100 प्रतिशत लाभ मिलता है। और भी कहा है–

वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गो कार्यो जाप्यः स वाचकः।
पुण्यं शतगुणं चैव, सहस्रगुणमाहवेत्॥9/14॥ अ. ध.

कायोत्सर्ग के समय अनगार साधु को वाचनिक एवं उपांशु जप जपना चाहिए। वह वैखरी जप (वाचनिका) सौगुणा पुण्य संचय करने वाला है और उपांशु जप सहस्रगुणा पुण्य का संचय करता है।

जैसे अग्नि समस्त ईंधन को नष्ट कर डालती है उसी प्रकार जप रूपी अग्नि कर्म रूपी ईंधन को नष्ट कर देती है। मंत्र का प्रभाव अचिंत्य है। अतः कल्याण के इच्छुक भव्य जीवों को सुख शांति को देने वाला ऐसा जप करना चाहिए।

कर्म विमोचिनी-जाप

पक्खित्त-कंकरेगादो, उड्डंति सव्व-पक्खिणो।
कम्माणि हु विणस्संति, तहा जावेण एगदा।।117।।

अर्थ–जिस प्रकार पक्षियों के समूह में फेंके हुए एक कंकड़ से सभी पक्षी उड़ जाते हैं उसी प्रकार एक बार जाप करने से कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

Chanting is like a fire to burn all the karmas. It is provider of tranquility and destroyer of birth and sins.

भावार्थ–ग्रंथकार उदाहरण के माध्यम से जप के महत्त्व को पाठकों के अंतस्थल तक पहुँचा रहे हैं। मंत्र जप आरोग्य, दीर्घायु, महाबल, कीर्ति, यश संपदा तथा सुख-शांति प्रदान करने वाला है। समस्त आधि-व्याधि, विष एवं ज्वरों को नष्ट करने में समर्थ है। मंत्रों का प्रभाव तो तब भी ज्ञात हुआ जब द्वादशांग जिनवाणी के ग्यारह अंग स्मृत होने पर बारहवें अंग दृष्टिवाद के कुछ अंश के संरक्षण व संवर्द्धन के लिए दो मुनिराजों को बुलवाया था जिससे श्रुतपरंपरा अविच्छिन्न रूप से चलती रहे।

तब ज्ञानार्जन हेतु पहुँचे पुष्पदंत व भूतबली मुनिराज की परीक्षा मंत्रशास्त्र के माध्यम से ली। उन्हें हीनाधिक अक्षर वाले दो मंत्र देकर सिद्ध करने को कहा। दोनों मुनिराजों ने जब अशुद्ध मंत्र सिद्ध किया तो हीनाधिक अंगों वाली दो देवियाँ प्रकट हुईं। मुनिराजों ने यह जानकर कि देव-देवी इस प्रकार के नहीं होते, मंत्रों का व्याकरण शास्त्र से परीक्षण कर उन्हें शुद्ध किया। पुनः मंत्र सिद्ध करने पर सर्वांग सुंदर दो देवियाँ प्रकट हुईं। मंत्र की शुद्धता, उसके महत्त्व व प्रभाव को यह कथा समीचीन रूप से दर्शाती है। जिनेंद्र प्रभु के मंत्रादि जाप से अनेक रोग दूर होते हैं। आचार्य शुभचंद्र स्वामी ज्ञानार्णव ग्रंथ में कहते हैं–

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमाद्यं,
कुष्ठोदरात्मकसन-श्वसनादिरोगान्।
प्राप्नोति चाप्रतिभवाङ्महती महद्भ्यः,
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम्।।

मंत्र जाप से योगी क्षय रोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास तथा श्वांस आदि रोगों को जीतता है और वचनसिद्धता, महान् पुरुषों से पूजा तथा परलोक में उत्तम पुरुषों से प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है।

मंत्रादि के संयोग से तो जल भी पीड़ा को दूर करने में समर्थ होता है। आचार्य कुमुदचंद्र स्वामी भी कल्याण मंदिर स्तोत्र में इसी बात को कहते हैं–

पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं,
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति॥

पानी में 'यह अमृत है'–ऐसा विश्वास करने से मंत्रादि के संयोग से वह पानी भी विषविकारजन्य पीड़ा को नष्ट कर देता है। मंत्र युक्त वह जल सर्वश्रेष्ठ चमत्कारिक औषधि बन व्यक्ति को रोग मुक्त कर देता है।

कहा जाता है कि मानव शरीर में 60 प्रतिशत जल होता है, मस्तिष्क में 85 प्रतिशत जल है, रक्त में 79 प्रतिशत जल है तथा फेफड़ों में 80 प्रतिशत जल होता है। जल में मंत्र ग्रहण की क्षमता अधिक होती है। निरंतर मंत्रोच्चारण से शरीर भी शक्तिमय हो जाता है। सुदृढ़ व पॉजिटिव ऑरा बनता है। रोग प्रतिरोधक क्षमता के साथ-साथ दु:ख पीड़ादि रोधक क्षमता भी वृद्धिंगत होती है। सकारात्मक शक्ति बढ़ती है। पाप कर्मों का क्षय होता है। ग्रंथकार यहाँ उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार पक्षियों के समूह में एक कंकड़ फेंकने मात्र से सभी पक्षी उड़ जाते हैं उसी प्रकार एक बार के मंत्र को जप वा स्मरण से आत्मा पर लगे कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जयधवला जी (पु-1) ग्रंथ में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री वीरसेन स्वामी जप फल बताते हुए कहते हैं–

'अरिहंत णमोक्कारो सपाहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खय-कारगोत्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो।'

अर्थात् अरिहंत पंच नमस्कार महामंत्र का जाप तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा का कारण है, इसीलिए सराग संयम के समान उसमें भी निर्वृत्तिमार्गी मुनियों की भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

इस प्रकार जप कर्मनिर्जरा में कारणभूत है, मंत्र के माध्यम से कर्म नष्ट होते हैं व जीव निर्वाण लक्ष्मी के मुखावलोकन में समर्थ होता है।

तप

तवो णस्सदि कम्माणि, तवो हु मोह-णासगो।
तवेण पुज्जदा लोगे, तवो णिव्वाण-साहणं।।118।।

अर्थ–तप कर्मों को नष्ट करता है, तप ही मोह-नाशक है, तप से लोक में पूज्यता प्राप्त होती है तथा तप निर्वाण का साधन है।

Austerity destroys karmas and it is the only destroyer of infatuation (***moha***). Austerity makes- the people adorable in the world and austerity is the means of salvation.

भावार्थ–उपवास शब्द 'उप' उपसर्गपूर्वक 'वस्' धातु से व्याकरण के नियमानुसार निष्पन्न हुआ है उप अर्थात् समीप 'वास' अर्थात् वास करना। उपवास का अर्थ है समीप में वास करना। किसके समीप में वास करना है इसका समाधान देते हुए आचार्य अमितगति स्वामी कहते हैं कि इंद्रियों के विषयों से हटाकर अपने आत्म स्वरूप में लीन होना उपवास है। उपवास वह है जो तन और मन को निरोगी बना देता है। उपवास वह सारथी है जो आत्मारूपी रथ के इंद्रिय और मन रूपी घोड़ों को वश में रखता है। उपवास वह सेतु है जो आत्मा और परमात्मा के बीच का अंतर समाप्त कर देता है।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी इस शरीर को यंत्र की उपमा देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार गतिशील मनुष्य द्वारा चलाया जाने वाला यंत्र स्वयं गति से रहित होता है उसी प्रकार जीव द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर रूपी यंत्र भी जड़ है। अर्थात् यह शरीर भी एक यंत्र है अतः जैसे यंत्र के लगातार कार्य करते रहने से गर्म हो जाता है और भीतर कुछ न कुछ गड़बड़ियाँ आ जाने से कुछ समय विश्राम देना और अंदर से साफ-सफाई कर गड़बड़ियों को ठीक करना अनिवार्य हो जाता है, तभी वह आगे भी सुचारू रूप से कार्य कर सकता है वैसे ही हमारा शरीर भी दुनिया का सबसे बड़ा अकृत्रिम यंत्र होने से विश्राम और सफाई चाहता है।

नींद से बाह्य देह को तो विश्राम मिल जाता है किंतु शरीर की भीतरी सफाई और पेट को विश्राम मात्र उपवास से ही संभव है। जैसे किसी गाड़ी के प्लग में थोड़ी सी भी कार्बन जम जाने से वह स्टार्ट नहीं होती वैसे ही हमारा शरीर है जिसे चलाने के लिए भोजन रूपी पेट्रोल डालने पर पेट में अशुद्धि रूपी कार्बन जम जाता है। उपवास उसे ठीक करने वाला सर्वश्रेष्ठ शॉपिंग वर्क्स है।

असंयमित और अधिक भोजन से कब्जियत बनी रहती है उसके ऊपर और भोजन डालने से उसे बाहर करने के लिए पाचनतंत्र को अधिक श्रम करना पड़ता है जिससे शरीर को आवश्यक ऊर्जा मिलने के बजाय संचित ऊर्जा खर्च हो जाती है और सिरदर्द, एसिडिटी, दर्द, अल्सर इत्यादि रोग पैदा हो जाते हैं यहाँ तक की एपेन्डिक्स, हार्ट अटैक, कैंसर, मधुमेह जैसे भयानक रोग भी हो

जाते हैं। उपवास इन सब रोगों से मुक्त रखने वाला महान वैद्य है और रामबाण औषधि है।

उपवास रखने से शरीर का प्रतिरक्षा तंत्र मजबूत होता है। उपवास से ट्यूमर तक के टुकड़े हो जाते हैं। यह सब तो वैज्ञानिक तथ्य हैं।

तप श्रावक का आवश्यक कर्त्तव्य है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री वीरसेन स्वामी के श्रावकों के 4 आवश्यक कर्त्तव्य कहे **'दाणं पूयासीलमुववासो सावयधम्मो'** दान, पूजा, शील और उपवास। तप-उपवास करने से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है, अभ्युदय सुख के साथ निःश्रेयस सुख की प्राप्ति होती है। मनीषियों ने कहा है–

यस्मात्तीर्थकृतो भवन्ति भुवने भूरिप्रतापाश्रया-
श्चक्रेशा हरयो गणेश्वरबलाः क्षोणीभृतो वज्रिणः।
जायन्ते बलशालिनो गतरुजो यस्माच्च पूर्वर्षिभिः,
यच्चक्रे घनकर्मपाशमथनं जीयात्तपस्तच्चिरम्॥

जिससे मनुष्यलोक में अतिशय प्रताप के आधारभूत तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, गणपति, बलभद्र, राजा तथा इंद्र होते हैं, जिससे मनुष्य बलिष्ठ तथा नीरोग होते हैं, पूर्व ऋषियों ने जिसे धारण किया है तथा जो कर्म रूपी सुदृढ़ पाश को खंडित करने वाला है, वह तप सदा जयवंत रहे।

तप से मनुष्य की यश-कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त होती है। धन-पद-प्रतिष्ठा वा वस्तु जो तीनों लोक में चाहे कहीं पर भी स्थित हो प्राप्त होती है। श्रावक के लिए णमोकार मंत्र, भक्तामर, जिनसहस्रनाम, चौंसठ ऋद्धि, दसलक्षण सोलहकारण, मौन एकादशी, रोहिणी, अश्विनी, मोक्ष सप्तमी, अनन्तचतुर्दशी, रविव्रत, श्रुतपंचमी, लब्धि विधान, पुष्पांजलि, जिन गुण संपत्ति आदि व्रतों का करना तप है। तप की अग्नि कर्म रूपी वन को जलाकर नष्ट कर देती है। तप ही एक ऐसी औषधि है जो जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों का शमन कर सकती है।

तप एक ऐसा योद्धा है जो पंचेन्द्रिय रूपी शत्रुओं के साथ समस्त पापों को निरस्त कर देता है। तप एक ऐसा कामदेव है जो मुक्ति रूपी लक्ष्मी को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। तप एक ऐसा वज्र है जो विधि शैल को चूर कर देता है। तप एक ऐसा यान है जो संसार से निकालकर मोक्ष महल तक पहुँचा देता है। तप से मोह ऐसे विगलित होता है जैसे समवशरण में श्री जिनेन्द्र की वाणी सुन भव्य का मिथ्यात्व विगलित हो जाता है। तप एक ऐसा वृक्ष है जिस पर स्वर्गादि वैभव के पुष्प व मोक्ष रूपी फल लगते हैं।

कर्मपर्वतनिपातनवज्रं, स्वर्गमुक्तिसुखसाधनमंत्रं।
मन्मथेन्द्रिय दमं शुभबीजं, त्वं तपः कुरु समीहितदातृ॥

जो कर्म रूपी पर्वत को गिराने में वज्ररूप है, स्वर्ग और मोक्ष संबंधी सुख को प्राप्त कराने का मंत्र है, कामेन्द्रिय का दमन करने वाला है, शुभ का कारण है तथा इच्छित वस्तु को देने वाला है ऐसे तप को भव्यजन करें। और भी कहा है–

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना,
दावाग्निं न यथापरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरम्।
निष्णातः पतनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं,
कर्मौधं तपसा विना किमपरो हन्तुं समर्थस्तथा॥

जिस प्रकार दावानल के बिना अटवी को जलाने के लिए दूसरा समर्थ नहीं है, जिस प्रकार दावानल को शांत करने के लिए मेघ के बिना दूसरा समर्थ नहीं है और जिस प्रकार मेघ को नष्ट करने के लिए पवन के बिना अन्य समर्थ नहीं है उसी प्रकार कर्मसमूह को नष्ट करने के लिए तप के बिना अन्य कोई समर्थ नहीं है।

अतः श्रावक को प्रयत्नपूर्वक व्रत उपवासादि करने चाहिए जिससे कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर सके।

उपवासं विना जेतुं शक्या नेन्द्रियमन्मथः।
सिंहे नैव विदार्यते, कुंजरा मदमंथरा॥2/18॥

आदिपुराण में भगवज्जिनसेनाचार्य कहते हैं कि उपवास के बिना इंद्रियाँ व कामदेव जीते नहीं जा सकते क्योंकि वन के बड़े हाथियों को तो केवल सिंह ही मार सकता है।

स्वाध्याय

सुणदि धम्म-सत्थं च, जो सुधम्मं हु कंखदे।
जाणदि परमट्ठं वि, एसो जिणेण भासिदं॥119॥

अर्थ–जो धर्म की आकांक्षा करता है और धर्म शास्त्र को सुनता है वह परमार्थ को भी जानता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया है।

He who aspires for religion and listens to scriptures, also knows the very true reality. This has been said by ***Jinendra Deva***.

भावार्थ–अज्ञान तिमिर में भटका हुआ जीव धर्म का आश्रय ना पाता हुआ संसार रूपी सघन वन में भटकता रहता है सन्मार्ग के दर्शन का विरोधी होने से अज्ञान से भयंकर कोई अंधकार पृथ्वी पर नहीं है। अज्ञान वा मिथ्यात्व तम को नष्ट करने में जिनेन्द्र भगवान् की वाणी ही समर्थ है। कल्याण के इच्छुक भव्य धर्म का आचरण व श्रवण चाहते हैं। और धर्म का श्रवण करने वाला भव्य जीव संसार की यथार्थता को जानते हुए सम्यक् पथ व सम्यक् मंजिल के लिए प्रयासरत होता है।

धर्म श्रवण अभ्यंतर चक्षुओं के लिए अंजन शलाका है। इसी से ही दिव्य दृष्टि का वरदान प्राप्त किया जा सकता है। संसार की आकुलता-व्याकुलता से ऊपर उठने के लिए यह एक उपकारी साधन है। धर्म शास्त्र की मंदाकिनी चित्त पर जमी विषयकषायों की पंक को प्रक्षालित कर उसे पावन व निर्मल बनाती है। और पवित्र चित्त का धारण ही परमार्थ को जान सकता है।

आचार्य श्री जटासिंहनंदी जी महाराज ने वरांग चरित्र में कहा भी है–

तस्माद् हि धर्मश्रवणानुरागा, भवन्तु सर्वे शुभमाप्तुकामाः,
जित्वा जरारातिरुजश्च मृत्युं, भवन्ति वन्द्या भुवनत्रयस्य॥3/47॥

अतः जो प्राणी अपने उद्धार के लिए व्याकुल हैं उन सबको धार्मिक चर्चाओं के श्रवण और मनन की ओर अपनी रुचि को प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिए क्योंकि धर्म के तत्त्वों का सतत् अनुशीलन करके ही ये प्राणी जन्म-रोग-जरा-मरण आदि समस्त सांसारिक उत्पातों को जीतकर तीनों लोकों के वंदनीय होते हैं।

परमार्थ की ओर गमन करने के लिए धर्म शास्त्रों का पठन, श्रवण व चिंतन राजमार्ग है। शास्त्राध्ययन से ज्ञान प्रकट होता है, ज्ञान से जीवादिक तत्त्वार्थों का संग्रहण होता है और उस तत्त्वार्थ-परिज्ञान से तत्त्वविषयक श्रद्धान उत्पन्न होता है। रत्नत्रय के मध्य में सम्यग्ज्ञान की स्थिति है। वह सम्यग्ज्ञान स्वाध्याय-परिणाम है। ज्ञानाराधना का लक्षण धर्म शास्त्रों का अध्ययन, श्रवण–स्वाध्याय ही है सम्यग्ज्ञान से सम्यक्चारित्र उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह स्वाध्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मूल है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र इन तीनों का एकपना मोक्षमार्ग है। इस प्रकार धर्म श्रवण वा शास्त्राध्ययन वा स्वाध्याय मोक्षमार्ग का मूल है।

श्रुतज्ञान ही व्यक्ति के कल्याण में सर्वप्रथम निमित्त बनता है। श्रुतज्ञान रूप कारण से केवलज्ञान रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। आचार्य भगवन् श्री विद्यानंदी स्वामी के अनुसार भी संपूर्ण पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान की उत्पत्ति पूर्ववर्ती द्वादशांग श्रुतज्ञान रूप कारण से होती मानी गई है। अतः इसका माहात्म्य अचिंत्य है। इसी के द्वारा जीव परमार्थ को जानने में समर्थ होता है, उसे सिद्ध करता है।

संभाव्य सम्यङ्मतिभाजनेन, सद्धर्ममार्गश्रुतितोयधाराम्।
श्रद्धान्विताः साधु पिबन्ति ये तु, ते यान्ति जन्मार्णवदूरपारम्॥3/45॥

जो भव्य जीव समीचीन जैन धर्म-शास्त्र रूपी धारा के जल को मत्सर आदि दोषहीन सद्बुद्धि रूपी पात्र में आदरपूर्वक भर लेते हैं और परमश्रद्धा के साथ भलीभाँति पीते हैं, समझते हैं वे जन्म-मरण रूप संसार महार्णव को सरलता से पार करके बहुत दूर (सर्वार्थसिद्धि, मुक्ति) निकल जाते हैं। धर्म शास्त्र, श्रवण, चिंतनादि के माहात्म्य को बताते हुए और भी कहते हैं–

धर्मशास्त्रश्रुतौ शश्वत्, लालसं यस्य मानसं।
परमार्थं स एवेह सम्यग्जानाति नापरः॥

जिसका मन धर्मशास्त्र के सुनने में सदा लालसायुक्त रहता है वही इस जगत् में परमार्थ को अच्छी तरह जानता है, अन्य नहीं।

इस प्रकार परमार्थ को जानने वा सिद्ध करने के इच्छुक महानुभावों को प्रयत्नपूर्वक धर्माचरण व धर्म शास्त्रों का श्रवण करना चाहिए।

स्वाध्याय परम तप

अप्पाणं जिणसुत्ताणं, सज्झायज्झयणाणि य।
विणस्सदे महण्णाणं, सज्झाओ परमो तवो॥120॥

अर्थ–आत्मा के लिए सदा जिनसूत्रों का स्वाध्याय व अध्ययन महा अज्ञान को नष्ट करता है। स्वाध्याय परम तप है।

Always studying ***Jinasutras*** (scriptures) for soul, destroys the great ignorance. ***Swadhyaya*** is the great austerity.

भावार्थ–आत्मा पर छायी शाश्वत निशा के तमाछिन्न वातावरण में यह जीव अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है और वह शर्वरी भी ऐसी जिसमें सुधांशु का भी पता नहीं है। ऐसे में इस जीव को कितने दु:खों का निर्वहन करना पड़ता है। प्रकाश के अभाव में ठोकरें, कंटकादि चुभने आदि का कष्ट तो स्वाभाविक ही है। ऐसे मार्ग को प्रकाशित करना अत्यंत आवश्यक है। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश जब तक चेतना के धरातल पर नही होता तब तक वह हेयोपादेय, कार्य-अकार्य को जानने में समर्थ नहीं होता। आचार्य भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी 'समयसार कलश' में प्रतिपादित करते हैं–

अज्ञानात् मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातु मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जना:।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाधिव-
छुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्री भवन्त्याकुला:॥

जैसे संध्या के समय, जब थोड़ा-थोड़ा अंधेरा होने लगता है, तब रस्सी को साँप समझकर अज्ञान के कारण लोग भागने लगते हैं। जेठ के महीने में प्रचंड गर्मी है, लू चल रही है, सब ओर त्राहि-त्राहि हो रही है तब प्यास से आकुल हरिण लू की किरणों को जल समझकर भागता है, दौड़ता जाता है, उसे पानी कहीं नहीं मिलता और वह प्यास का मारा अपने प्राण त्याग देता है। ऐसे ही संसारी प्राणी धर्म व अध्यात्म का ज्ञान न होने से संसार की बातों में सुख है–ऐसा समझकर यूँ ही दौड़-दौड़कर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अत: अज्ञान को दूर करना अनिवार्य है।

जिस प्रकार सूर्य का उदय संपूर्ण भूमंडल को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान का मिहिर चेतना के क्षितिज पर जैसे ही उदीयमान होता है वैसे ही आत्मा का एक-एक प्रदेश प्रकाशित हो जाता है। शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीप है। यह सूर्यप्रभा से भी बढ़कर है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब मनुष्य दीपक से देखता है और जब दीपक भी बुझ जाता है तो सर्वत्र अंधकार छा जाता है किंतु उस समय सम्यक् शास्त्राध्ययन वा स्वाध्याय ही आत्मभूमि में आलोक आविर्भूत करता है। स्वाध्याय से उत्पन्न आलोक कभी तिमिरग्रस्त नहीं होता। स्वाध्याय से ही स्वधर्म-स्वशील को जाना जा सकता है।

आलोकेन विना लोको मार्गं नालोकते यथा।
विनागमेन धर्मार्थी धर्माध्वानं जनस्तथा।।

जिस प्रकार प्रकाश के बिना लोक मार्ग को नहीं देखता, उसी प्रकार धर्मेच्छुक मनुष्य आगम ज्ञान के बिना धर्म को नहीं जानता। सम्यग्ज्ञान वह प्रकाश स्तंभ है जिसके द्वारा हित-अहित, कुमार्ग व समीचीन मार्ग, हेयोपादेय का परिज्ञान स्पष्टतया किया जा सकता है। अतः श्रावक को स्वाध्याय हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति के विषय में कहा कि जैसे कामी पुरुष को नारी प्रिय लगती है, लोभी को पैसा प्रिय लगता है, उसी प्रकार जिसे भक्ति प्रिय लगे, वही भगवान् को पा सकता है।' ठीक यही बात स्वाध्याय के लिए भी है। जो व्यक्ति अध्ययन के लिए अपने को अन्य सभी ओर से एकाग्र कर लेता है वही स्वाध्याय-देवता के साक्षात्कार का लाभ उठाता है। अध्ययनशील व्यक्तियों ने संघर्षों में भी अध्ययन किया। जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् पं. हरिनारायण जी पुरोहित ने बाजार में किसी पठनीय पुस्तक को बिकते हुए देखा। उस समय उनके पास पैसे नहीं थे, अतः उन्होंने अपना कुर्ता उतारकर उस ब्रिकेता के पास गिरवी रख दिया और पुस्तक घर ले गए। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज गृहस्थावस्था में प्रतिदिन स्वाध्याय हेतु मीलों दूर जाते थे। धर्म-ग्रंथों का दैनिक पारायण करने वाले सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज के गहन, गंभीर अध्ययन से परिचित लोग उन्हें चलती-फिरती लाइब्रेरी कहते थे। स्वाध्याय में उनका श्रम अकथनीय है। जिन्होंने प्रतिदिन 1 श्लोक याद करने के नियम का पालन जीवनभर किया।

'स्वाध्यायान् मा प्रमद' अर्थात् स्वाध्याय के विषय में प्रमाद मत करो। यह परम तप है। ग्रंथकार अज्ञान तम को नष्ट करने वाले स्वाध्याय को परम तप कहते हैं। सिद्धांतसार में भी कहा है–

सर्वेभ्यो यद्व्रतं मूलं स्वाध्यायः परमं तपः।
यतः सर्वव्रतानां हि स्वाध्यायो मूलमादितः।।11/20।।

समस्त व्रतों का मूलव्रत स्वाध्याय है। यह परमतप है। संपूर्ण व्रतों का यह आदि मूल है। अथवा अन्य भी कहा है–

मनोवेत्ति हि सर्वार्थान्, करो गृह्णाति पुस्तकम्।
तदिन्द्रियनिरोधेन स्वाध्यायः परमं तपः।।

मन समस्त अर्थ को जानता है, हाथ तो मात्र पुस्तक पकड़ता है इसीलिए इन्द्रियों के निरोधपूर्वक किया गया स्वाध्याय परम तप है।

तप के भेदों मे स्वाध्याय को अभ्यंतर तप के अंतर्गत परिगणित किया गया है क्योंकि स्वाध्याय मन रूपी गज पर अंकुश है। मन वश में होने से मनुष्य इंद्रियों को नियंत्रित करता है व कर्मों का क्षय करता है। इस प्रकार ग्रंथकार श्रावकों को समीचीन शास्त्र अध्ययन का निर्देश उनके कल्याणार्थ देते हैं।

वात्सल्य गुण

धम्मिणो पडि होदव्वं, वच्छल्लं वच्छ-गो-समं।
णिम्मल-चित्त-पुण्णाण, तित्थपदस्स कारणं॥121॥

अर्थ–धर्मियों के प्रति गाय-बछड़े के समान वात्सल्य होना चाहिए वह निर्मल चित्त, पुण्य व तीर्थंकर पद का कारण है।

Affection (***Vatsalya***) should be like cow-calf relations toward righteous people. It is the cause of pure heart, merits and the post of Tirthankara

भावार्थ–एक बार गुरुवर श्री ने संघ में सभी से पूछा कि सम्यक्त्व का कौन सा अंग महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा–यूँ तो सभी अंग स्वयं में बड़े महत्वपूर्ण हैं। एक भी अंग से हीन सम्यक्त्व उसे अधूरा कर देता है। जिस प्रकार अक्षर रहित मंत्र वा मात्रा की भी कमी वाला मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं करता उसी प्रकार आठों अंगों में से एक भी अंग से रहित सम्यग्दर्शन जन्म-मरण रूप संसार की परंपरा का नाश करने में समर्थ नहीं होता।[1] फिर भी हम जिसे सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझते हैं वह कोई भी एक अंग बताएँ। सभी मुनि, आर्यिका, त्यागी व्रतियों ने अलग-अलग उत्तर दिए। सबके उत्तर के पीछे का दृष्टिकोण भी उनसे पूछा गया।

सभी के उत्तर देने के पश्चात् गुरु जी ने कहा की वात्सल्य अंग ऐसा है जो सभी से अनुस्यूत है। शरीर में आठ अंग होते हैं दो हाथ, दो पैर, हृदय, पीठ, नितंब, मस्तक। सम्यक्त्व के 8 अंगों में नि:शंकित व नि:कांक्षित दो पैर, निर्विचिकित्सा व अमूढ़दृष्टि दो हाथ, उपगूहन नितंब, स्थितिकरण पीठ, वात्सल्य हृदय और प्रभावना मस्तक के समान है। हाथ, पैर, पीठ के अभाव में व्यक्ति जी सकता है, मस्तक के बिना भी कदाचित् कुछ समय के लिए जीवित रह सकता है। इतिहास साक्षी है कितने देशभक्त शरीर से धड़ अलग होने के बाद भी युद्ध में डटे रहे किंतु हृदय के अभाव में वह क्षण भर नहीं जी सकता। जिस प्रकार शरीर में हृदय बहुत महत्वपूर्ण होता है उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी शरीर में वात्सल्य बहुत महत्वपूर्ण होता है।

अपने धर्म या दूसरे के धर्म की रक्षा भी वात्सल्य से ही संभव है। दूसरों को धर्म मार्ग की प्रेरणा देना भी वात्सल्य से ही संभव है। वात्सल्य को परिभाषित करते हुए आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं–

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥17॥ – र. श्रा.

---

1. **नांगहीनमलं छेत्तुं, दर्शनंजन्मसंततिं।**
न हि मंत्रोऽक्षरोन्यूनो, निहंति विषवेदनाम्॥21॥ – र. श्रा.

अपने सहधर्मी बंधुओं के समूह में रहने वाले लोगों के प्रति अच्छे भावों से सहित और माया-छल-कपट से रहित उनकी योग्यता के अनुसार आदर-सत्कार करना, वात्सल्य गुण कहा जाता है।

व्यक्ति की वह भावना जिससे अनाथ भी स्वयं को सनाथ समझने लगे वह वात्सल्य है। दो वस्तुओं को जोड़ने के लिए फेविकॉल या अन्य स्निग्ध सोल्यूशन्स आदि की जरूरत होती है और मानव को मानव से जोड़ने के लिए वात्सल्य की आवश्यकता होती है। जब मानवों में जुड़ाव होता है, जब साधर्मी एक-दूसरे का विरोध करना छोड़कर उनके साथ खड़े हो जाते हैं तब धर्म, देश व राष्ट्र की उन्नति प्रारंभ हो जाती है।

एक बार किसी विदेशी बादशाह ने अपने दरबार में पूछा कि भारत के राजा चिरंजीवी क्यों होते हैं? मंत्री आदि सभी ने बादशाह को विभिन्न उत्तर दिए किंतु उससे उसकी संतुष्टि न हुई। बादशाह ने कहा ठीक है इसका उत्तर भारत के राजा से ही लिया जाए और इस हेतु अपने पाँच सौ सुभट भारत भेजे। उन सुभटों ने पहुँचकर राजा को प्रणाम किया और प्रश्न उनके सामने रख दिया। राजा ने कहा 'आप लोग लंबी यात्रा से आएँ हैं, पहले विश्रामादि कर लें। विश्राम, भोजनादि कर फिर वे सुभट राजा के पास पहुँच गए। राजा ने कहा आप जहाँ रुके हैं उसके सामने एक नीम का पेड़ है जब वह नष्ट हो जाएगा उस दिन मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगा।

यह सुनकर सुभटों को चिंता हुई, क्या पता यह वृक्ष कब नष्ट होगा? इतना हरा-भरा वृक्ष है, यह तो नष्ट हो ही नहीं सकता और बिना उत्तर लिए हम वापिस जा नहीं सकते। अब बस इसी ऊहापोह में सब दिन-रात कटने लगे। एक ही विचार उनके मन में चलता रहता कि यह वृक्ष कब सूखे, कब नष्ट हो। आखिर उन पाँच सौ सुभटों की दुर्भावनाओं के कारण वह वृक्ष नष्ट हो गया। वृक्ष को नष्ट देख वे सुभट राजा के पास गए और खुश होकर बोले महाराज! वृक्ष नष्ट हो गया है अब आप हमारे प्रश्न का उत्तर दें। राजा ने कहा–आपके प्रश्न का उत्तर मैं दे चुका हूँ। भारत की प्रजा अपने राजा के प्रति हमेशा सद्भावनायें रखती है उसके अधिक से अधिक जीने की कामनायें करती है इसलिए वह ज्यादा जीता है। और उसका कारण यह है कि भारत के राजा अपनी प्रजा के प्रति वात्सल्य भाव रखते हैं।

वात्सल्य की भाषा संसार का प्रत्येक प्राणी समझता है। शब्दों को बहरा व्यक्ति नहीं सुन सकता और सैद्धांतिक, नैयायिक उपदेश को मंद बुद्धि वाला नहीं समझ सकता किंतु वात्सल्य का उपदेश ऐसा उपदेश है जिसे सभी सुन सकते हैं, समझ सकते हैं। वात्सल्य भाव से तो पशु भी क्रूरता को त्याग देते हैं। अमरचंद दीवान का वह वात्सल्य ही था जो शेर उनकी दो जलेबी खाकर तृप्त हुआ। बनारसी दास जी के घर चोरी करने आए चोरों में अंतिम चोर से बोरी नहीं उठ पा रही थी तो उन्होंने उसकी मदद की। बनारसी दास जी के वात्सल्य ने उनका हृदय परिवर्तन कर दिया। इतना ही

नहीं वात्सल्य से परिपूरित मुनिराज यदि वन में भी बैठ जाते हैं तो जंगल में रहने वाले हिंसक पशु भी अपने वैर-विरोध को छोड़कर प्रेमपूर्वक उनके समीप में जाकर बैठ जाते हैं। वृक्ष भी पल्लवित हो जाते है, सूखे कुएँ में भी जल भर आता है।

वात्सल्य जीवंत धर्म है। वात्सल्य सामाजिक संगठन का अमोघ सूत्र है। आचार्य श्री सोमदेव जी ने यशस्तिलक चंपू में कहा है–

यो मदात्समयस्थानामपमाने मोदते।
स नूनं धर्महा यस्मान्, न धर्मो धार्मिकैर्विना॥8/453॥

जो मनुष्य घमंड में आकर अपने साधर्मी भाइयों और मुनियों का अपमान करके प्रसन्न होता है, वह निश्चय से धर्मघातक है; क्योंकि धार्मिकों के बिना धर्म नहीं है।

अत: व्यक्ति को भी किसी का तिरस्कार, अपमान आदि नहीं करना चाहिए। आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज कहते थे 'मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ।' किसी व्यक्ति को यदि यह कहकर दूर कर दिया कि 'तुम कुछ नहीं जानते' तो वह कुछ सीख भी नहीं पाएगा और पुन: धर्म के क्षेत्र में बढ़ने का साहस भी नहीं करेगा। यदि लोग धर्म के क्षेत्र में आगे ही नहीं बढ़ेंगे तो धर्म कैसे ठहरेगा? अत: धर्मादि वृद्धि के लिए वात्सल्य श्रावक का महत्वपूर्ण गुण है।

वह वात्सल्य भी नि:स्वार्थ होना चाहिए इसीलिए ग्रंथकार ने यहाँ गाय-बछड़े का उदाहरण दिया। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति वात्सल्य भाव रखती है, उसे बछड़े से कोई स्वार्थ नहीं होता उसी प्रकार व्यक्ति के मन में भी दूसरे के लिए नि:स्वार्थ वात्सल्य की धारा प्रवाहित होनी चाहिए। मूलाराधना में कहा भी है–

चादुवण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे।
वच्छलं कादव्वं, वच्छे गावी जहा गिद्धी॥263॥

चतुर्गति रूप संसार में तिरने के कारणभूत मुनि आर्यिकादि चार प्रकार संघ में, बछड़े में गाय की प्रीति की तरह प्रीति करना चाहिए, यही वात्सल्य गुण है।

एक बार दूध, पानी के पास गया और बोला तुम्हारा बड़ा मूल्य है, तुममें पौष्टिकता है इसीलिए लोग तुम्हें बड़ा मान देते हैं। मेरा कोई मूल्य नहीं है किंतु मैं आपमें स्थान चाहता हूँ, क्या आप मुझे अपने में स्थान देंगे? दूध ने कहा–'हाँ भाई! शरणागत की रक्षा करना तो धर्म है और आगंतुक का स्वागत करना मेरा कर्त्तव्य है। दूध ने बड़े प्यार से पानी को आमंत्रित किया और अपने में मिला लिया। दूध-पानी एक हो गए। थोड़ी देर बाद हलवाई दूध को तपाने लगा तो पानी के मन में आया, जिसने मुझे शरण दी है, मैं उसे संकट में नहीं रहने दूँगा और स्वयं जलना शुरू कर दिया। जैसे ही पानी ने जलना शुरू किया तो दूध को बड़ा खराब लगा। शरणागत की रक्षा तो मेरा कर्तव्य है। यह आग पानी को जला नही सकती, मैं अभी आग को बुझा डालता हूँ। यह सोचकर दूध एकदम

उबल पड़ा। दूध में उबाल आया देख हलवाई ने तुरंत एक चुल्लू पानी उसमें डाल दिया। दूध ने देखा मेरा साथी आ गया और वह शांत हो गया।

यह नि:स्वार्थ, निश्छल वात्सल्य की धारा स्व-पर सभी के लिए आनंददायक, स्फूर्तिदायक, पवित्रता का हेतु होती है। किंतु इस वात्सल्य निर्झर में नि:स्वार्थपना अत्यंतावश्यक है। तभी तो आचार्य विद्यानंदी स्वामी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी, श्री श्रुतसागर सूरि, आचार्यश्री अकलंक देव, आचार्य श्री शिवकोटि, आचार्य श्री जिनसेन स्वामी, गुणभद्र स्वामी आदि आचार्यों ने गाय-बछड़े का यह श्रेष्ठ उदाहरण कहा। ऐसा वात्सल्य चित्त की पवित्रता व पुण्य का कारण जानना चाहिए। इतना ही नहीं यह वात्सल्य सोलह कारण भावनाओं में अंतर्निहित भी है। यह श्रेष्ठतम तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है। सोलहकारण भावनाओं में यह भावना सर्वोपरि है। यह तीर्थंकर प्रकृति रूपी मंदिर की नींव भी है और शिखर भी है अर्थात् प्रारंभ भी वात्सल्य से होता है और अंत भी। यह वात्सल्य सभी भावनाओं में अनुस्यूत रहता है।

वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्सं प्रकीर्तितं।
जैने प्रवचने सम्यक्श्रद्धानं ज्ञानवत्स्वपि।।6/24/16।।

श्लोकवार्तिक में कहा है जिस प्रकार तत्काल प्रसूता गाय अपने बच्चे में अकृत्रिम स्नेह करती है, उसी प्रकार जैन मतानुयायी अच्छे वचन सुनने वाले विद्वानों में और समीचीन श्रद्धान ज्ञान वाले जैन साधर्मी पुरुषों में भी जो पुन:-पुन: प्रमोद बहुल वत्सलता करना है वह प्रवचनवत्सलत्व भावना कही गई।

विष्णुकुमार मुनिराज जो पर्वत पर ध्यान लगाये बैठे थे जिन्हें कुछ ही क्षण में केवलज्ञान की प्राप्ति होने वाली थी लेकिन उन्हें जब क्षुल्लक जी द्वारा पता चला कि हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्यादि 700 मुनिराजों पर उपसर्ग हो रहा है तब उन्होंने अपना ध्यान छोड़कर हस्तिनापुर जाकर उनका उपसर्ग दूर किया। ये होती है वात्सल्य भावना जहाँ धर्म और धर्मी के प्रति ऐसा वात्सल्य भाव होता है कि वह सब कुछ भूलकर पहले उनकी रक्षा करता है।

वास्तव में ऐसा वात्सल्य सातिशय पुण्य का कारण है। यह प्रवचनवत्सल भावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारण-भूत है। अत: श्रावक अपनी सोच को विराट व हृदय को उदार करते हुए वात्सल्य भावना से युक्त होकर धर्म-देशोन्नति में सहायक बने।

शाश्वत शांतिकारक धर्म

कसाय-समणं धम्मो, धम्मो सव्व-हिदंकरो।
बेलोयम्मि सुहं देदि, सस्सदं संति-कारणं॥122॥

अर्थ–कषाय का शमन धर्म है, धर्म सर्व हितंकर है, यह दोनों लोक में सुख प्रदान करता है और शाश्वत शांति का कारण है।

Suppression of passion is religion. Religion is beneficent to all. It gives pleasures in both worlds and is the cause of eternal peace.

भावार्थ–धर्म आकाश के समान अखंड है। पृथ्वी को तो टुकड़ों में, सीमाओं में मानव ने विभाजित कर दिया किंतु आकाश को खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धर्म है। वह धर्म स्वयं मंगल व उत्कृष्ट होने से जीवन को मंगलमय और सर्वोत्कृष्ट बनाता है। धर्म के माध्यम से ही जीवन पुण्य के अमृत से परिपूरित होता है। जिस प्रकार पानी डालने से अग्नि शांत हो जाती है उसी प्रकार धर्म का आश्रय लेने से कषायों की अग्नि शमित हो जाती है।

विभिन्न ऋषियों, मनीषियों, संतों, भगवंतों ने विषयानुसार धर्म की कई परिभाषाएँ दीं। किंतु उन सबका उद्देश्य एक ही है–कषायों का शमन। जब व्यक्ति अपने क्रोध आदि पर नियंत्रण करने में सफल हो जाता है तब यथार्थ में उसने धर्मामृत का सेवन किया है। यदि कुछ क्रियाएँ करते हुए अपने आचरण में, वृत्तियों में अंतर प्रतीत नहीं होता तो वे सब व्यर्थ सी ही लगती हैं। ग्रंथकार यहाँ व्यवहारिक या प्रैक्टिकल रूप से धर्म का कथन कर रहे हैं। जब व्यक्ति का अहंकार, छल, लालच आदि विगलित होने लगता है तब उसे धर्म के साँचे में ढला जानना चाहिए। धर्म के विषय में अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के मुख्य गणधर श्री इंद्रभूति गौतम स्वामी ने कहा है–

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां धर्मस्यमूलं दया,
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय॥

धर्म सब सुखों की खानि है, हित को करने वाला है। बुद्धिमान लोग धर्म को संचय करते हैं। धर्म के द्वारा ही मोक्ष सुख अच्छी तरह से प्राप्त होता है इसीलिए धर्म के लिए नमस्कार हो। संसारी प्राणियों का धर्म से भिन्न, अन्य कोई दूसरा मित्र नहीं है। धर्म की जड़ दया है। मैं प्रतिदिन। सदैव मन को धर्म में लगाता हूँ। हे धर्म! मेरी रक्षा करो।

धर्म एक ऐसा रक्षा कवच है जो विषय-कषायादि से आत्मा की रक्षा करता है। यह धर्म ही व्यक्ति को मोक्ष पद में ले जाकर स्थापित कर देता है।

'धर्म सुखोत्पत्ति का कारण है और अधर्म दु:खोत्पत्ति का' ऐसा जानकर धर्म का सेवन करना चाहिए और अधर्म का परित्याग। यथा–

धर्मो मूलं सुखोत्पत्तेरधर्मो दु:खकारणम्।
इति ज्ञात्वा भजेद्धर्ममधर्मं च विवर्जयेत्।।310/14।। प. पु.

एक बार आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के दर्शन हेतु कुछ विदेशी लोग उनके पास पहुँचे। जाते समय आचार्य श्री ने उन्हें धर्म की कुछ पुस्तकें दीं। उन्होंने पूछा 'ये क्या है?', आचार्य श्री ने कहा ये धार्मिक पुस्तकें हैं। ये सुनकर वे मुस्कुराते हुए बोले–'महाराज जी! न तो हम धर्म को जानते हैं और न ही धर्म को मानते हैं। इनका हम क्या करेंगे?' आचार्य श्री ने कहा–'देखो! संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो धर्म को न जानता हो और न मानता हो।' यह बात उन विदेशी व्यक्तियों के समझ नहीं आयी।

आचार्य श्री ने उनसे कहा 'एक बार एक दूध वाला सुबह-सुबह एक मार्ग से गुजर रहा था। कुछ युवक आए और उस निर्दोष के साथ मारपीट करके चले गए। वह बेचारा घायल हो गया।' बताओ उन्होंने अच्छा किया या बुरा किया। उन लोगों ने कहा महाराज जी! उन्होंने बहुत बुरा किया। पुन: आचार्य श्री ने कहा 'कि थोड़ी ही देर में एक गाड़ी में कुछ लोग आए, उसे उठाया, उसका इलाज कराया।' बताओ उन्होंने अच्छा किया या बुरा। उन लोगों ने फिर उत्तर दिया–बहुत अच्छा किया।

आचार्य श्री ने कहा बस यही तो हम कह रहे हैं जो अच्छा है वही धर्म है और जो बुरा है वही अधर्म है। बुरे का फल सदैव बुरा ही होता है, पाप कर्म पाप फल ही प्रदान करते हैं अत: विवेकी जन को सदैव धर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

यह धर्म दोनों लोक में सुख देने वाला है। पद्मपुराण में वर्णित है–धर्म का माहात्म्य तो देखो जिसके प्रभाव से प्राणी स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ महाभोगों से युक्त तथा मनोहर शरीर के धारक होते हैं। वे जल तथा स्थल में उत्पन्न हुए रत्नों के आधार होते हैं और उदासीन होने पर भी सदा सुखी रहते हैं। ऐसे धर्मानुयायी मनुष्यों के स्वर्ण, वस्त्र तथा धान आदि के भण्डारों की रक्षा हाथों में विविध प्रकार के शस्त्र धारण करने वाले लोग किया करते हैं। उन्हें अत्यधिक गाय आदि पशु, गज, अश्व, रथ, देश, महल, विशाल लक्ष्मी और सिंहासन प्राप्त होते हैं।

कितने ही मूर्ख प्राणी ऐसे हैं कि जो सुख-समूह की प्राप्ति का कारण धर्म है उसे जानते ही नहीं हैं अत: वे उसके साधन के लिए प्रयत्न ही नहीं करते और जिनकी आत्मा पाप कर्म के वशीभूत है तथा जो पाप कर्मों में निरंतर तत्पर रहते हैं। ऐसे भी कितने ही लोग हैं कि जो धर्म को सुख प्राप्ति का साधन सुनकर भी उसका सेवन नहीं करते। उत्तम कार्यों के बाधक पाप कर्म के उपशांत हो जाने पर कुछ ही जीव ऐसे होते हैं कि जो उत्सुक चित्त हो गुरु के समीप जाकर धर्म

का स्वरूप पूछते हैं तथा पाप कर्म के उपशांत होने से यदि वे जीव उत्तम आचरण करने लगते हैं तो उनमें सद्गुरु के वचन सार्थक हो जाते हैं। जो बुद्धिमान् मनुष्य पाप का परित्यागकर धर्म पालन करते हैं वे स्वर्ग में महागुणों के धारक होते हुए परमात्मावस्था को प्राप्त करते हैं।

धर्म यान पर सवार होकर ही जीव मोक्ष महल में प्रवेश पाता है। धर्म के माध्यम से ही शाश्वत सुख व शांति प्राप्त हो सकती है। आज तक जो भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं, होंगे वह सब धर्म का ही प्रभाव जानना चाहिए। अतः सुखाकांक्षी, मोक्षाभिलाषी जनों को धर्म का पालन करना चाहिए।

दिगम्बर होने की प्रेरणा

जहासत्तीइ पालेज्जा, सावयो खलु सुव्वदं।
लहित्ता कमसो बोहिं, हवेज्ज सो दियंबरो॥123॥

अर्थ–श्रावक यथाशक्ति सुव्रतों का पालन करे व क्रम से बोधि को प्राप्त करके वह दिगंबर होवे।

Layman should observe vows according to his strength. One should be ***Digamber muni*** after getting (bodhi) right perception, right knowledge and right conduct, respectively.

भावार्थ–**'तच्च-सारो'** इस ग्रंथ में जीव तत्त्व का वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने जीव की प्रगति, उन्नति का क्रमशः विवेचन किया है। संसार में रहता हुआ वह जीव समाज के मध्य किस उत्तम व्यवहार के साथ रहे, राजनैतिक क्षेत्र में भी किस प्रकार क्रियान्वित हो, परिवार का पालन-पोषण कैसे करे आदि का विवेचन किया। पुनः श्रावक के अनुरूप आचरण व आवश्यक क्रियाओं का कथन कर उसे व्रतों की ओर प्रेरित किया। अब यहाँ ग्रंथकार कह रहे हैं कि क्रम से नियम-व्रतों का पालन करते हुए वह श्रावक दिगंबर मुनि दीक्षा ग्रहण करे।

जीव की यह अनादिकालीन यात्रा मोक्ष पहुँचकर ही विश्रान्ति पा सकती है। इस दुःखमय यात्रा को विराम देने का मात्र एक ही साधन है और वह है बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। संसार के अंत के लिए श्रावक को पुनः मुनि बन संयम पालन करना चाहिए तभी दुःखों से मुक्त हो शाश्वत सुख प्राप्त किया जा सकता है। श्रावक को सदैव चिंतन करना चाहिए कि वह संयम को स्वीकार कर सके और पुनः उसकी यह निरंतर भावना इस प्रशस्त कार्य की ओर प्रेरित करती है। श्री रविषेणाचार्य ने पद्मपुराण में कहा है–

प्रतिपद्य कदा दीक्षां, विहरिष्यामि मेदिनीम्।
क्षययित्वा कदा कर्म प्रपत्स्ये सिद्धसंश्रयम्॥222/14॥
एवं प्रतिदिनं यस्य ध्यानं विमलचेतसः।
भीतानीव न कुर्वन्ति तेन कर्माणि संगतिम्॥223/14॥

'मैं दीक्षा लेकर पृथ्वी पर कब विहार करूँगा? और सब कर्मों को नष्ट कर सिद्धालय में पहुचूँगा?' जो निर्मल चित्त का धारी मनुष्य प्रतिदिन ऐसा विचार करता है, कर्म भयभीत होकर ही मानो उसकी संगति नहीं करते।

ऐसी भावना करने से कोई-कोई गृहस्थ प्राणी सात-आठ भवों में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और उत्तम हृदय को धारण करने वाले कितने ही मनुष्य तीक्ष्ण तप कर दो-तीन भव में ही मुक्त हो जाते हैं। मध्यम प्राणी शीघ्र ही महान् आनंद-मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं किंतु असमर्थ जन जो मार्ग को

जानते हैं वे कुछ विश्राम के बाद मोक्ष प्राप्त करते हैं। किंतु जो मनुष्य मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं वे मोहरूपी अंधकार से आच्छादित व कषाय रूपी सर्पों से व्याप्त संसार रूपी अटवी में भटकते रहते हैं।[1]

अत: जीव को असीम आनंद के स्थान तक पहुँचाने के लिए ग्रंथकार मोक्षमार्ग पर आरुढ़ होने के लिए प्रेरणा देते हैं। प्रथमानुयोग में सहस्रों उदाहरण हैं जिन्होंने राज्यादि उपभोग कर श्रावकों के व्रत-नियमों का पालन करते हुए अंत में दिगंबर दीक्षा को स्वीकार कर मोक्ष पहुँचने का प्रबंध किया। पंचम काल में भी चंद्रगुप्त मौर्य, अमोघवर्ष आदि ऐसे ही राजा हुए जिन्होंने राज्य आदि त्यागकर जिनदीक्षा को अंगीकार किया एवं मोक्ष महल की ओर गतिमान हुए। यही श्रावक का क्रमश: कर्म भी है और धर्म भी। श्रावक जब तक गृहस्थी में है तब तक मुनि बनने का चिंतवन करे पुन: अवसर मिलते ही रत्नत्रय प्राप्त कर मोक्षमार्ग प्रशस्त करे।

---

1. **पद्मपुराण 224-228/14**

मूलगुण कथन

मूलगुणट्ठवीसं च, सुपालंति दियंबरा।
गुणुत्तरं चउतीसं, मोक्ख-सुहस्स कारणं।।124।।

अर्थ–दिगंबर संत 28 मूलगुण व 34 उत्तरगुण का अच्छी प्रकार से पालन करते हैं। ये मोक्ष सुख का कारण हैं।

Digambar saint (nacked monk) observes twenty-eight primary virtues and thirty-four secondary duties properly which are the cause of salvation.

भावार्थ–रत्नत्रय की आराधना करने वाले, मोक्ष का निरंतर श्रम करने में तत्पर दिगंबर मुनि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। मुनियों का प्रधान आचार मूलगुण कहलाता है। 'मूल' शब्द से मुख्य व 'गुण' शब्द से आचरण ग्रहण किया गया है। इन मूलगुणों के बिना आज तक कोई भी शुक्ल ध्यान की अग्नि प्रज्ज्वलित न कर सका और शुक्ल ध्यान की अग्नि में कर्म जलकर भस्म होते हैं अर्थात् मोक्ष रूप वृक्ष का बीज ये मूलगुण हैं।

ये मूलगुण अट्ठाईस होते हैं।

पंचय महव्वयाइं, समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेंद्रियरोहा छप्पि य आवासया लोओ।।2।।
आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु।।3।। मूला.

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इंद्रियों का निरोध, छः आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतवाधन, स्थिति भोजन और एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेंद्र देव ने मुनियों के कहे हैं।

मुख्यव्रतों को महाव्रत कहते हैं। जो महान् व्रत हैं, वे महाव्रत हैं। यहाँ पर महान् शब्द महत्त्व अर्थ में और प्रधान्य अर्थ में लिया गया है।

व्रत शब्द भी सावद्य से निवृत्तिरूप अर्थ में और मोक्ष की प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण अर्थ में है क्योंकि ऐसे आचरण का अनुष्ठान महापुरुषों के द्वारा किया जाता है। अथवा स्वतः ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाले होने से ये महान् व्रत महाव्रत हैं। ये 5 हैं–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

1. **अहिंसा महाव्रत**–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है।

2. **सत्य महाव्रत**–राग, द्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषों से युक्त असत्य वचनों का त्याग कर देना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जिससे प्राणियों का घात हो जावे, सत्य महाव्रत है।

3. **अचौर्य महाव्रत**–किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वयं नहीं लेना, दूसरों के द्वारा संग्रहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरों के द्वारा बिना दी गई ऐसी योग्य वस्तु को भी नहीं लेना, अचौर्य महाव्रत है।

4. **ब्रह्मचर्य महाव्रत**–राग भाव का त्यागकर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना, बालिका, युवती वा वृद्धा सभी स्त्रियों में बहन व माता के समान भाव रखना त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

5. **अपरिग्रह महाव्रत**–धन, धान्यादि दस प्रकार के बहिरंग तथा मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

सम्यक् अयन अर्थात् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। गमनागमन, भाषण आदि में सं–सम्यक् इति–प्रवृत्ति करना समिति है। ये व्रतों की रक्षा हेतु बाड़ के समान है। इनके 5 भेद हैं–ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

6. **ईर्या समिति**–निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्तपूर्वक तीर्थयात्रा, गुरुवंदना आदि धर्म कार्यों के लिए गमन करना ईर्या समिति है।

7. **भाषा समिति**–चुगली, हँसी, कर्कश, परनिंदा आदि से रहित हित-मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है।

8. **एषणा समिति**–छयालीस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष, पवित्र आहार लेना एषणा समिति है।

9. **आदाननिक्षेपण समिति**–पुस्तक, कमंडलु आदि को रखते या उठाते समय कोमल मयूर पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना-उठाना, तृण, चटाई, पाटे आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन कर ग्रहण करना या रखना, आदान निक्षेपण समिति है।

10. **उत्सर्ग समिति**–हरी घास से रहित, चींटी आदि से या उनके बिलों से रहित प्रासुक और लोगों के आवागमन से रहित एकांत स्थान में मलमूत्रादि विसर्जन करना, उत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति है।

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इंद्रियों को वश में रखना पंचेंद्रिय निरोध होता है। पाँचों इंद्रियों की अपेक्षा इसके भी पाँच भेद हैं।

11. **स्पर्शन इंद्रिय निरोध**–सुखदायक कोमल स्पर्शादि में या कठोर कंकरीली भूमि आदि के स्पर्श में समभाव रखना, प्रसन्न वा खेद नहीं करना।
12. **रसनेन्द्रिय निरोध**–सरस या नीरस, स्वाद्य वा अस्वाद्य भोजन में हर्ष-विषाद नहीं करना।
13. **घ्राणेन्द्रिय निरोध**–सुगंधित या दुर्गंधित पदार्थ में राग-द्वेष नहीं करना।
14. **चक्षु इंद्रिय निरोध**–सुंदर या विकृत वेष आदि में राग व द्वेषादि भाव नहीं करना।
15. **कर्णेन्द्रिय निरोध**–सुंदर गीत, वाद्य या कर्ण के लिए अप्रिय शब्दादि में हर्ष, विषाद नहीं करना, समता भाव रखना।

जो अवश–जितेन्द्रिय मुनि का कर्त्तव्य है वह आवश्यक कहलाता है। उसके 6 भेद हैं–समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

16. **समता**–जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दु:ख आदि में हर्ष-विषाद नहीं करना, सम भाव रखना समता है।
17. **स्तुति**–श्री वृषभदेवादि चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन करना स्तुति है।
18. **वंदना**–किन्हीं एक तीर्थंकर की स्तुति करना वंदना है।
19. **प्रतिक्रमण**–अहिंसादि व्रतों में जो अतिचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा गर्हापूर्वक शोधन करना प्रतिक्रमण है।
20. **प्रत्याख्यान**–मन, वचन, काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है।
21. **कायोत्सर्ग**–शरीर का उत्सर्ग अर्थात् काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

अब लोचादि 7 आवश्यकों का कथन करते हैं।

22. **लोंच**–हाथों से अपने सिर, दाढ़ी और मूंछ के बाल उखाड़ना केशलोंच मूलगुण है।
23. **अचेलकत्व**–सूती, रेशम आदि वस्त्र, पत्र, वल्कल आदि का त्याग कर देना, नग्न वेष धारण करना अचेलकत्व है।
24. **अस्नानव्रत**–स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नानव्रत है।
25. **क्षितिशयन**–निर्जंतुक भूमि पांटा या चटाई आदि पर स्वल्प शयन करना क्षितिशयन व्रत है।
26. **अदंतधावन**–नीम की लकड़ी आदि से दंतमंजन नहीं करना अदंतधावन मूलगुण है।
27. **स्थितिभोजन**–पाँवों को चार अंगुल अंतराल से रखकर एक स्थान में खड़े होकर अंजुलि में आहार ग्रहण करना।
28. **एकभक्त**–सूर्योदय के अनंतर 3 घड़ी बाद और सूर्यास्त से 3 घड़ी पहले तक दिन में एक बार आहार ग्रहण करना।

मुनियों के बारह तप और बाईस परीषहजय ऐसे ये 34 उत्तर गुण होते हैं। जो कर्म निर्जरा हेतु तपा जाता है वह तप है। उसके दो भेद हैं–बाह्य और अभ्यन्तर। बाह्य तप के 6 भेद हैं–अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशयनासन।

अंतरंग तप के भी 6 भेद हैं–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान व व्युत्सर्ग।

1. **अनशन**–चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है।
2. **अवमौदर्य**–भूख से कम भोजन करना अवमौदर्य या ऊनोदर है।
3. **रसपरित्याग**–नमक, मीठा, घी,दूध, दही वा तेल इन षट्रसों में एक, दो, चार वा छह रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है।
4. **वृत्तिपरिसंख्यान**–आहार के लिए जाते समय साधु कुछ भी अटपटा नियम, घरों, गली, दाता आदि का नियम कर लेते हैं वह वृत्तिपरिसंख्यान तप है।
5. **कायक्लेश**–कायोत्सर्ग करना, पर्यंकासनादि से ध्यान करना, इत्यादि प्रकारों से शास्त्रानुसार जो शरीर को कष्ट दिया जाता है उसे कायक्लेश तप कहते हैं।
6. **विविक्त शयनासन**–पशु, स्त्री आदि गृहस्थों के संसर्ग से भी रहित ऐसे स्थान में शयन करना, यह विविक्तशयनासन तप है।
7. **प्रायश्चित्त**–पूर्वकृत अपराध का शोधन करना प्रायश्चित्त है।
8. **विनय**–अनुद्धत वृत्ति अर्थात् विन्रमता को विनय कहते हैं।
9. **वैयावृत्य**–आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, बाल-वृद्ध मुनि आदि का आहार, उपकरण, औषधि, पुस्तक आदि के द्वारा उपकार करना वैयावृत्य है।
10. **स्वाध्याय**–स्व हित हेतु श्रुत का सम्यक् अध्ययन करना स्वाध्याय है।
11. **ध्यान**–एकाग्रचिंतानिरोध का नाम ध्यान है।
12. **व्युत्सर्ग**–परिग्रह त्याग करना व्युत्सर्ग है। अथवा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए तीन गुप्ति का आश्रय लेना और शरीर में भी नि:स्पृह होकर ध्यान करना व्युत्सर्ग है।

मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन करने योग्य हों, वे परीषह हैं। उनके **क्षुधा, तृषा, शीत, ऊष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, दया, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान** और **अदर्शन**। मोक्षार्थी पुरुष जब इनकी बाधाओं को शांत भाव से सहन करते हैं तब इन्हें परीषहजय कहते हैं।

1. **क्षुधा**–आहार न मिलने पर या अल्प मिलने पर क्षुधाजन्य बाधा से खेद को प्राप्त नहीं होना क्षुधा परीषहजय है।

2. **तृषा**–पित्तादि के प्रकोप से उत्पन्न हुई प्यास की बाधा को समाधि रूपी जल से शांत करना तृषा परीषह जय है।
3. **शीत**–आवरण-वस्त्रादि से रहित खुले स्थान पर बर्फ आदि की ठंडी को सहन करना शीतपरीषह जय है।
4. **ऊष्ण**–ग्रीष्मकालीन सूर्य से संतप्त पृथ्वी पर उष्णता को सहन करना उष्णपरीषह जय है।
5. **दंशमशक**–डांस-मच्छर, बिच्छू, सर्प आदि के काट लेने पर उनकी पीड़ा को सहन करना दंशमशक परीषह है।
6. **नग्नता**–नग्नमुद्रा में अखंड ब्रह्मचर्य को धारण करते हुये भी बालकमय निर्विकार रहना नग्न परीषहजय है।
7. **अरति**–शून्य स्थान, गुफा आदि मन विरुद्ध स्थानों में भी अरुचि न करना अरति परीषहजय है।
8. **स्त्री**–स्त्रियों द्वारा विभ्रम भाव से बाधा पहुँचाने पर भी निश्चल मन रहना स्त्री परीषहजय है।
9. **चर्या**–कंकरीली सड़कों पर चलते समय खेदखिन्न नहीं होना चर्या परीषहजय है।
10. **निषद्या**–नियतकाल तक बैठने से कष्ट होने पर उसे शांति से सहन करना निषद्या परीषहजय है।
11. **शय्या**–स्वाध्याय आदि से थककर एक करवट शयन करते समय कंकरीली आदि पृथ्वी के निमित्त से हुए कष्ट को सहन करना शय्या परीषहजय है।
12. **आक्रोश**–अज्ञानियों द्वारा कठोर, असभ्य, निंद्य वचन सुनकर भी क्रोध नहीं करना आक्रोश परीषहजय है।
13. **वध**–अज्ञानी द्वारा तीक्ष्ण मुद्गर आदि से ताड़ित किये जाने पर भी दु:खी नहीं होना वध परीषहजय है।
14. **याचना**–शरीर के शुष्क हो जाने पर भी आहार, औषधि, आदि की याचना नहीं करना याचना परीषहजय है।
15. **अलाभ**–बहुत काल तक आहार का लाभ न मिलने पर भी 'लाभादलाभोवर' में मेरे लिये लाभ की अपेक्षा अलाभ ही अच्छा है। चूँकि अधिक कर्मों की निर्जरा हो जावेगी ऐसा मानना अलाभ परीषहजय है।
16. **रोग**–अनेकों रोगों के होने पर भी औषधि उपचार आदि की अपेक्षा नहीं करना रोग परीषहजय है।

17. **तृणस्पर्श**–तृण, कंकर, कांटे आदि की बाधा को सहन करते हुय चर्या शय्या निषद्या में प्राणी पीड़ा के परिहार की भावना रखना तृणा स्पर्श परीषहजय है।

18. **मल**–स्नान त्याग व्रत होने से मल से लिप्त शरीर होते हुये खुजली आदि से उत्पन्न हुई पीड़ा की उपेक्षा कर देना, मलिन शरीर से मन में ग्लानि नहीं लाना मल परीषहजय है।

19. **सत्कार-पुरस्कार**–महातपस्वी, सिद्धांतवेत्ता, कुशल साधु होने पर भी कदाचित् किसी के द्वारा सत्कार और पुरस्कार को प्राप्त नहीं होने पर मन में खेदखिन्न नहीं होना सत्कार-पुरस्कार परीषहजय है।

20. **प्रज्ञा**–'मैं बहुत ज्ञानी हूँ' इत्यादि रूप से विद्या-बुद्धि का मद नहीं करना प्रज्ञा परीषहजय है।

21. **अज्ञान**–'यह मूर्ख है' इत्यादि शब्दों से दूसरे से अपमानित होने पर भी और 'मैंने घोर तपश्चरण आदि किया है फिर भी मुझमें ज्ञानातिशय नहीं हो रहा है' इत्यादि रूप से खेदखिन्न नहीं होना अज्ञान परीषहजय है।

22. **अदर्शन**–'मैं शुद्ध परिणामी हूँ, चिरकाल से दीक्षित हूँ, तपस्वी हूँ, फिर भी मेरी देवादिकों द्वारा कोई पूजा आदि नहीं हो रही है। शास्त्रों में लिखा है कि 'महोपवास आदि से देवों द्वारा अतिशय किया जाता है' सो यह सब कथन असत्य दिखता है। इत्यादि रूप से मन में नहीं सोचना अदर्शन परीषहजय है।

दिगंबर मुनिराज कर्मों के संवर और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा के लिए अपनी शक्ति के अनुसार इन उत्तरगुणों का भी पालन करते हैं। इनके अतिरिक्त आतापन योग आदि भी उत्तरगुण हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक 84 लाख उत्तरगुण होते हैं।

मूलगुणों का पालन साधुओं के लिए अत्यावश्यक है। आचार्य श्री वट्टकेर स्वामी ने कहा भी है–

मूलं छित्ता समणो, गिण्हादि य बाहिदं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे, मूलविहीणस्स किं करिस्संति॥29॥ मूला.

जो साधु मूलगुणों को अहिंसादि व्रतों को नष्ट कर बाह्य योग को–वृक्षमूलयोग, अभ्रावकाशयोग और आतापन आदि योगों को धारण करता है उसके वे योग मूलगुण रहित होने से निष्फल हो जाते हैं अर्थात् उनमें कर्मक्षय करने की सामर्थ्य नहीं रहती।

अत: संसार के कारणभूत कर्मों के नष्ट करने व मोक्ष की प्राप्ति हेतु मुनिराज अट्ठाईस मूलगुण व चौंतीस उत्तरगुणों का पालन करते हैं।

अजीवाधिकार

लोयो सो मुणेदव्वो, छह दव्वेहि जो जुदो।
लोयस्स अदिरित्तो जो, अलोयो अभिमण्णदे।।125।।

अर्थ–जो षट् द्रव्यों से युक्त है वह लोक मानना चाहिये। लोक के अतिरिक्त जो है वह अलोक माना जाता है।

Universe is that which is endowed with six substances and else is non-universe (***alok***).

भावार्थ–अनंत आकाश के मध्यवर्ती कुछ मात्र भाग में ही अन्य जीवादि द्रव्य अवस्थित हैं। उसके इस भाग का नाम ही लोक है। अनंत प्रदेशी सर्वाकाश के बहुमध्य भाग में अतिशय रचना रूप जो असंख्यात प्रदेश हैं, वही आकाश के खंड स्वरूप लोक है।[1] षट्द्रव्यों का अस्तित्व लोक में ही देखा जाता है इसके अतिरिक्त अनंत आकाश है जहाँ अन्य कोई द्रव्य नहीं उसे अलोकाकाश जाना जाता है। सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचंद्र स्वामी ने भी लोक को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और गति, आगति करने वाले जीव एवं पुद्गल व काल द्रव्य जितने आकाश को अभिव्याप्त करते हैं अर्थात् जितने आकाश में छह द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाश को लोक कहते हैं, इसके आगे अलोकाकाश है जो अनंत है।[2]

आचार्य श्री यतिवृषभ स्वामी भी कहते हैं, 'छह द्रव्यों से रहित यह लोकाकाश का स्थान निश्चय ही स्वयं प्रधान है, इसकी सब दिशाओं में नियम से अलोकाकाश स्थित है।[3] अथवा जितने आकाश में धर्म व अधर्म द्रव्य के निमित्त से होने वाली जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति हो, उसे लोकाकाश समझना चाहिए।[4] पंचास्तिकाय, बारसाणुवेक्खा, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सर्वार्थसिद्धि, धवला आदि ग्रंथों में लोक का यह स्वरूप प्रतिपादित किया गया।

इन छहों द्रव्यों का समूह ही विश्व है। यह विश्व अनादि-अनिधन है आदि व अंत से रहित है, अकृत्रिम है–इसे कभी किसी ने नहीं बनाया। यह सृष्टि स्वयं सिद्ध है। यह स्वभाव से ही उत्पन्न

---

1. **सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदिसभागम्हि।**
   लोगोसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु।।3।। –त्रि. सा.
2. **धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपोग्गलाणं च।**
   जावत्तावल्लोगो आयासमदो परमणंतं।।5।। –त्रि. सा.
3. **लोयायासट्ठाणं सयं पहाणं स-दव्व-छक्कं हु।**
   सव्वमलोयायासं तं सव्वासं हवे णियमा।।135।। –ति. प.
4. **धम्माधम्मणिबद्धा गदिरगदी जीव-पोग्गलाणं च।**
   जेत्तियमेत्ताआसे लोयाआसो स णादव्वो।।134।। –ति. प.

है। कहा भी है निश्चय से लोक अकृत्रिम, अनादिनिधन, स्वभाव से निष्पन्न, जीवाजीवादि द्रव्यों से सहित, सर्वाकाश के अवयव स्वरूप और नित्य है।[5] अर्थात् इस लोक को न तो किसी ने बनाया और और ना ही इसे कोई नष्ट कर सकता है। जो वस्तु किसी के द्वारा बनायी जाती है उसका नष्ट होना भी निश्चित है। इस विश्व का कोई कर्त्ता नहीं है। सृष्टि उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य के सिद्धांत पर आधारित है। जगत् में ना तो कोई सर्वथा नवीन वस्तु उत्पन्न होती है और न कोई वस्तु सर्वथा नष्ट ही होती है किंतु उन्हीं की पर्याय बदलते रहने से नवीन-नवीन वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे मिट्टी, जल, धूपादि का संयोग पाकर बीज वृक्ष रूप परिणत हुआ। वृक्ष जला देने पर कोयला व कोयला जलकर राख हो जाता है। पर्यायें तो बदलती रहती हैं किंतु एक नया परमाणु न उत्पन्न होता, न नष्ट होता। उनकी अवस्थाएँ बदल-बदलकर नई वस्तुओं की सृष्टि होती रहती है। जीव व पुद्गल परस्पर में मिलकर इस अखिल सृष्टि का सृजन व संहार किया करते हैं। यही क्रम अनादि से चल रहा है व अनंत काल तक चलता रहेगा। अतः सिद्ध है कि लोक का, संसार का कोई प्रबंधनकर्त्ता नहीं है।

छह द्रव्यों से सहित, जगच्छ्रेणी के घनप्रमाण से निष्पन्न हुआ 343 घन राजू प्रमाण यह संपूर्ण लोक एक विशेष-पुरुषाकृति स्वरूप अनंत आकाश के मध्य अवस्थित है। यह लोक अधो, ऊर्ध्व व मध्यलोक के भेद से तीन प्रकार का जानना चाहिए। स्वर्ग के देव, नरक के नारकी, पशु, मनुष्य सभी इसी लोक में स्थित हैं, लोक से बाहर मात्र अनंत आकाश है जहाँ न जीव है, न पुंद्गल, न धर्म द्रव्य है, न अधर्म। यही अलोक कहा जाता है।

---

5. **लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।**
जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो।।4।। –त्रि. सा.

षट्द्रव्य

होदि सदस्स णासो णो, उप्पण्णो णो कया वि सो।
पज्जाया एव वट्टंति दव्वं णिच्चं तहा धुवं॥126॥
जीवो हु पोग्गलो धम्मो, अधम्मो दु णहं तहा।
कालो य छह-दव्वाणि, भासिदाणि जिणागमे॥127॥

अर्थ–सत् का नाश नहीं होता तथा वह सत् कभी उत्पन्न नहीं होता। पर्याय ही वर्तन करती हैं। द्रव्य तो नित्य व ध्रुव होता है। निश्चय से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये छह द्रव्य जिनागम में कहे गए हैं।

Soul (***jiva***), matter (***pudagala***), the medium of motion (***dharma***), the medium of rest (***adharma***), space (***akasha***) and time (***kaal***), these six substances have been mentioned in ***Jinagama***. Existence can neither be destroyed or be generated. Only forms get changed. Substance is eternal and constant.

भावार्थ–**'सत् द्रव्यलक्षणं'** द्रव्य का लक्षण सत् है। व **'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्'** सत् उत्पादक व्यय व ध्रौव्य से युक्त होता है। अर्थात् जिसमें प्रति समय उत्पत्ति, विनाश व स्थिरता पाई जाती है वही सत् है। जैसे मिट्टी से घट बनाते हुए मिट्टी की पिंड रूप पर्याय नष्ट होती है, घट रूप पर्याय उत्पन्न होती है और मिट्टी-मिट्टी ही रहती है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। लोहे या लकड़ी की अलमारी कुछ समय बाद पुरानी वा लंबे समय बाद जीर्ण-शीर्ण दिखती है। इसमें होने वाले प्रति समय के परिवर्तन को हम देख नहीं पाते किंतु परिवर्तन प्रति समय होता है।

गुण और पर्यायों का समूह भी द्रव्य है। **'गुणपर्ययवद्द्रव्यं'** द्रव्य सदैव गुण और पर्यायों से युक्त होता है। क्योंकि द्रव्य में गुण ध्रुव व पर्याय उत्पाद-विनाशशील होती हैं, अतः गुणपर्यायात्मक कहो या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहो, दोनों का एक ही अभिप्राय है। द्रव्य का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी पंचास्तिकाय में कहते हैं–

दवियदि गच्छदि ताइं, ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंति हि, अणण्णभूदं तु सत्तादो॥9॥

जो उन सत्तारूप पर्यायों में द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं वह सत्ता से अनन्यभूत है। यहाँ द्रवित होने का अर्थ है–प्राप्त होना। जो भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में उन-उन सद्भाव रूप अपनी पर्यायों को प्राप्त होता है वह द्रव्य है। जैसे पर्यायों का प्रवाह सतत् चलता रहता है, एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी आदि। वैसे ही द्रव्य का प्रवाह भी सतत् चलता रहता है अर्थात् द्रव्य अनादि और अनंत है।

दव्वंसल्लक्खणयं, उप्पादव्वय'धुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा, जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥10॥

जो सत् लक्षण वाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है और गुण-पर्यायों का आश्रय है उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं।

क्योंकि सत् नित्यानित्यात्मक है अतः सत् कहने से उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यपना प्रकट होता है तथा ध्रुवत्व से गुणों के साथ और उत्पाद-व्यय से विनाशशील पर्यायों के साथ एकात्मकता प्रकट होती है। इसी तरह वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप बतलाने से उसकी नित्यानित्यात्मकता और गुणपर्यायविशिष्टता प्रकट होती है।

द्रव्य के इन लक्षणों के कहने से सर्वदा क्षणिकवाद एवं सर्वदा कूटस्थ अर्थात् नित्य एकांत का भी खंडन हो जाता है। यदि कोई मानता है कि क्षण-क्षण वस्तु नष्ट हो रही है तो जिसने घट आदि को बनाना प्रारंभ किया, वह उसे पूर्ण नहीं कर सकता और यदि कोई माने कि घट बन गया वह नित्य ही रहेगा, पदार्थ को कूटस्थ मानें कि उसमें कोई अन्य पर्याय नहीं हो सकती तो यह भी संभव नहीं। अतः आचार्यों ने द्रव्य का सर्वथा निर्दोष लक्षण प्रतिपादित किया वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि-

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया॥11॥

द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं होता है। द्रव्य का सद्भाव सदाकाल रहता है पर्यायों का ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपना होता है।

द्रव्य न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है उसकी पर्यायें उत्पाद-व्यय करती हैं। जैसे सोने के बिस्किट का विनाश हुआ, हार का उत्पाद हुआ किंतु सोना-सोना ही रहा। इससे द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता प्रमाणित होती है।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी देवागम स्तोत्र में भी कहते हैं-

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥57॥

सामान्य स्वरूप से सर्व अवस्थाओं में अथवा पूर्वोत्तर पर्यायों में साधारण स्वभाव रूप से रहने वाले द्रव्य की दृष्टि से न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न विनाश को प्राप्त होती है क्योंकि प्रकट अन्वयरूप है-वस्तु का सामान्य स्वरूप जो द्रव्य स्वभाव है वह उसकी सब अवस्थाओं में सदा स्थिर रहता है तथा विशेष रूप से पर्याय अथवा व्यतिरेक की दृष्टि से वस्तु विनशती व उपजती है। एक वस्तु में उत्पाद-व्यय व ध्रौव्य का होना सत् कहलाता है। वस्तु त्रयात्मक है इसका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि एक राजा के एक पुत्र है और एक पुत्री। राजा के पास एक सोने

का घड़ा है। पुत्री उस घट को चाहती है किंतु राजपुत्र उस घट को तोड़कर उसका मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की हठ पूरी करने के लिए घट को तुड़वाकर उसका मुकुट बनवा देता है। घट के नाश से पुत्री दु:खी होती है, मुकुट के उत्पाद से पुत्र प्रसन्न होता है और क्योंकि राजा स्वर्ण का इच्छुक है जो कि घट टूटकर मुकुट बन जाने पर भी कायम रहता है अत: उसे न शोक है और न हर्ष। अत: वस्तु तीन रूप है।[1]

एक अन्य उदाहरण देते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि जिसने केवल दूध ही खाने का व्रत लिया है वह दही नहीं खाता। जिसने केवल दही खाने का व्रत लिया है वह दूध नहीं खाता। और जिसने गोरस मात्र न खाने का व्रत लिया है वह न दूध खाता है और न दही। दूध का विनाश व दही का उत्पाद हुआ। दोनों में गोरसत्व ध्रुव है। अत: सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक है।

द्रव्य छ: प्रकार का कहा गया है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। वह द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है। वह प्रति समय उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है।

---

1. **घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।**
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥59॥

जीव व अजीव

विज्जदे चेयणा जम्हि, मण्णे जीवो सया हु सो।
विपरीदो अजीवो य, णिद्दिट्ठो जिणसासणे।128।।

अर्थ–जिसमें चेतना विद्यमान है वह सदा जीव माना जाता है और इसके विपरीत अजीव है, ऐसा जिनशासन में कहा गया है।

Consciousness is the differentia of the soul, and unconsciousness is the nature of matter.

भावार्थ–द्रव्य मूल में दो प्रकार का कहा गया है–जीव व अजीव। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये अजीव द्रव्य के अन्तर्गत आते हैं। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी प्रवचनसार में लिखते हैं–

दव्वं जीवमजीवं, जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं, अचेदणं, हवदि य अजीवं।।127।।

द्रव्य जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है। उसमें चेतनामय व उपयोगमय जीव है और पुद्गल द्रव्यादि अचेतन द्रव्य हैं।

संसार या मोक्ष दोनों में जीव प्रधान तत्त्व है। संसार में संसरण करने वाले जीव संसारी व कर्म क्षय कर मोक्ष-प्राप्त करने वाले जीव मुक्त कहलाते हैं। जीव का लक्षण चेतना है। लक्ष्य से लक्षण कभी भी जुदा नहीं हो सकता जैसे अग्नि से ऊष्णता, शक्कर से मिठास कभी अलग नहीं की जा सकती वह उनका स्वभाव है वैसे ही चेतना जीव का मुख्य स्वभाव होने से उसका लक्षण है। आचार्य अकलंक देव स्वामी राजवार्तिक में कहते हैं कि जिस शक्ति के सान्निध्य से आत्मा ज्ञाता, दृष्टा अथवा कर्ता-भोक्ता होता है वह चेतना है और वही ज्ञान-दर्शन रूप चेतना जीव का स्वभाव होने से उसका लक्षण है।[1] आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी प्रवचनसार में जीव का स्वरूप इस प्रकार बताते हैं–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं।।2-80।।

जिसमें न कोई रस है, न कोई रूप है और न किसी प्रकार की कोई गंध है, जो अव्यक्त है, शब्दरूप भी नहीं है। किसी भौतिक चिह्न से भी जिसे नहीं जाना जा सकता और न जिसका कोई निर्दिष्ट आकार ही है, उस चैतन्यगुण विशिष्ट द्रव्य को जीव कहते हैं। अर्थात् चेतना लक्षण वाला जीव है। यह जीव द्रव्य अमूर्तिक है, जड़तत्त्व से जुदा एक वास्तविक पदार्थ है, और भी कहा है–

---

1. **जीवस्वभावश्चेतना। यत्संनिधानादात्मा ज्ञातादृष्टाकर्त्ताभोक्ता च भवित तल्लक्षणो जीवः। –रा. वा.**

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥27॥ –पंचा०

यह जीव चैतन्य स्वरूप है, जानने देखने रूप उपयोगवाला है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है और अपने शरीर के बराबर है तथा यद्यपि वह मूर्तिक नहीं है तथापि कर्मों से संयुक्त है।

एतावता जीव का असाधारण लक्षण चेतना है और वह चेतना जानने और देखने रूप है। अर्थात् जो जानता है और देखता है, जिसके ज्ञान व दर्शन है वह जीव है। ज्ञान और दर्शन में मुख्य भेद यह है कि जैसे ज्ञान के द्वारा यह घट है, यह पट है इत्यादि रूप से वस्तु की व्यवस्था होती है, उस प्रकार दर्शन के द्वारा नहीं होती है। ज्ञान सविकल्प व दर्शन निर्विकल्प होता है। ज्ञान साकार व दर्शन निराकार होता है। संसारी प्राणियों के ज्ञान से पूर्व दर्शन होता है जबकि केवलज्ञानियों के वा सिद्धों के ज्ञान-दर्शन युगपत् होता है। संसार के प्रत्येक प्राणी में ज्ञान-दर्शन गुण पाया जाता है। एकेन्द्रिय से लेकर मुक्तात्माओं के ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, चाहे हीन वा अधिक यहाँ तक कि निगोदिया जीवों में भी ज्ञान पाया जाता है, उनमें सबसे कम ज्ञान होता है जिसको कहा गया **'णिच्चुद्घाटं णिरावरणं'** एवं केवलियों के पूर्ण ज्ञान पाया जाता है।

आत्मा व चेतना अलग-अलग नहीं है। शब्दों के द्वारा तो भेद किया जा सकता है, कथन में तो भेद है किंतु गुण, गुणी से कभी अलग नहीं हो सकते। घी से चिकनाई को अलग नहीं किया जा सकता, नीम से कड़वाहट को अलग नहीं किया जा सकता। गुण, गुणी में कोई भेद नहीं है अतः आत्मा को स्वयं चेतन और ज्ञान स्वरूप मानना चाहिए। जो आत्मा के प्रदेश हैं वे ही प्रदेश ज्ञानादिक गुणों के भी हैं, इसीलिए उनमें प्रदेश भेद नहीं है। जितनी आत्मा है उससे बाहर ज्ञान नहीं है और ऐसा भी नहीं कि आत्मा के कुछ प्रदेशों में ज्ञान और कुछ में नहीं। जितनी आत्मा है उतना ही ज्ञान। **'अप्पा णाण-पमाणं'** आत्मा ज्ञान प्रमाण है इसीलिए ज्ञान ही आत्मा है। कहा भी है–

णाणं अप्प त्ति मदं, णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥27॥ प्रव. सा.

ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है। क्योंकि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं रहता अतः ज्ञान आत्मा ही है किन्तु आत्मा में अनेक गुण पाए जाते हैं अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य गुण रूप भी है।

यदि ज्ञानी और ज्ञान को परस्पर में सदा एक दूसरे से भिन्न पदार्थान्तर माना जायेगा तो दोनों अचेतन हो जायेंगे। यदि कहा जायेगा कि ज्ञान से भिन्न होने पर भी आत्मा ज्ञान के समवाय से ज्ञानी होता है तो प्रश्न होता है कि ज्ञान के साथ समवाय सम्बन्ध होने से पहले वह आत्माज्ञानी था या अज्ञानी? यदि ज्ञानी था तो उसमें ज्ञान का समवाय मानना व्यर्थ है। यदि अज्ञानी था तो अज्ञान के समवाय से अज्ञानी था या अज्ञान के साथ एकमेक होने से अज्ञानी था। अज्ञानी में अज्ञान का

समवाय मानना तो व्यर्थ ही है। तथा स्वभाव से अज्ञानी है ऐसा मानने पर अज्ञान के साथ एकत्व सिद्ध होता है और इसीलिए ज्ञान के साथ ही स्वभाव से एकत्व अवश्य सिद्ध होता है। सारांश यह है कि जीव से बाहर ज्ञान कुछ भी नहीं रहता और न समवाय संबंध से ही ज्ञान बाद में जीव से संबद्ध हो जाता है। यदि द्रव्य से गुण भिन्न और गुणों से द्रव्य भिन्न मान लिया जाए तो द्रव्य का अभाव हो जायगा। अतः चेतना लक्षण वाला जीव है। ज्ञान-दर्शन जीव का यह उपयोग है उससे जीव सदा अनन्यभूत है। एवं चेतना लक्षण से अलग-हीन जो कुछ भी है वह सब अजीव है।

पुद्गल व भेद

फासो गंधो रसो वण्णो, विज्जंते जम्मि सव्वदा।
पोग्गलो तस्स बेभेया, मण्णे खंधो अणू तहा॥129॥
पोग्गलस्साविभागी य, खंडमणू हु उच्चदे।
तस्स अचिंत-सत्तिं हु, विण्णाणी अभिजाणदे॥130॥

अर्थ–जिसमें सर्वदा स्पर्श, गंध, रस और वर्ण विद्यमान है वह पुद्गल है उसके दो भेद स्कंध तथा अणु माने जाते हैं। पुद्गल के अविभागी खंड को अणु कहते हैं, उसकी अचिंत्य शक्ति को विज्ञानी ही जानते हैं।

Substance which consists touch, smell, taste and colour, is called matter. It is of two kinds- atom and molecules. Infinitesimal part of matter is called atom. Only an enlightened person knows its infinite power.

भावार्थ–पुद्गल में मुख्य रूप से चार धर्म प्रसिद्ध हैं–स्पर्श, रस, गंध और वर्ण। आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है **'स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः'** अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं। किसी समय इन गुणों की विशेष पर्याय ही जानने में आती है। जैसे स्पर्श गुण की पर्याय ठंडा या गर्म। रस गुण की पर्याय खट्टा, मीठा, कड़वा आदि। स्पर्श, रस आदि ये गुण हैं एवं क्रमशः ठंडा, खट्टा आदि इनकी पर्याय हैं। यद्यपि गर्म-ठंडा, खट्टा-मीठा आदि लोक में गुण नाम से प्रसिद्ध हैं किंतु वे गुण नहीं उन गुणों की पर्याय हैं। गुण तो वह है जो कि सामान्य से इनके पीछे बैठा रहता है। जैसे कि खट्टा हो या मीठा परंतु वह है तो रस ही, है तो जिह्वा इंद्रिय का विषय। यह जिह्वा की बजाय चक्षु इन्द्रिय का विषय बन जाए यह संभव नहीं। पर्याय बदलती रहती है पर गुण नहीं। खट्टा, मीठा में परिवर्तित तो हो सकता है पर रस तो रस ही रहेगा।

इस प्रकार चार गुणों की 20 पर्याय प्रसिद्ध हैं। स्पर्श गुण की आठ पर्याय होती हैं–हल्का, भारी, ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना, कठोर, नरम। ये आठों ही विषय स्पर्शन से जाने जाते हैं। रस गुण की पाँच पर्याय हैं–खट्टा, मीठा, कड़वा, कसायला व चरपरा। गंध गुण की दो पर्याय हैं–दुर्गन्ध व सुगन्ध। वर्ण गुण की भी 5 पर्याय हैं–काला, पीला, लाल, नीला, सफेद। इस प्रकार कुल 20 पर्याय होती हैं।

पर्याय निरंतर बदलती रहती हैं इसीलिए किसी भी गुण की एक समय में एक ही पर्याय उपलब्ध होती है। जैसे जिस समय रस गुण में खट्टापन प्राप्त है, उसी समय उसमें मीठापन प्राप्त नहीं हो सकता। किंतु हाँ, अगले समय में हो सकता है। इसलिए जब खट्टा स्वाद प्रतीति में आएगा तब मीठा नहीं और जब मीठा आएगा तब खट्टा नहीं। इस प्रकार प्रत्येक गुण की एक समय में

एक ही पर्याय जानी जा सकती है। इसीलिए प्रत्येक पुद्गल पदार्थ में चार गुणों की कोई भी अपनी-अपनी चार पर्यायें उपलब्ध होनी चाहिए। परंतु स्पर्श गुण में कुछ विशेषता है। स्पर्श गुण की आठ पर्याय बतायीं गयी हैं जो पृथक्-पृथक् चार जोड़ों के रूप में हैं। ठंडा-गर्म, हल्का-भारी, रूखा-चिकना व कठोर-नरम। वे चारों जोड़ें क्योंकि स्पर्शन इंद्रिय से ही जाने जाते हैं इसीलिए एक स्पर्श गुण कहा गया है, परंतु इन जोड़ों में परस्पर जाति भेद है।

जिस प्रकार ठंडा गर्म जानने में आता है उस प्रकार की प्रतीति चिकने-रूखे आदि रूप में नहीं होती है। इसीलिए चारों जोड़े स्वतंत्र हैं। प्रत्येक जोड़े में से कोई भी एक पर्याय एक समय में जानी जा सकती है। जो पदार्थ ठंडा है, वह उसी क्षण रूखा या चिकना, कठोर या नरम तथा हल्का या भारी भी हो सकता है अतः स्पर्श गुण में चार पर्याय उपलब्ध होती हैं। इसीलिए रस, गंध व वर्ण की एक-एक पर्याय मिलाकर तीन तथा स्पर्श की चार, सब मिलाकर सात पर्याय हो जाती हैं, जो किसी भी पुद्गल पदार्थ में एक समय में देखी जा सकती हैं।

किंतु ये सात पर्याय स्कंधों में पाई जाती हैं। जो दो या दो से अधिक परमाणुओं से मिलकर बनता है वह स्कंध कहलाता है। ये सात पर्याय परमाणु में नहीं होती। परमाणु को न कठोर कह सकते, न नरम, न हल्का कह सकते, न भारी। अतः परमाणु में केवल दो ही जोड़े उपलब्ध होने के कारण उसमें स्पर्श गुण की प्रति समय दो पर्याय होनी ही संभव हैं। शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, ऊष्ण-स्निग्ध व ऊष्ण-रूक्ष। इन चारों युगलों में से कोई एक युगल स्पर्श पर्याय रहती है। पंचास्तिकाय में परमाणु में गुण-पर्याय के स्वरूप को बताते हुए कहा भी है-**'एगरसवण्ण गंध दो फासं'** अर्थात् परमाणु एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्श पर्याय वाला है। इस प्रकार स्कंध में चार गुणों की सात पर्यायें तथा परमाणु में पाँच पर्यायें होना संभव है।

पुद्गल के दो भेद कहे गए-परमाणु व स्कंध। **'अणवः स्कंधाश्च'**। पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं। वह एक प्रदेशी होता है इसीलिए उसका दूसरा भाग नहीं हो सकता। तिलोयपण्णत्ति में परमाणु को परिभाषित करते हुए कहा गया है-

अंतादि-मज्झ-हीणं अपदेसं इंदिएहिं ण हि गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं, तं परमाणुं कहंति जिणा॥98॥

जो द्रव्य अंत, आदि एवं मध्य से विहीन, प्रदेशों से रहित (अर्थात् एक प्रदेशी), इंद्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सके, विभाग रहित है उसे जिनेंद्र भगवान् परमाणु कहते हैं। अथवा पंचास्तिकाय में भी कहा है-

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो, एक्को अविभागी मुत्तिभवो॥84॥

सब स्कन्धों का जो अंतिम खंड है अर्थात् जिसका दूसरा खंड नहीं किया जा सके उसे परमाणु जानो। वह परमाणु अविभागी, एक प्रदेशी, शाश्वत, अशब्द व मूर्त्तिक है।

अर्थात् पुद्गल का सबसे छोटा अंश परमाणु है इसे विभक्त नहीं किया जा सकता। आधुनिक कैमिस्ट्री में जो ऐटम माने गए हैं वे जैन दर्शन के परमाणुओं के समकक्ष नहीं हैं। यद्यपि ऐटम का अर्थ प्रारंभ में यही कहा गया था कि जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता। किंतु वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया कि ऐटम इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन व न्यूट्रॉन से मिलकर बना है। जबकि परमाणु तो वह मूलकण है जो दूसरों के मेल के बिना स्वयं कायम रहता है।

अनेक परमाणुओं के बंध से जो द्रव्य तैयार होता है, उसे स्कंध कहते हैं। दो परमाणुओं के मेल से द्वयणुक, तीन परमाणुओं के मेल से बना त्रयणुक होता है इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात व अनंत परमाणुओं से मिलकर संख्यात, असंख्यात व अनंतप्रदेशी स्कंध तैयार होते हैं। हमें जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब स्कंध है। धूप में जो कण उड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी स्कंध ही हैं।

परमाणु मिलकर के स्कंध व स्कंध खंड-खंड हो परमाणु रूप होते रहते हैं। परमाणु पुद्गल की शुद्धावस्था है। जीव शुद्ध होकर पुनः कभी अशुद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य स्व शुद्धावस्था को ही प्राप्त हैं और पुद्गल शुद्ध से अशुद्ध, अशुद्ध से शुद्ध होता रहता है। साइंस में यूरेनियम एक धातु है, उससे सदा तीन प्रकार की किरणें निकलती रहती हैं। जब यूरेनियम का एक अणु तीनों किरणों को खो बैठता है तो वह एक रेडियम के रूप में बदल जाता है। इसी तरह रेडियम अणु शीशा धातु में परिवर्तित हो जाता है। यह परिवर्तन बताता है कि मैटर एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए यह सब पुद्गल कहलाता है। पुद्गल = पुद् + गल पुद् का अर्थ है पूर्ण होना या मिलना और गल का अर्थ है गलना या बिछुड़ना। क्योंकि सर्व ही द्रव्य पदार्थ मिल-मिलकर बिछुड़ते हैं और बिछुड़-बिछुड़कर मिलते हैं, जुड़-जुड़कर टूटते हैं और टूट-टूटकर जुड़ते हैं इसलिए इन्हें पुद्गल कहा जाता है।

पुद्गल का माहात्म्य तो देखो कि अनंत शक्ति स्वरूप आत्मा को भी संसार में परिभ्रमण करा रहा है। अतः पुद्गल को जानकर वहाँ से दृष्टि हटाकर अपने चेतन स्वरूप पर लक्ष्य ले जायें और सदा तृप्त तथा आनंद निमग्न रहें।

अणु, स्कंध देश व प्रदेश

अप्पदेसी अणू होंति, खंधा बहु-पदेसी य।
तस्स अद्धो हु देसो य, पदेसो तस्स अद्धगो।131।।

अर्थ–अणु अप्रदेशी होते हैं और स्कंध बहुत प्रदेशी होते हैं। उसके आधे भाग को देश व उसके आधे को प्रदेश कहते हैं।

Atom is without space points and molecules are with many space points. Half part of molecules is ***desha*** and half part of ***desha*** is known as ***pradesha.***

भावार्थ–अणु या परमाणु अप्रदेशी अर्थात् एक प्रदेश वाला होता है। उसके भेद या विभाग नहीं हो सकते। **'प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्तेशब्द्यन्त इत्यणवः'** अर्थात् एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो कहे जाते है वे अणु कहलाते हैं। परमाणुओं के मिलने से स्कंध अणुक होते हैं। दो अणुओं के मिला देने से दो अणुक स्कंध हो जाता है, तीन अणुओं को मिला देने से तीन अणुक स्कंध हो जाता है इसी प्रकार अनंत तक जान लेना चाहिए। परमाणु रूप पिण्ड को स्कंध जाना जाता है। स्कंध का आधा भाग देश व देश का आधा भाग प्रदेश कहलाता है। स्कंध, देश, प्रदेश को सरलता से समझाने हेतु आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ने एक दृष्टान्त दिया उसी को यहाँ कहते हैं–

16 परमाणु के पिण्ड की स्कंध कल्पना को उसमें से एक-एक परमाणु घटाते जाने पर जब तक 9 परमाणु का पिंड है तब तक जितने भेद हैं उन सभी को 16 परमाणु के पिंड से घटाते हुए 9 परमाणु के पिंड तक स्कंध कहा जाता है। जब वह पिंड आठ परमाणु का रह जाता है तब उसे देश कहते हैं। वहाँ भी एक-एक परमाणु 8 परमाणु के पिण्ड से घटाते हुए 5 परमाणु के पिंड तक जितने भी भेद हैं उन्हें भी देश कहते हैं। चार परमाणु के पिंड को प्रदेश कहते हैं। वहाँ भी फिर एक-एक परमाणु घटाते हुए दो परमाणु तक के जितने भेद हैं उन्हें भी प्रदेश कहते हैं। और परमाणु अविभागी है।

पुद्गल शक्ति

विज्जदे किरियासत्ती, जीवेसु पोग्गलेसु य।
संकोड-वित्थराणं च, मुत्तिगो खलु पोग्गलो।132॥

अर्थ–जीवों और पुद्गलों में संकोच और विस्तार की क्रियाशक्ति विद्यमान है। पुद्गल निश्चय से मूर्तिक है।

Activity of shrinkage and expansion exist in souls and matters. Matter is ***murtika*** (with touch, taste, smell and colour).

भावार्थ–संसार में जीवादि छः द्रव्य अनादिकाल से विद्यमान हैं। सभी द्रव्यों के अस्तित्वादि छह गुण सामान्य रूप से विद्यमान होते हैं किंतु कुछ गुण अलग-अलग पाए जाते हैं जो उस द्रव्य के विशेष गुण कहलाते हैं। जैसे आकाश में अवगाहनत्व गुण, काल द्रव्य में वर्तना गुण, धर्म द्रव्य में गति हेतुत्व गुण व अधर्म द्रव्य में स्थितिहेतुत्व गुण ऐसे ही जीव में चैतन्य गुण और पुद्गल में मूर्तत्व गुण। जीव और पुद्गल दो ऐसे द्रव्य हैं जिसमें संकोच और विस्तार की शक्ति भी पाई जाती है। पुद्गल मूर्तिक ही रहता है क्योंकि जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जाता है वह मूर्तिक कहलाता है। और यह बताया जा चुका है कि पुद्गल में ये चार गुण निश्चित रूप से होते हैं यहाँ तक कि पुद्गल का अविभागी अंश अर्थात् परमाणु में भी ये चार गुण पाए जाते हैं अतः पुद्गल मूर्तिक है।

व्यवहार में पुद्गल के साथ संबंध जीव मूर्तिक कहा जाता है वा बंध की दृष्टि से उसमें अमूर्तत्व है। किंतु जब वह शुद्ध दशा को प्राप्त कर लेता है तो वह अमूर्तिक ही होता है।

जीव में एक विशेष प्रकार की संकोच विस्तार शक्ति है। यद्यपि प्रत्येक आत्मा असंख्यात प्रदेशी होती है किंतु वह असंख्यात भी एक ही है क्योंकि उन्हें भी अलग-अलग नहीं किया जाता है। जीवात्मा अखंड है। जब देव आदि अपने मूल शरीर से तो अपने विमानों में रहते हैं और उत्तर शरीर से मध्य लोक में आते हैं तब ऐसा नहीं कि आत्मा के कुछ प्रदेश मूल शरीर में रह जाएँ और कुछ प्रदेश उत्तर शरीर में आ जाएँ। स्वर्ग से लेकर मध्य लोक तक अर्थात् मूल देह से उत्तर देह तक आत्मा के प्रदेश अनुस्यूत रहते हैं। आपने देखा होगा कि छिपकली की पूँछ उससे अलग होने के बाद भी कुछ समय हिलती रहती है इसका कारण यही है कि छिपकली के आत्म प्रदेश कुछ समय तक वहाँ तक अनुस्यूत रहते हैं पुनः कुछ समय पश्चात् संकुचित हो देह में ही पहुँच जाते हैं।

आत्मा के जो असंख्यात प्रदेश हजार योजन लंबे, 500 योजन चौड़े व 250 योजना ऊँचे एक विशालकाय मच्छ में पाए जाते हैं वही आत्मा के असंख्यात प्रदेश अतिसूक्ष्म एक निगोदिया जीव में पाए जाते हैं। चाहे महामत्स्य हो या सूक्ष्म निगोदिया जीव-दोनों में ही आत्मा समान है, असंख्यात प्रदेशी है, एक भी प्रदेश का अंतर नहीं है। ऐसा नहीं है कि महामत्स्य के लिए उसमें कुछ प्रदेश

मिल जाऐं या निगोदिया के लिए कुछ घट जाएँ क्योंकि आत्मा अखंड है। इसमें न कुछ जोड़ा जा सकता है और न कुछ पृथक् किया जा सकता है। वह तो उसकी संकोच-विस्तार शक्ति का ही कार्य है कि बिना टूटे भी वह सिकुड़कर छोटा हो जाता है और बिना मिले ही वह फैलकर बड़ा हो जाता है। जैसे कि दीपक को कोई ग्लास में रखें तो प्रकाश ग्लास जितना और ड्रम में रखें तो ड्रम जितना और कक्ष में रखें तो कक्ष जितना हो जाता है। उसी प्रकार प्रकार यदि जीव को छोटे शरीर में रहना पड़े तो छोटा और बड़े शरीर में रहना पड़े तो बड़ा हो जाता है। कहा भी है–**'प्रदेश संहार विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्'** अर्थात् दीप के प्रकाश के समान जीव के प्रदेशों का संकोच विस्तार होता है।

अभी जीव की संकोच-विस्तार शक्ति को समझने के लिए पुद्गल का ही उदाहरण लिया अतः पुद्गल में भी संकोच-विस्तार की क्रिया शक्ति विद्यमान है। पुद्गल दृष्टिगोचर होता है, चाक्षुष है आपके देखने में भी आया होगा अतः इसे समझना सुलभ है। एक बड़े कक्ष में फैली हुई गैस को छोटे सिलेण्डर में यदि भर दिया जाए तो पुद्गल के जो प्रदेश पहले पूरे कमरे में समाए थे अब छोटे से सिलेण्डर में आ गए अथवा रूई को जब धुना गया तब ज्यादा स्थान लिया, उसी को एक छोटे ड्रम में भरकर रखा जा सकता है। पुद्गल के तो अनेक उदाहरण हैं, अन्य सब सुलभ है।

पुद्गल भी जीव का उपकारी

तियाजोगो मुणेयत्वा, आणापाणो वि पोग्गला।
जीवस्स उवयारी हु, कम्मक्खादीणि सव्वदा।133॥

अर्थ–मन, वचन, काय तीनों योग और श्वासोच्छ्वास भी पुद्गल जानना चाहिए। कर्म, इंद्रिय आदि सर्वदा जीव के उपकारी हैं।

Body, mind and speech, these three-fold activities and respiration should be known matter. Karmas, senses etc. are beneficent to soul.

भावार्थ–पूरन व गलन स्वभाव से युक्त पुद्गल कहलाता है। अथवा स्पर्श, रस, गंध व वर्ण से युक्त पुद्गल है।

'स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः'

यह पुद्गल 6 प्रकार का कहा गया है–

अइथूलथूल थूलं, थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छब्भेयं॥21।2॥ नियमसार

अति स्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म इस प्रकार ये छः भेद कहे गए हैं।

पुद्गल का प्रथम भेद है–**अति स्थूल-स्थूल।** जिन पदार्थों तो तोड़ने या अलग करने पर पुनः उन्हें जोड़ने पर दरार पड़ जाती है वे अति स्थूल-स्थूल भेद के अंतर्गत आते हैं। जैसे–पत्थर, लकड़ी आदि। जिन पदार्थों को अलग करने पर पुनः जोड़ने पर बीच में दरार न पड़े, वे **स्थूल** भेद के अंतर्गत आते हैं जैसे–दूध, पानी, तेल आदि। वे पदार्थ जो दिखते तो हैं किंतु किसी अन्य इन्द्रियों के द्वारा पकड़ में नहीं आते वे **स्थूल-सूक्ष्म** भेद के अंतर्गत आते हैं। जैसे–छाया आतप अंधकार आदि। चक्षु इंद्रिय को छोड़कर स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत के सभी विषय **सूक्ष्म-स्थूल** भेद के अंतर्गत आते हैं अथवा वे पदार्थ जो दिखाई न दें किंतु अन्य इंद्रियों के द्वारा पकड़ में आएँ जैसे–शब्द, गंध आदि। वे पदार्थ जो किसी इंद्रिय के द्वारा पकड़ में नहीं आते किंतु अनुभव में आते हैं अर्थात् कर्मवर्गणा के योग्य स्कंध **सूक्ष्म** कहलाते हैं। और पुद्गल का वह भेद जिसका कोई दूसरा भेद न हो सके अर्थात् परमाणु, यह पुद्गल के **सूक्ष्म-सूक्ष्म** भेद के अंतर्गत आता है।

मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास, इंद्रिय, कर्म आदि पुद्गल हैं। पुद्गल जीव का उपकारी है। पुद्गल के बिना संसार की यात्रा संभव नहीं। जीवन-मरण, विषयसुख वा दुःख, पुण्य-पाप आदि पुद्गल के ही कारण हैं। कहा भी है–

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक्।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते॥

स्कंधों के गलन-भेद से अणु कहलाता है और पूरण से परमाणु या स्कंधों के मिलने से स्कंध नाम पाता है। इस पुद्गल पदार्थ के बिना लोकयात्रा नहीं हो सकती है। पुद्गल द्रव्य जीव को संसार की यात्रा कराने के लिए वाहन के समान है। पुद्गल के संबंध से ही जीव पंच परिवर्तन रूप लोकयात्रा कर रहे हैं। पुद्गल से संबंध नष्ट होते ही जीव का सांसारिक परिभ्रमण नष्ट हो जाता है व अनंत काल के लिए शुद्ध स्वात्म गुणों का उपभोग करता है।

किंतु जब तक जीव संसार में है, कर्म युक्त है तब पुद्गल उपकारी सिद्ध होता है। कहा है–**'अजंगमं जंग-मनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं'** जैसे जंगम-चेतन जीव से चलाने योग्य यंत्र अजंगम-अचेतन होता है वैसे ही जीव-चेतन, शरीर रूप अचेतन यंत्र को चलाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सब पुद्गल हैं इन सभी के बिना जीव का जीना संभव नहीं। धन-धान्य, खाद्य पदार्थ, शब्द, प्रकाशादि सब पुद्गल हैं, मन-वचन-काय सभी पुद्गल हैं व जीव के लिए उपकारी हैं। कर्म के क्षयोपशम से जीव ज्ञानी, शक्तिशाली आदि कहलाता है, शुभ कर्मोदय से ही जीव सुंदर, सुस्वर आदि युक्त होता है। ये सभी पुण्य कर्म जीव के उपकारी हैं और अशुभ कर्मोदय से, पाप कर्मोदय से जब जीव को दुःख प्राप्त होता है तब पाप के उदय में बहुत बार जीव पुण्य के लिए प्रेरित होता है अतः ये अशुभ कर्म भी जीव के लिए उपकारी सिद्ध होते हैं।

एक बार किसी दरबार में एक देव प्रकट हुआ। उस देव ने सभी से कुछ-न-कुछ माँगने को कहा। सभी ने कुछ-न-कुछ माँगा किंतु एक व्यक्ति ने कुछ नहीं माँगा। देव ने उस व्यक्ति से भी कुछ माँगने को कहा। व्यक्ति ने कहा–नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। सभी लोग कहने लगे-अरे! ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता, धन-धान्यादि जो माँगना हो उसे माँग लो। देव ने भी कहा 'माँग लो, संकोच मत करो, कुछ भी माँगो।' तब वह व्यक्ति बोला यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो मुझे दुःख दें, मेरे जीवन को दुःखों से भर दें। उस व्यक्ति की यह बात सुन सब हैरान रह गए। उससे पूछा 'आप ऐसा क्यों माँग रहे हो?' जानते हो क्या कह रहे हो? व्यक्ति बोला 'हाँ! मैं जानता हूँ। पुण्य में, सुख में व्यक्ति अक्सर भगवान् को भूल जाता है। मैं चाहता हूँ कि मैं हर पल ईश्वर को याद रखूँ, उनकी पूजन अर्चना करूँ।' उस व्यक्ति का यह उत्तर सुन सभी लोग विस्मित हो गए। वास्तव में दुःख भी जीव का उपकारी है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है–

सुख-दुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च'

पुद्गल जीव का उपकारी हैं। पुद्गल को जानकर उससे अपने आपको पृथक् करने के लिए श्रीमत् अमृतचंद्र सूरि कहते हैं–

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध–
चैतन्यधातुमयमूर्त्तिरयं च जीवः॥

इस अनादिकालीन अविवेकरूपी नाट्यशाला में वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है अन्य–जीव नहीं नाच रहा है क्योंकि यह जीव रागादिरूप पौद्गलिक विकारों से विरुद्ध-विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति स्वरूप है। अतः पौद्गलिक पदार्थों से प्रीति हटाकर आत्मा में प्रीति करो, जिससे संसार परिभ्रमण का नाश हो सके।

पुद्गल-पर्याय

पोग्गलस्स य पज्जाया, मण्णे सुह-दुहाणि य।
एगंतेण हु णो होदि, पोग्गलो अवरो वरो।134।।

अर्थ–सुख और दु:ख भी पुद्गल की पर्याय मानी जाती हैं, एकांत से वह पुद्गल श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ नहीं होता है।

Happiness and sorrow are known as the form of matter. Matter is not good or bad from one view.

भावार्थ–यहाँ आचार्य महाराज ने अपने भाव को इस प्रकार से प्रकट किया है कि पुद्गल की पर्यायें सुख-दु:ख दोनों रूप मानी जाती हैं। कोई पुद्गल को प्राप्त करके कहता है मुझे इससे सुख मिल गया है, कोई उसी से दु:ख मानता है, कोई शुभ भी मानता है कोई अशुभ भी मानता है। एकांतत: देखें तो ऐसा होता नहीं है।

पुद्गल की जितनी भी पर्यायें हैं, अणु से लेकर महास्कंध तक जितनी भी वस्तुयें दिखाई दे रहीं हैं सबके अलग-अलग नाम हैं चाहे भोज्यसामग्री हो, वस्त्राभूषण हो, शरीर हो, श्वासोच्छ्वास हो, चाहे भाषावर्गणा हो, मनोवर्गणा के परमाणु हों, चाहे कोई भी परमाणु किसी भी रूप में दिखाई दे रहा है वह एकांतत: सुखरूप नहीं है, दु:ख रूप नहीं है। शरीर किसी के लिये नरक का कारण बन रहा है, किसी के लिये स्वर्ग का कारण बन रहा है तो शरीर को एकांतत: न सुखरूप कारण कह सकते, न दु:ख रूप। एक व्यक्ति के लिये पुद्गल भोज्यसामग्री सुखरूप हो रही है, किसी के लिये दु:ख रूप हो रही है। जिस व्यक्ति के पास सूखी रोटी भी नहीं है उसे आज सूखी रोटी सब्जी मिल गयी, वह कहेगा मेरा तो आज भाग्य खुल गया है उसे देखकर उसके शरीर में विद्यमान जो ग्रंथियाँ हैं उनसे सकारात्मक हार्मोन्स निकलेंगे। उसी भोजन को देखकर के दूसरा रईस व्यक्ति जो नाना प्रकार के व्यंजन खाने वाला है उसे क्रोध आ गया। तो पुद्गल वही है, एक के लिये क्रोध का कारण बन गया, एक के लिये आनंद का कारण बन गया।

धन को प्राप्तकर कोई अहंकार से भर जाता है तो कोई धन पाकर दयनीयता का भाव रखता है, कोई लोभी बनकर रह जाता है तो कोई उसे प्राप्त करने के लिये मायाचारी करने लगता है और कोई ऐसा भी होता है जिसे सामने वाला देना चाहता है तब भी वह लेना नहीं चाहता, वस्तु वही है। एक ही वीतरागी मुद्रा को देखकर के हर व्यक्ति अपने परिणाम अलग-अलग करता है। स्वर्ण-रत्न की मूर्ति थी चोर चोरी करने की सोच रहा है कि कब लोगों की नजरों से बचाकर चोरी करके ले जाऊँ, दूसरा व्यक्ति सोच रहा है क्या वीतरागी मुद्रा है, वह दर्शन कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर रहा है, कोई आत्मचिंतन में लीन होता है, कोई उसी दिगम्बर मुद्रा को देखकर मिथ्यात्व का

पोषण कर रहा है अरे यहाँ नग्न क्यों खड़े हो गये और क्रोधित हो रहा है। तो वस्तु एकांतत: न शुभ है न अशुभ है। वस्तु जैसी थी वैसी है, उसके स्वभाव में कभी परिणमन नहीं होता वह अपने स्वभाव को छोड़ती नहीं।

पौद्गलिक वस्तु को देखकर एक व्यक्ति राग करता है एक द्वेष करता है, एक उसी के निमित्त से दु:ख का अनुभव करता है, दूसरा सुख का अनुभव करता है। पार्श्वनाथ पुराण में राजा अरविंद का उदाहरण दिया कि एक वेश्या को देखकर सभी के परिणाम अलग-अलग हुये। जब आष्टाह्निक पर्व में राजा अरविन्द ने विधान करवाया तो दो ऋद्धिधारी मुनिराज वहाँ आये थे, उनसे राजा अरविन्द ने पूछा-महाराज! क्या ये धातु की प्रतिमायें कुछ दे सकती हैं? ये तो पुद्गल हैं। उन्होंने कहा-नि:संदेह निमित्त बनती हैं। बिना निमित्त के संसार का कोई कार्य नहीं होता है। निमित्त चार प्रकार के होते हैं। एक निमित्त बनता है द्रव्य, दूसरा क्षेत्र, तीसरा काल, चौथा भाव। ये चार निमित्त हैं। दूसरे प्रकार से देखें तो दो प्रकार के निमित्त होते हैं एक प्रेरक निमित्त दूसरे उदासीन निमित्त। अन्य दृष्टि से देखें तो एक निमित्त होता है अंतरंग का, एक होता है बहिरंग का।

निमित्त कौन-कैसा है यह अलग बात है। संसार में निमित्तों की कमी नहीं है, यह लोक ही निमित्तों से भरा पड़ा है। आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने 'धवलाजी' में लिखा है-लोक निमित्त से भरा पड़ा है, उस योगी के लिये जो आध्यात्मिक चिंतन करना चाहता है, अपनी आत्मा में डूबना चाहता है, 'उस भोगी के लिये भी पूरा लोक निमित्तों से भरा पड़ा है जिसे अपने परिणाम अशुद्ध बनाने हों तो निमित्तों से बना सकता है। हम यही समझतें हैं शायद हम अभी तक यही गलती करते चले आये थे, हम निमित्तों को दोष देते हैं इस निमित्त के कारण ऐसा हो गया, वैसा हो गया तो ये पुद्गल तो चैतन्यता से हीन है, यह स्पर्श 'रस गंध' वर्ण वाला है इस पुद्गल को दोषीक न बनायें। हमारी आत्मा ने ही उस पुद्गल का उस तरह उपयोग किया। जैसे एक माचिस से अपनी झोंपड़ी भी जलायी जा सकती है, उसी माचिस से कांटे-जलाकर अपनी सर्दी भी दूर की जा सकती है, चिराग जलाकर पथ का अंधकार भी दूर किया जा सकता है।

संक्षेप में यही समझें कि वह पौद्गलिक वस्तु एक ही शक्ति से युक्त है, उभय शक्ति से नहीं। उभय शक्ति प्रयोग करने वाला उसमें देखता है एक अच्छे रूप में शक्ति को देखता है, एक बुरे में देखता है। अत: एकांतत: न पुद्गल श्रेष्ठ है और न अश्रेष्ठ।

पर्यायों में रागद्वेष

रायदोसं विहावं च, पज्जायेसु करेज्ज णो।
भव भमण हेदु त्ति, सस्सद-दुह कारणं।135॥

अर्थ–पर्यायों में राग-द्वेष रूप विभाव नहीं करना चाहिये, यह भवभ्रमण का हेतु है और शाश्वत दु:ख का कारण भी है।

Contradistinction like love and malice should not be done in forms. It is the cause of transmigration and of eternal pains.

भावार्थ–राग व द्वेष अनादिकाल से संसार में भ्रमण करती प्रत्येक आत्मा के साथ संलग्न है। राग-द्वेष आत्मा का शुद्ध स्वभाव नहीं है विभाव स्वभाव है। यद्यपि विभाव भी स्वभाव होता है किंतु शुद्ध स्वभाव नहीं कहलाता। चेतना की या अन्य द्रव्यों की जो विभाव रूप पर्यायें हैं उसमें इस जीवात्मा को राग-द्वेष नहीं करना चाहिये क्योंकि यह राग-द्वेष भवभ्रमण का हेतु ही होता है और ये रागद्वेष तो शाश्वत दु:ख के ही कारण होते हैं। ये कभी शाश्वत सुख के कारण नहीं हो सकते। आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने भी कहा–

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग सम्पण्णो।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्झह॥

रागी जीव कर्मों को बाँधता है विरागी जीव कर्मों से छूट जाता है जिनेन्द्र भगवान् का संक्षेप में उपदेश यही है कि आप कर्मों में राग-द्वेष न करें। राग नहीं करो क्योंकि जहाँ राग होता है वहां नियम से द्वेष भी होता है।

राग यत्र पदं धत्ते, द्वेष तत्रेति निश्चयात्।

राग जहाँ अपना पैर रखता है द्वेष वहाँ निश्चय से आ जाता है। दोनों साथ हैं। यूँ कहें व्यक्ति, व्यक्ति की परछाई दोनों एक हैं वह उचित नहीं होगा। व्यक्ति की परछाईं तो अँधेरे में छूट जाती है किंतु राग-द्वेष ऐसे नहीं छूटते वो तो यूँ कहें सिक्के के दो पहलू की तरह से हैं, नदी के दो तटों की तरह से हैं साथ-साथ रहते हैं।

राग-द्वेष हैं क्या चीज? व्यक्ति कहता है इस संसार के पदार्थों ने मुझे बांध रखा है। जो व्यक्ति संसार में लीन हैं, उलझें हैं उन्हें लगता है ये सांसारिक वस्तुयें मुझे उलझा रही हैं। किंतु जो व्यक्ति इनसे ऊपर उठ गये तो लगता है इन वस्तुओं ने मुझे ऊपर उठने में सहारा दिया है। सीढ़ी, चढ़ने वाले के लिये चढ़ने में कारण है, उतरने वाले के लिए उतरने में कारण है। सीढ़ी ने जबरदस्ती किसी को चढ़ाया या उतारा नहीं, धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह से। ऐसे ही यहाँ बता रहे हैं कि राग-द्वेष नहीं करना चाहिये क्योंकि वह विभाव है, विकृत है। विकृत वस्तु को प्राप्त करके परिणाम विकृत होने की संभावना रहती है। उसको विशेष कृत्य करके विगत कर देना चाहिये, फिर कृत्यपना भी छूट जाये यानि कृत्य-कृत्य हो गया कुछ करना शेष नहीं रहा।

तो क्या करना है? क्या वस्तुओं को उठाकर फेंक देना है जिससे रागादि विकारी भाव न हों। नहीं, ऐसा नहीं करना। अनादिकाल से आत्मा में जो कर्मों का बंध हो रहा है उसका संवर करना है। उन्हें नष्ट करने के लिए क्या करना है? कुछ नहीं, बस समत्वभाव अर्थात् अपनी आत्मा में लीन होना है। आगे वाले कर्म मत बाँधों, पीछे वाले अपने आप अपनी अवधि खिरते ही चले जायेंगे। यदि आप निज लीन रहेंगे तो आपके वे कर्म जो समय पर खिरने वाले थे वे तो समय पर खिरेंगे ही, साथ ही असमय में अर्थात् सौ वर्ष, हजार वर्ष बाद जो खिरने वाले थे उन कर्मों के बंधन भी ढ़ीले पड़ जाते हैं। फिर तीव्र रूप में सविपाक निर्जरा होती है तो उसके साथ ही अविपाक निर्जरा भी होने लगती है। जैसे कोई राज मिस्त्री किसी नये मकान को तोड़ रहा है, धीमे-धीमे एक ईंट उखाड़ रहा था, पुनः उसने क्या किया नीचे वाली मंजिल की एक ईंट गिराई तो ऊपर की दीवार की 50-100 ईंट गिर गयी, पुनः उसने नीचे से बम ब्लास्ट किया जिससे नीचे से आधार से ईंट-गिरने से तेजी से ऊपर की सभी ईंटें गिरने लगी। ऐसे ही कोई योगी सविपाक निर्जरा करता हुआ भी ध्यान में लीन हो जाता है माना कर्मों पर बुल्डोजर ही चला दिया हो तो अविपाक निर्जरा इतनी तीव्र होती है कि अन्तर्मुहूर्त में ही समस्त कर्मों को ध्वस्त किया जा सकता है।

तो कर्मों को नष्ट नहीं करना है, कर्म तो स्वयं नष्ट हो जायेंगे, वे तो पुद्गल हैं, ये उस पर्याय को छोड़ दूसरी पर्याय को प्राप्त हो जायेंगे। हमारी आत्मा हमारी आत्मा के बाहर न जाये अर्थात् हमारी आत्मा अन्य पदार्थ में राग भी न करे और द्वेष भी न करे। राग-द्वेष विभाव परिणाम हैं और विभाव परिणाम से कर्मों का बंध होता है, कर्म संसार का कारण है और उससे दुःख प्राप्त होता है।

विराग का आशय ऐसा नहीं कि हमें किसी से द्वेष हो गया, या राग हो गया। विराग का आशय है विरलित राग। आपने राग-द्वेष को मंद कर दिया है। जैसे किसी रस्सी को उकेल करके ऐसा कर दिया कि वह आसानी से तोड़ी जा सकती है। जैसे सूतली है उसे यूँ तोड़ा तो नहीं टूट रही है, उसे उकेर दिया और फिर खींच दिया वह झिरझिरी सी हो गयी तो हल्के से झटके से भी टूट जायेगी। झटका लगाने में दोनों हाथ की शक्ति भी नहीं लग रही। या तो दोनों हाथ मजबूत हों तो सूतली तोड़ी जा सकती है, नहीं तो किसी एक शुभ निमित्त का आलम्बन ले लें और उस आलम्बन से उसे बांध दो, फिर जब उसे दोनों हाथ का झटका दोगे तो वह टूट जायेगी।

ऐसे ही हम वीतरागी भगवान का, जिनवाणी के शब्दों का, वीतरागी निर्ग्रंथ गुरु मुद्रा का आलम्बन लेकर समवशरण में पहुँच गये, वहाँ शुद्ध द्रव्य काल-भाव-क्षेत्र-बना लिये तो एक ही झटके में अन्तर्मुहूर्त में वह अनादिमिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, फिर वह श्रेणी चढ़ सकता है, फिर वह कुछ ही अन्तर्मुहूर्त में सिद्ध बन सकता है। यह आत्मा की शक्ति है। कर्मों को नाश करने का उपाय है कि हम कर्मों को बुलायें नहीं तो पूर्वबद्ध कर्म स्वतः विगलित हो जायेंगे। यहाँ बस इतनी सी बात कही विभाव परिणाम में रंजायमान नहीं होना चाहिये।

तत्त्वदृष्टि है भूतार्थ

दिट्ठिं धरेदि दव्वम्मि, तच्च-दिट्ठि हि मण्णदे।
तच्च-दिट्ठि हु भूदत्थो, अभूदत्थिदरो तहा।136॥

अर्थ–जो द्रव्य में दृष्टि रखता है वह ही तत्त्वदृष्टि माना जाता है। तत्त्वदृष्टि निश्चय से भूतार्थ है इतर अभूतार्थ है।

One who always thinks of substance is considered knower of reality. Thinking only of reality or substance is ***bhutartha*** (real) other is ***abhutartha*** (practical).

भावार्थ–यहाँ पर आचार्य महोदय कहना चाह रहे हैं–संसार में दो मार्ग हैं, मार्गी हमेशा दो दिशा में गति कर सकता है। एक दिशा है स्वकीय गन्तव्य की ओर जो कि एक ही है अन्य जो अनंत मार्ग हैं उन्हें छोड़कर के केवल एक ही है। अन्यमार्ग इतर मार्ग कहलाते हैं। वे गन्तव्य से दूर ले जाने प्रतिकूल चलाने वाले होते हैं। जो मार्गी है वह अपने गन्तव्य पर चल रहा है, प्रयोजन को सिद्ध कर लेगा, भूतार्थ दृष्टि वाला है। दूसरा इसके अलावा जितने भी मार्ग हैं, जो खड़ा है उसे मार्गी नहीं कहते, चलने वाले को मार्गी कहते हैं। तो ऐसे ही द्रव्यदृष्टि तत्त्वदृष्टि होती है। द्रव्य कहने से गुण और पर्याय दोनों होती हैं। पर्याय उत्पन्न होती हैं नष्ट होती हैं, गुण ध्रौव्य रूप से होते हैं।

जिसकी दृष्टि द्रव्य पर है उसने गुणों को भी देखा है, गुणों को भी जाना है, गुणों को भी ग्रहण किया है जो हमेशा शाश्वत रहते हैं और पर्यायों को भी जाना है जो उत्पन्न होती हैं नष्ट होती हैं। द्रव्य की दृष्टि है तो दोनों को एक साथ देख ले। यदि अकेली गुण दृष्टि है तो अधूरी थी क्योंकि वह गुण की पर्यायों को मानता नहीं तो गुणों को भी पकड़ नहीं पाता। पर्याय दृष्टि है तब भी अधूरी दृष्टि है बिना गुण-द्रव्य के पर्यायें होती नहीं।

व्यक्ति कहे कि मैं तो घी का पैकेट लाया हूँ, तो वह जरूरी नहीं घी ही लाया हो वह खाली पैकेट भी ला सकता है। एक कहे कि मैं घी लाया हूँ पैकेट नहीं लाया, घी को हाथों में पकड़कर लाया तो भी घी पिघल गया कुछ नहीं बचा। अर्थात् जिसने गुण को पकड़ा बिना पर्याय के तो पकड़ में नहीं आया, जिसने पर्याय को पकड़ा बिना गुण के तो पकड़ में नहीं आया। जिसने पैकेट सहित घी को पकड़ा तो दोनों पकड़ में आ गये। पैकेट सहित घी का नाम है 'द्रव्य'। द्रव्य में उसका स्वभाव-विभाव दोनों आ गये।

तत्त्व का अर्थ होता–**'तद्भावास्तत्त्वं'** जिसका जो स्वभाव है वह उसका तत्त्व कहलाता है। यहाँ आचार्य कह रहे हैं 'जो द्रव्य में दृष्टि धरता है उसकी दृष्टि तत्त्वदृष्टि ही मानी जाती है।' किंतु वही तत्त्वदृष्टि भूतार्थ है क्योंकि कि तत्त्व लिया है। पर्याय की दृष्टि पूर्ण तत्त्व दृष्टि नहीं है उसने अपूर्ण द्रव्य को पकड़ा है। दूसरे उदाहरण से स्पष्ट करें–

जिस व्यक्ति ने यदि नदी के किनारों को पकड़ा, जरूरी नहीं उसने नदी का समग्र भाग पकड़ लिया हो, वह किनारे पर खड़ा है दोनों किनारे सूखे पड़े हैं। जिस व्यक्ति ने पानी को देखा किनारे नहीं देखे तो वह उसे नदी नहीं कह सकता। किंतु जो दो किनारों के बीच बहती हुयी नदी को देख रहा है वही नदी का सही स्वरूप समझ रहा है। समुद्र का किनारा अलग है, समुद्र अलग है। क्या है समुद्र? किनारे पर खड़े होकर लहरों को देखना समुद्र नहीं है, किनारों को देखना समुद्र नहीं है। और उसकी लहरों को देखने से आनंद मात्र भी समुद्र नहीं है समुद्र का आनंद समुद्र में है। लहरें, किनारा पूर्ण समुद्र नहीं है। जो व्यक्ति समुद्र में गोता लगा रहा है, रत्नों तक पहुँच गया वह वास्तव में रत्नाकर तक पहुँच गया। क्योंकि उसने अंदर के रत्न भी देख लिये और बाहर की लहरें भी देख लीं। जो अकेली लहरों को देखता है उसने रत्न नहीं देखे, जो अकेले रत्नों को पकड़ कर डूब गया वह लहरों को नहीं देख रहा।

जो व्यक्ति रत्न ला रहा है, ऊपर किनारे तक आ रहा है, किनारे-लहर-रत्न सब देख रहा है या जब प्रलयकालीन हवा चली उससे समुद्र का पानी उछलकर बहुत दूर तक चला गया तो पुनः जमीन तल में पड़े रत्न उसे दृष्टिगोचर होने लगे, तब उसे अनस्यूत दिखाई दे रखा है। समुद्र को ऊपर की लहर से नीचे तल में पड़े रत्न तक देख रहा है। तो वह रत्नाकर का समग्र भाग देख रहा है। ऐसे ही द्रव्य को देखने से निःसंदेह व्यक्ति तत्त्व तक पहुँच जाता है। द्रव्य का स्वभाव क्या है? यानि उसमें गुण भी हैं और पर्याय भी, उसमें ध्रौव्यता भी है और चल-अचलपना भी है।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं 'भूतार्थ' अर्थात्, यथार्थ, सत्यार्थ, प्रयोजन' जो इस आत्मा का यथार्थ प्रयोजन है सत्य रूप प्रयोजन है उस सत्यरूप को प्राप्त करने के लिये इसे तत्त्वदृष्टि द्रव्यदृष्टि की आवश्यकता है। द्रव्यदृष्टि के बिना तत्त्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता, स्वभाव को प्राप्त नहीं कर सकता, अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये जिन व्यक्तियों को तत्त्व को जानना है तो द्रव्य को जानो। द्रव्य को जानने वाला तत्त्व को जान सकता है। अकेली पर्याय को जानने वाला तत्त्व को नहीं जान सकता, अकेले गुण को जानने वाला तत्त्व को नहीं जान सकता। दोनों जानना जरूरी है। जैसे ऊपर चढ़ने के लिये नसैनी की दो बल्लियाँ होती हैं, पेड़ी भी होती है दोनों बल्लियों से छत पर नहीं पहुँचा जा सकता और बिना बल्लियों के खाली पेड़ी लगी हो तब भी छत तक नहीं पहुँचा जा सकता। तो जैसे नसैनी में लगी दोनों बल्लियाँ व पेड़ी आवश्यक है उसी तरह से उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय से युक्त पर्यायों को जानना भी जरूरी है, ध्रौव्य रूप से युक्त उस गुण को भी जानना जरूरी है इन दोनों को जानने का नाम ही द्रव्य को जानना है। इसको जानना ही तत्त्वदृष्टि कहलाती है। वह तत्त्वदृष्टि वाला व्यक्ति अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ होता है। पर्यायों में मूढ़ रहने वाला व्यक्ति मूर्ख होता है अपने प्रयोजन से भटक जाता है। अतः तत्त्वदृष्टि रखकर अपने प्रयोजन को सिद्ध करें।

निश्चय व व्यवहार

णिच्छयो ववहारो य, दव्व-पराण-आसयो।
कमेण खु मुणेयव्वो, भव्वो तं गहदे सया।137।।

अर्थ–द्रव्य का अवलंबन और पर का अवलंबन क्रम से निश्चय और व्यवहार जानना चाहिये। निश्चय से भव्य जीव उसे ग्रहण करता है।

Recumbency of substance and recumbency of other should be known as ***nishchaya*** (real) and ***vyavhaar*** (practical) respectively. Potential souls always accept it.

भावार्थ–यहाँ आचार्य भगवन् कह रहे हैं–जो द्रव्य का आश्रय लेता है वह निश्चय नय है जो इससे इतर अर्थात् द्रव्य से पर का आश्रय लेता है वह व्यवहार नय है। द्रव्य सीधा-सीधा ले लिया तो द्रव्यदृष्टि कहलाती है क्रम से गुण-पर्यायों को लिया तो पर्याय दृष्टि कहलाती है। भव्य जीव को सदा ही उन दोनों दृष्टियों को ग्रहण करना चाहिये। एक के ग्रहण करने से काम नहीं चलेगा।

दो दृष्टियाँ होती हैं। एक दृष्टि होती है समग्र दृष्टि दूसरी होती है विश्लेषण दृष्टि। समग्रदृष्टि में सब एक साथ ग्रहण होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक होती है महासत्ता का अवलोकन जिसे कहते हैं दर्शन चेतना, दूसरी कहें ज्ञान चेतना जिसमें अवांतर सत्ता का ग्रहण करना होता है। जो द्रव्यदृष्टि होती है वह समग्र को ग्रहण करती है। समग्र ग्रहण करना जो होता है वह जानने रूप होता है अवक्तव्य होता है। जो एक-एक रूप ग्रहण करना है वह वक्तव्य रूप होता है। तो जब पर्याय के रूप से कथन किया जाता है वह व्यवहार नय है जिसका विश्लेषण करते जाओ-करते जाओ। जैसे किसी ने कहा 'खीर'। खीर कहते ही द्रव्यदृष्टि वाला समझ सकता है इसमें क्या-क्या चीज है। उसने पहले जान लिया कि दूध ऐसा होता है, चावल-शक्कर ऐसी होती है, मेवा-मिष्ठान्न-केशर आदि सब जानता है। तो खीर कहते हैं। उसके मस्तिष्क में एक पिक्चर आ गयी सब चीज अलग आ गयीं तो द्रव्यदृष्टि वाला खीर शब्द से तब समझेगा जब उसने चावल, दूध, शक्कर आदि को पहले जान लिया हो। अतः पहले व्यवहार दृष्टि आती है। व्यवहार दृष्टि को समझने से निश्चय दृष्टि भी समझ आ जाती है।

निश्चय अवक्तव्य होता है, व्यवहार वक्तव्य होता है। अवक्तव्य को समझाने के लिये वक्तव्य का सहारा लेना पड़ता है। सब व्यवहार को एकत्र कर दो तब उन सबका एक लक्ष्य हो जाता है फिर उसको बस बोलो मत, एक साथ देखो तो वह निश्चय दृष्टि हो जाती है। यहाँ आचार्य महोदय कहते हैं कि हम यदि मोक्षमार्गी बनना चाहते हैं, वस्तु तत्त्व का समग्र अध्ययन करना चाहते हैं तो अकेली व्यवहार दृष्टि से काम नहीं चलेगा निश्चय दृष्टि को अपनाना भी जरूरी है। दोनों एक साथ ही चलेंगी अलग-अलग कभी चल नहीं सकतीं।

जो आज वर्तमान काल में कुछ व्यवहारभासी बन गये हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं, जिन्होंने निश्चय को छोड़ दिया है। दूसरी ओर जो निश्चयभासी बन गये हैं व्यवहार को छोड़ दिया है वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि वह है जो निश्चय व्यवहार दोनों को ग्रहण करे। भव्य जीव को निश्चय व व्यवहार दोनों को ग्रहण करके मोक्षमार्गी बनना चाहिये। एक नय से कोई मोक्षमार्गी नहीं बन सकता, जैसे एक पंख से कोई पक्षी उड़ नहीं सकता, एक किनारे से कोई नदी नहीं बह सकती ऐसे ही एक का आलम्बन लेकर के कोई व्यक्ति आत्मा के वैभव को जान नहीं सकता।

हमने पहले आत्मा को समग्र दृष्टि से देख लिया, हम समझ नहीं पाये, तो विश्लेषात्मक दृष्टि से देख लिया। विश्लेषण के उपरांत पुनः उसका निश्चय में अनुभव करो। आत्मा को व्यवहार से देखा कि उसमें ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, चेतना गुण है, अमूर्तिक गुण है, सुख-शक्ति गुण है, अनंत गुण आत्मा के हैं। एक-एक का विश्लेषण करते जाओगे यदि संख्यात गुणों को भी जान लिया फिर अन्य गुणों के बारे में भी आप कल्पना करके, एक-एक गुण के चिंतन में भी बहुत आनंद आ सकता है। ऐसे अनंत गुण हैं। फिर ऐसे अनंत गुणों को जाना जा सकता है, फिर जानकर के उन गुणों को प्रकट भी किया जा सकता है। उन गुणों के विरोधी जो आवरण आदि हैं, घातक हैं उन घातक कर्मों का नाश करके समग्र गुणों को प्रगट किया जा सकता है। वह समग्र आनंद जो सिद्धपरमेष्ठी लेते हैं। ऐसा भाव यहाँ आचार्य महोदय का प्रतीत होता है जो निश्चय-व्यवहार दोनों को मोक्षमार्ग में उपयोगी सिद्ध कर रहे हैं। एक से कभी मोक्षमार्ग सिद्ध होता ही नहीं है। इसलिये आप और हमसब दोनों मार्ग को ग्रहण करें, दोनों आँखों की तरह से, तभी हमें दृश्य सही रूप से दिखाई देगा, अन्यथा नहीं।

धर्म-अधर्म द्रव्य

पोग्गलाणं च जीवाणं, गमणे सहकारणं।
असंखेज्ज-पदेसी हु, धम्माखंडो य उच्चदे।138॥
पोग्गलाणं च जीवाणं, थंभणे सहकारणं।
असंखेज्जो अखंडो हु, अधम्मस्स हु लक्खणं॥139॥

अर्थ–जो पुद्गल और जीव के चलने में सहकारी कारण है वह धर्म द्रव्य है। वह अखंड व असंख्यात प्रदेशी है जो पुद्गल और जीवों के ठहरने में सहकारी कारण है वह अधर्म द्रव्य है। वह भी अखंड व असंख्यात प्रदेशी है।

The substance ***dharma*** (medium of motion) renders assistance to souls and matter in their states of motion. Dharma substance is indivisible and with unnumerable points of space. The substance adharma (medium of rest) renders assistance to souls and matter in their state of rest. ***Adharma*** substance is indivisible and it has unnumerable points of space.

भावार्थ–संसार में छः द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं, इनमें हलन-चलन नहीं होता जबकि जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य सक्रिय हैं। सक्रिय से यहाँ तात्पर्य क्रियाशीलता-गमनागमन से है। जीव के प्रदेशों में संकोच विस्तार द्वारा उसके आकार में परिवर्तन होना तथा उसका एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करना जीव की क्रियाशीलता है। उसी प्रकार पुद्गल स्कंध के प्रदेशों में अनेक परमाणुओं का एक-दूसरे के भीतर समा जाना अथवा उन परमाणुओं के भीतर से बाहर निकलने के कारण उसके आकार में परिवर्तन होना तथा परमाणुओं या स्कंधों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करना पुद्गल की क्रियाशीलता है। इन दोनों द्रव्यों की क्रियाशीलता हलन-चलन, गमनागमन में जो सहकारी कारण है वह धर्म द्रव्य है। तथा इनके ठहरने में जो सहकारी कारण है वह अधर्म दव्य है। यद्यपि गमनागमन वा चलने व ठहरने की शक्ति तो जीव व पुद्गल में ही है किंतु बाह्य निमित्त के बिना उसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के बिना न तो ये दोनों द्रव्य गतिमान् हो सकते हैं और न ही ठहर सकते हैं। ये दोनों ही द्रव्य अंसख्यात प्रदेशी व अखंड हैं। अखंड होने के कारण ही ये एक-एक कहलाते हैं। कहा भी है **'धर्माधर्माकाशाः एकैक एव अखंडद्रव्यत्वात्'**। ये संपूर्ण लोकाकाश में उसी प्रकार व्याप्त हैं जैसे तिल में तेल। कहा भी है–

धम्मत्थिकायमरसं, अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुल मसंखादियपदेसं॥90॥ –पंचा०

धर्म द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से रहित है। तथा समस्त लोक में व्याप्त है, अखंडित है और असंख्यातप्रदेशी है। धर्म द्रव्य का स्वरूप बताते हुए आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं–

उदयं जह मच्छाणं, गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।
तह जीवपोग्गलाणं, धम्मं दव्वं वियाणीहि॥92॥

जिस प्रकार लोक में मछलियों को चलने में पानी अनुग्रह कारक-सहायक है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल द्रव्यों को चलने में अनुग्रहकारक-सहायक है।

जिस प्रकार स्वयं चलता हुआ वाहन उसमें बैठे लोगों की गति में हेतु है, उस प्रकार धर्म द्रव्य नहीं है। वह धर्म द्रव्य तो निष्क्रिय अर्थात् क्रियाशीलता से रहित है।

जिस प्रकार जल, स्वयं नहीं चलती हुई मछलियों को प्रेरणा नहीं देता किंतु जब वे स्वयं चलना चाहें तो चलने वालों की गतिक्रिया में सहकारी कारण है उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी स्वयं नहीं चलने वाले जीव-पुद्गलों को प्रेरणा नहीं देता किंतु जब वे स्वयं चलना चाहें तो वह उनकी गतिक्रिया में सहकारी कारण है। धर्म द्रव्य स्वयं चलने वाले जीव और पुद्गलों के लिये neutral medium है। यदि धर्म द्रव्य न हो तो जीव-पुद्गल का हलन-चलन, गमनागमन संभव नहीं। आधुनिक विज्ञान इसे ईथर के रूप में स्वीकार करता है। पुनः कहा–

जह हवदि धम्मदव्वं, तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं तु पुढवीव॥93॥ –पंचा.

जिस प्रकार धर्मद्रव्य नाम वाला एक द्रव्य है, उसी प्रकार अधर्म नाम वाला भी द्रव्य है, वह अधर्मद्रव्य स्थिति क्रिया युक्त द्रव्यों को पृथ्वी के समान ठहरने में कारण भूत है।

जिस प्रकार मछली के चलने में जल बाह्य सहकारी कारण है उसी प्रकार जीव और पुद्गलों को चलने में बाह्य सहकारी कारण धर्मद्रव्य है। और जैसे पृथ्वी स्वयं पहले से ठहरी हुई है वह व्यक्ति आदि को प्रेरणा देकर नहीं रोकती, जो रुकना चाहे उनके रुकने में सहकारी कारण है उसी प्रकार स्वयं पहले से ठहरा हुआ (निष्क्रिय) अधर्म द्रव्य उन जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहकारी कारण है। जैसे वृक्ष की छाया पथिक को रोकती नहीं किंतु जो छाया लेना चाहे, वृक्ष उसके लिए उदासीन निमित्त है। उसी प्रकार ठहरने वाले जीव और पुद्गलों के लिए अधर्म द्रव्य Neutral medium है।

ये दोनों ही धर्म व अधर्म द्रव्य न तो जबरदस्ती किसी को चलाते हैं और न ही ठहराते हैं। किंतु चलते हुए को चलने में और ठहरते हुए को ठहरने में सहायक मात्र होते हैं। यदि इन्हें सहायक रूप उदासीन निमित्त न मानकर मुख्य हेतु मानेंगे तो जो चल रहे हैं वे सदा चलते रहेंगे और जो ठहरे हुए हैं वे सदा ठहरे ही रहेंगे। अथवा जीव अपनी इच्छा से चल नहीं पाएगा या रुक नहीं पाएगा अतः स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल स्वयं ही चलते हैं और स्वयं ही ठहरते हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य तो सहकारी कारण या उदासीन निमित्त या सहायक मात्र हैं।

आकाश द्रव्य

जो खलु सव्व-दव्वाइं, समत्थो अवगाहिदुं।
अखंडाणंतदेसी य, आयासो सो जिणागमे॥140॥

अर्थ–जो सभी द्रव्यों को अवगाहन देने में समर्थ है वह जिनागम में आकाश द्रव्य कहा गया है। वह अखंड और अनंत है।

The substance which is able to provide accommodation to all substances is termed as (***akasha***) space in ***jinagama*** (scriptures). That is indivisible, its space points are infinite.

भावार्थ–सभी द्रव्यों को अवगाहन देने वाला आकाश द्रव्य है। **'आकाशस्यावगाहः'** अवगाहन देना इसका उपकार है। यह आकाश द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी है। आकाश यद्यपि अखंडित है तथापि उसके दो भेद माने गए हैं–लोकाकाश और अलोकाकाश। सर्वव्यापी आकाश के मध्य में लोकाकाश है और उसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। मध्य के जितने हिस्से में छहों द्रव्य पाए जाते हैं वह लोकाकाश और जहाँ मात्र आकाश द्रव्य ही हो वह अलोकाकाश माना जाता है। आकाश द्रव्य का लक्षण कहते हुए आचार्यभगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी लिखते हैं–

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पोग्गलाणं च।
जं देदि विवर-मखिलं तं लोगे हवदि आगासं॥97॥ –पंचा.

लोक में जो समस्त जीवों को, पुद्गलों को और वैसे ही शेष सभी द्रव्यों को खाली स्थान देता है वह संपूर्ण आकाश द्रव्य है।

जिस प्रकार एक कमरे में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, एक ऊँटनी के दूध से भरे घड़े में एक घड़े भर शहद समा जाता है, एक भूमिगृह में कई वाद्ययंत्रों के शब्द व मुख से निकले शब्द समा जाते हैं उसी प्रकार विशिष्ट अवगाहन गुण के कारण असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में भी अनंतानंत जीव, संख्यातासंख्यात व अनंत प्रदेशी पुद्गल, लोकाकाश के कहे गए प्रदेशों की संख्या के बराबर असंख्यात कालाणु धर्म व अधर्म द्रव्य सब समा जाते हैं, इन सभी को स्थान प्राप्त हो जाता है। इसके बाहर जो कुछ भी है वह अलोकाकाश है।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोऽणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आगासं अंतवदिरित्तं॥98॥ –पंचा०

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म (व काल द्रव्य) लोकाकाश से अनन्य है। अंतरहित आकाश लोक से अनन्य है तथा अन्य है।

जीव, पुद्गल धर्म व अधर्म द्रव्य लोक से बाहर नहीं हैं और आकाश उस लोक के अंदर भी है और बाहर भी है, क्योंकि उसका अंत नहीं है। **'आकाशस्यानंताः'** आकाश द्रव्य के अनंत प्रदेश

हैं तथा यह आकाश द्रव्य अखंड है। संसार में कोई भी पदार्थ, द्रव्य, वस्तु आदि कूटस्थ नहीं है, सभी में परिणमन हो रहा है और परिणमन का कारण है, काल द्रव्य। यदि काल द्रव्य ही परिणमन में कारण है तब अलोकाकाश को तो कूटस्थ मानना होगा क्योंकि वहाँ कालद्रव्य तो है नहीं, आकाश द्रव्य को छोड़कर कोई भी द्रव्य अलोकाकाश में नहीं है? हाँ ठीक कहते हैं, किन्तु अलोकाकाश को कूटस्थ तब मानते जब आकाश खंड रूप होता। आकाश अखंड है इसीलिए, जिस कालद्रव्य के कारण लोकाकाश में परिणमन होता है तो अलोकाकाश में भी प्रदेश कूटस्थ नहीं रह पाते।

उदाहरण के लिए माना एक पिच्छिका ली। पिच्छी को माना संपूर्ण आकाश। पिच्छी की डंडी लोकाकाश और पंख वाला हिस्सा अलोकाकाश। जब डंडी को हिलाएँगे तो आगे वाला पंख युक्त हिस्सा स्वयं ही हिलेगा क्योंकि वह अखंड है। उसी प्रकार काल द्रव्य तो मात्र लोकाकाश में है किंतु अखंड होने के कारण अलोकाकाश में भी परिणमन होता है।

इस प्रकार जीवादि द्रव्यों के निमित्त से एक ही आकाश अखंड होकर भी दो रूप हो गया है। जितने आकाश में सब द्रव्य पाए जाते हैं उतना आकाश लोकाकाश है और उससे अतिरिक्त जो शुद्ध अकेला आकाश है उसे अलोकाकाश कहते हैं।

काल द्रव्य

अकायो अत्थि कालो य, दव्व-कट्टण-कारणं।
णिच्छय-ववहारेण, णायव्वो बेविहो सया॥141॥
असंखा संखवेक्खाए, कालो अत्थि सो सया।
अप्पदेसी मुणेयव्वो, अकायो तह मण्णदे॥142॥

अर्थ–अकाय व अस्ति काल द्रव्यों के वर्तन का कारण है। निश्चय और व्यवहार रूप से सदा दो प्रकार का जानना चाहिए। कालाणु संख्या की अपेक्षा असंख्यात हैं उस काल को अप्रदेशी जानना चाहिए। वह अकाय माना जाता है और वह अस्ति है।

Time which is ***akaya*** (corporeal) and ***asti*** (Time exists, so it is called ***asti*** and it has just one space point or it has neither potentiality non really the possibility of such space relations which souls and other substances have, so it is ***akaya***), is the cause of transformations or modifications of substances. It is always of two kinds - conventional time ***(vyavhar kala***) and real time (***nishchaya kala).*** Time substance is unnumerable according to numbers. That time substance should be known as ***apradeshi*** (which has no space-point) so it is called ***akaya*** and it always exists.

भावार्थ–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल इन छह द्रव्यों में जीवादि पाँच द्रव्य तो अस्तिकाय कहे जाते हैं किंतु काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है। 'अस्तिकाय' में दो शब्द मिले हुए हैं एक 'अस्ति' और दूसरा 'काय'। 'अस्ति' शब्द का अर्थ होता है–'है' जो कि अस्तित्व का सूचक है। और 'काय' शब्द का अर्थ होता है 'शरीर'। अर्थात् जैसे शरीर बहुप्रदेशी होता है वैसे ही काल के अतिरिक्त अन्य पाँच द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं? इसलिए उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। किंतु कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि उसके कालाणु असंख्य होने पर भी परस्पर में सदा अबद्ध रहते हैं, न तो वे आकाश के प्रदेशों की तरह सदा से मिले हुए एक और अखंड हैं और न पुद्गल परमाणुओं की तरह कभी मिलते और कभी बिछुड़ते ही हैं इसलिए वे 'काय' नहीं कहे जाते। सिद्धांति देव आचार्य श्री नेमिचंद्र स्वामी कहते हैं–

लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ठिदा हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि॥

जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान एक-एक कालाणु स्थित हैं, वे कालाणु असंख्यात हैं। बहुप्रदेशप्रचयत्व नहीं होने के कारण यह कालद्रव्य काय नहीं है **'कालस्स दु णत्थि कायत्तं'** आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंदस्वामी ने कहा कि काल द्रव्य कायत्व नहीं है।

इस प्रकार यह अस्ति और अकाय काल वस्तुओं-द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक है। यद्यपि परिणमन की शक्ति सभी पदार्थों में है, किंतु बाह्य निमित्त के बिना उस शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। जैसे कुम्हार के चाक में घूमने की शक्ति मौजूद है, किंतु कील का साहाय्य पाये बिना वह घूम नहीं सकता, वैसे ही संसार के पदार्थ भी काल द्रव्य का साहाय्य पाये बिना परिवर्तन नहीं कर सकते।

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो।।23।। पंचा०

सत्ता है स्वभाव जिनका, ऐसे जीव और पुद्गल आदि द्रव्यों का परिवर्तन जिससे सिद्ध होता है, ऐसा कालद्रव्य कहा गया है। सभी द्रव्यों को परिणमन करने में कालद्रव्य का वर्तना गुण सहकारी है। यह कालद्रव्य दो प्रकार का है–निश्चयकाल और व्यवहारकाल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जुदे-जुदे कालाणु स्थित हैं, उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं। उन कालाणुओं के निमित्त से ही संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् अनादि-अनिधन समय आदि कल्पना भेद रहित कालाणु द्रव्य रूप से व्यवस्थित वर्णादि मूर्तिरहित निश्चय काल है, जो प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में सहायक है।

आचार्य जयसेन स्वामी ने भी कहा कि जिस प्रकार शीत काल में स्वयं ही अध्ययन क्रिया करने वाले को अग्नि की ताप सहायक होती है, अपने आप घूमने की क्रिया करने वाले कुंभकार के चाक को नीचे का कील वाला पत्थर सहकारी होता है उसी प्रकार वर्तना लक्षण वाला कालाणु रूप निश्चय काल सभी द्रव्यों के परिणमन में बहिरंग निमित्त होने से सहकारी होता है।

निश्चय काल का स्वरूप बताते हुए आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं–

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधाअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो, वट्टणलक्खो य कालोत्ति।।24।।

काल पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श से रहित है। छह प्रकार की हानि और छह प्रकार की वृद्धिरूप अगुरुलघु गुण से सहित है। काल सूक्ष्म और अतीन्द्रिय ज्ञान से ग्राह्य है। काल द्रव्य अमूर्तिक और वर्तना लक्षण वाला है।

कालद्रव्य सभी द्रव्यों के परिणमन में सहायक होने के साथ स्वयं कालद्रव्य के परिणमन में भी सहकारी कारण होता है। जैसे जलते हुए दीपक को प्रकाशित करने के लिए वह स्वयं ही निमित्त है, वह स्व-पर प्रकाशी है उसी प्रकार काल द्रव्य के परिणमन में कालद्रव्य ही सहकारी कारण होता है।

आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल का एक परमाणु मंदगति से जितनी देर में उस प्रदेश से लगे हुए दूसरे प्रदेश पर पहुँचता है उसे समय कहते हैं। यह समय कालद्रव्य की पर्याय है।

समयों के समूह को ही आवर्त, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, घटिका, दिन-रात आदि कहा जाता है यह सब व्यवहारकाल है।

समओ णिमिसो कट्ठा, कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोडुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो॥25॥ –पंचा०

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, माह, ऋतु, अयन, वर्ष इत्यादि जो व्यवहार काल है वह पराधीन है।

सूक्ष्म काल-समयादि को पलक खोलना वा मंद गति से परमाणु का चलना आदि पुद्गल द्रव्य के बिना नहीं जाना जा सकता और स्थूल काल-घंटादि घड़ी के बिना नहीं जाना जा सकता। अतः सूक्ष्म व स्थूल रूप व्यवहार काल यद्यपि निश्चय नय से द्रव्यकाल की पर्याये हैं तथापि व्यवहार नय से इनका माप घड़ी आदि पुद्गल द्रव्य के परिणाम बिना निश्चित नहीं होता इसलिए व्यवहार काल को पराधीन कहा है।

समय आदि पर्याय रूप सूर्य के गमन आदि के द्वारा जो प्रगट किया जाता है वह व्यवहार काल है और सूर्य की गति आदि पर्याय के होने में जो सहकारी काल भूत होता है वह द्रव्यरूप निश्चय काल है। यह व्यवहार काल सौर मंडल की गति और घड़ी वगैरह के द्वारा जाना जाता है तथा इसके द्वारा ही निश्चय काल अर्थात् कालद्रव्य के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है क्योंकि जैसे किसी बच्चे में शेर का व्यवहार करने से कि 'यह बच्चा शेर है' शेर नाम के पशु के होने का निश्चय किया जाता है, वैसे ही सूर्य आदि की गति में जो काल का व्यवहार किया जाता है वह औपचारिक है, अतः काल नाम का स्वतंत्र द्रव्य होना आवश्यक है। जिसका व्यवहार लौकिक व्यवहार में किया जाता है। निश्चय काल नित्य व व्यवहार काल को क्षणिक रूप जानना चाहिए।

पंचतत्त्वाधिकार

आस्रव तत्त्व

कम्मागमण-दारं हु, जिणेण भासिदासवो।
सो दव्व-भाव-रूवेण, णादव्वो खलु बेविहो॥143॥

अर्थ–जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहा गया है। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का जानना चाहिए।

Flow of karmic matter into the soul is called influx. It is of two kinds the psychic (subjective) influx (bhava asrava) and the matterial (objective) influx (dravya asrava).

भावार्थ–कर्मों का आत्मा में आना आस्रव कहलाता है वा जीव में कर्म-पुद्गलों का आगमन आस्रव है।

पुण्य-पाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भर जाता है, वैसे ही मिथ्यादर्शनादि स्रोतों से आत्मा में कर्म आते हैं।[1] अथवा जल के प्रवेश करने के द्वार से जल के समान पुण्य-पाप दोनों जहाँ से आस्रवित होते हैं, आते हैं उसे आस्रव कहते हैं।[2] यह आस्रव द्रव्य और भाव के भेद से मूलतः दो प्रकार का जाना जाता है।

ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वह अनेक भेदों वाला है ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।[3] अथवा अपने-अपने निमित्त रूप योग प्राप्त करके आत्म प्रदेशों में स्थित पुद्गल कर्म भाव रूप से परिणमित हो जाते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।[4]

एवं आस्रव रहित निजात्मानुभव से विलक्षण जो शुभ-अशुभ परिणाम हैं, उससे जो शुभ-अशुभ कर्म का आगमन है सो आस्रव है[5] अथवा आत्मा के जिस परिणाम से पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर

---

1. **यथा महोदधेः सीललमापगामुखैरहरहरापूर्यते तथा मिथ्यादर्शनादि–द्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत इति। – रा. वा.**
2. **जलप्रवेशद्वारेण जलमिव पुण्यपापद्वयमास्रवत्यागच्छत्यनेनेत्यास्रवः। –पं. टी.**
3. **णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।**
   दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो॥31॥ –द्र. सं.
4. **लद्धूणं तं णिमित्तं, जोगं जं पुग्गले पदेसत्थं।**
   परिणमदि कम्मभावं तं पि हु दव्वासवं बीजं॥153। –न. च. वृ.
5. **आस्रवत्यनेनेत्यास्रवः। आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायपुद्गलानां कारणभूते नात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रवः। –भ. आ./वि.**

आत्मा में आता है उस परिणाम को भावास्रव कहते हैं।[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा के शुभाशुभ परिणाम वा जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति जिसके कारण कर्मों का आस्रव होता है वह भावास्रव है। और उसके निमित्त से पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्मा में प्रवेश करती हैं वह द्रव्यास्रव है।

जीव के दु:खों और संसार-परिभ्रमण का मूलकारण कर्म है। कर्म क्षय के बिना शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जैसे स्वर्णकार को स्वर्ण और उसमें मिले हुए द्रव्य की ठीक-ठीक पहचान होना आवश्यक है वैसे ही एक आत्मशोधक को भी आत्मा और उसके साथ मिले हुए परद्रव्य की पहचान होना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना आत्म शोधन संभव नहीं। जैसे एक वैद्य को रोग के उपचार हेतु दवाईयों व उसमें मिले द्रव्यों की पहचान करना आवश्यक है। किन अशुद्धियों को दूर कर शुद्ध दवाई का निर्माण हो सकता है, यह जानना आवश्यक है उसी प्रकार जीव में लगे जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों के उपचार के लिए भी आत्मा को रोगी करने वाले कर्मादि का ज्ञान आवश्यक है। आत्मा में कर्मों का आना, उनका बंध होना सब संसार के कारण हैं। अत: आचार्य भगवन् यहाँ जीव तत्त्व के व्याख्यान के पश्चात् आस्रव तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि जीव में ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा होती है व जीव ही मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करता है संभवत: इसीलिए पहले इन तत्त्वों का कथन कर पुन: अजीव तत्त्व को आगे कहेंगे।

---

6. **निरास्रवस्वसंवित्ति-लक्षण-शुभाशुभपरिणामेन शुभाशुभकर्मागमनमास्रवं। –द्र. सं. टी.**

आस्रव का कारण

काय-वय-मण-जोगं, आसवो भासिदो सया।
मिच्छत्ताविरदी आदी, णादव्वा तस्स कारणं।।144।।

अर्थ–काय, वचन और मनोयोग को सदा आस्रव कहा गया है। मिथ्यात्व, अविरति आदि उसके कारण जानने चाहिये।

Body, speech and mind, three volitions are called influx. Wrong belief, non-abstinence cavitation etc. are the cause of influx.

भावार्थ–मन, वचन और काय वर्गणा निमित्तक आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन योग है। जीव के प्रदेशों का परिस्पंदन द्रव्ययोग है और जो मनोवाक्कायवर्गणा का अवलंबन रखता है ऐसे संसारी जीव की जो समस्त प्रदेशों में रहने वाली कर्मों के ग्रहण करने में करणभूत शक्ति है वह भावयोग है।

आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है–'कायवाङ्मनः कर्मयोगः। स आस्रवः।' मन, वचन और काय की क्रिया को योग कहते हैं और वह योग ही आस्रव का कारण होने से आस्रव कहा जाता है। वह द्वार, जिसके द्वारा जीव में सर्वदा कर्मपुद्गलों का आगमन होता है जीव की ही एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। वह शक्ति देहधारियों की मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाओं का सहारा पाकर जीव की ओर कर्मपुद्गलों को आकृष्ट करती है। अर्थात् मन के द्वारा जो कुछ भी सोचा जाता है, वचन के द्वारा जो कुछ भी बोला जाता है और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं वह सब संसारी जीव की ओर कर्मों के आने में कारण होता है इसीलिए योग ही आस्रव है, ऐसा कहा गया है।

मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव के कारण कहे गए हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में इंद्रिय, कषाय, अव्रत और 25 क्रिया रूप भेद आस्रव के प्रत्यय कहे गए हैं। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी, सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचंद स्वामी ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग-आस्रव के प्रत्यय कहे व द्रव्य संग्रह आदि में इनके साथ प्रमाद का भी ग्रहण किया गया। जबकि राजवार्तिककार ने शुभ-अशुभ योग को आस्रव का प्रत्यय कहा। ये सभी सांपरायिक आस्रव की दृष्टि से जानने चाहिए।

संसार का प्रयोजक कर्म सांपरायिक है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म सांपराय, दसवें गुणस्थान तक कषाय का चेप रहने से योग के द्वारा आए हुए कर्म गीले चमड़े पर धूल की तरह चिपक जाते हैं, अर्थात् उनमें स्थिति बंध होता है। यही सांपरायिक आस्रव है। इसके विपरीत जिन कर्मों का आस्रव होता है पर बंध नहीं होता उन्हें ईर्यापथ कर्म कहते हैं। आत्मा में आने के अगले ही क्षण ये

बिना फल दिए झड़ जाते हैं। अतः इनमें एक समय मात्र की स्थिति होती है। मोह के सर्वथा उपशम या क्षय होने पर ही ईर्यापथ आस्रव होता है अर्थात् छद्मस्थ वीतरागों व सयोग केवलियों के (11वें से 13वें गुणस्थान तक) होता है। आचार्य अकलंक देव स्वामी ने कहा है कि उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोग केवली के योग से आए हुए कर्म कषायों का चेप न होने से सूखी दीवार पर पड़े हुए पत्थर की तरह द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, ब।धते नहीं हैं यह ईर्यापथ आस्रव कहलाता है।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करना या विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व कहलाता है। अथवा सच्चे देव, शास्त्र गुरु वा धर्म पर श्रद्धान नहीं करना, अदेव को देव, अगुरु को गुरु और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है कि शरीरधारी जीवों को मिथ्यात्व के समान कुछ अकल्याणकारी नहीं है।

'अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।'

यह मिथ्यात्व संसार वृद्धि का कारण है। स्व पर के भेद का ज्ञान भी करा देने वाले मिथ्यात्व को छोड़े बिना संसार के अंत की कल्पना भी संभव नहीं। यह मिथ्यात्व कर्मास्रव का प्रत्यय जानना चाहिए।

निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रत रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति है अथवा अंतरंग में निज परमात्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुखामृत में जो प्रीति, उससे विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण न करना सो अविरति है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह के भेद से यह 5 प्रकार की अथवा छह काय के जीवों की दया न करने से और छह इंद्रियों के विषय भेद से अविरति बारह प्रकार की होती है। यह भी आस्रव का प्रत्यय है।

यहाँ ग्रंथकार ने 'आदि' शब्द कहा है जिससे राग, द्वेष, मोह, योग, प्रमाद, कषाय आदि का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इन सभी से कर्मों का आस्रव होता है। यदि कारण का अभाव हो तो कार्य भी नहीं होगा। अतः ग्रंथकार ने आस्रव के निरोध हेतु उसके कारणों का कथन किया। कारणों को जानकर ही उन्हें रोका जा सकता है।

बंध तत्त्व

णिच्चं अप्पपदेसेसुं, बंधंति कम्मवग्गणा।
बंध तच्चं सया णेयं, बंधो भवस्स कारणं।।145।।

अर्थ–आत्म प्रदेशों में नित्य ही कर्म वर्गणाएँ बंधती हैं उसे सदा बंध तत्त्व जानना चाहिए। बंध संसार का कारण है।

Bondage (the interpenetration) of the karmic matter with the space points of the soul is termed as bondage tattva. It is the cause of transmigration.

भावार्थ–जीव व पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं का एक क्षेत्रावगाह संबंध बंध कहा जाता है। कहा भी है कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है।[1] अथवा आत्म प्रदेश और पुद्गल का अन्योन्य मिलन बंध है[2] अथवा मिथ्यात्व आदि परिणामों के द्वारा जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरण आदि रूप परिणमित होकर ज्ञानादि को आवरण करता है इनका यह संबंध ही बंध है।[3]

संसारी प्राणी मिथ्यात्व, अविरति आदि के माध्यम से कर्मों का बंध करता है। प्रत्येक संसारी प्राणी के निरंतर ही कर्मों का आस्रव व बंध हो रहा है। माना जल से भरा एक टब है उसमें चार दिशाओं व चार विदिशाओं में 8 पाइप पड़े हैं। हर पाइप से प्रति समय लिक्विड रंग निकल रहा है किसी से लाल, किसी से हरा, किसी से काला आदि। और वह जल को उसी अनुरूप कर रहा है। उसी प्रकार आत्मा से प्रति समय कर्म बंध रहे हैं। यदि जीव के परिणाम दूषित हैं तो उस प्रकार के कर्म बंध रहे हैं जो जीव को आगे दु:ख ही देंगे और यदि विशुद्ध परिणामों के साथ कर्म बंध हो रहा है तो वह उसके लिए सुख का कारण है। पाईप से प्रतिपल रंगों का आना या निकलना आस्रव है और पानी में घुलना बंध है। कर्म परमाणुओं का आत्मा की ओर आना आस्रव है और आत्मा से संबंध हो जाना बंध है।

जैसे अतीत की सुखद घटना को याद कर चेहरे पर प्रसन्नता और दु:खद घटना को याद कर आँख में आँसू आ जाते हैं वैसे ही ये कर्म स्मृति जैसे हैं। उस समय कैसी प्रवृत्ति की थी, कैसे

---

1. **सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः। त. सू.**
2. **अप्पपएसामुत्ता पुग्गलसत्ती तहाविहा णेया।**
   अण्णेण्णं मिल्लंता बंधो खलु होइ णिदाइ।।154।। –न. च. वृ.
3. **मिथ्यात्वादिपरिणामैर्यत्पुद्गलद्रव्यं ज्ञानावरणादिरूपेण।**
   परिणमति तच्च ज्ञानादीन्यावृणोतीत्यादि संबंधो बंधः।। गो. क./जी. प्र.

परिणाम थे यह सब सामने आ जाता है। मन, वचन, काय से ग्रहण किए गए कार्माण वर्गणाओं पर कषाय का रंग जो पड़ा था तो पुनः उदय के समय उसी प्रकार का फल देता है।

कर्म का बंध प्रत्येक आत्मा हर समय कर रही है। अतः कर्मबंध के समय सावधान रहो। भोगने के समय में सावधान रहना कई बार बड़ा मुश्किल होता है तीव्र पापकर्म के उदय में अपने परिणामों को सम्हालना बड़ा मुश्किल होता है। इसीलिए वर्तमान काल के समय जब कर्मों का बँध कर रहे हो उस समय परिणामों को सम्हाला जा सकता है। यदि अभी रास्ता देख करके चलोगे तो काँटे की पीड़ा सहन नहीं करनी पड़ेगी। अतः प्रमाद को छोड़कर सावधानी से 'गन्तव्य' की ओर आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर है।

बंध के भेद

पदेसो पइडी बंधो, अणुभागो ठिदी तहा।
चउभेया मुणेयव्वा, दव्वभावेण बेविहो॥146॥

अर्थ–बंध प्रदेश, प्रकृति, अनुभाग व स्थिति इन चार प्रकार का जानना चाहिए तथा द्रव्य और भाव से दो प्रकार का जानना चाहिए।

Bondage is of four kinds-according to its natures or species (***Prakriti bandha***), duration (***stithi bandha***), intensity of fruition (***anubhaga bandha***), and quantity of space- points (***pradesha bandha***). It is of two kinds -material bondage (***Dravya bandha***) and psychic bondage (***bhava bandha***).

भावार्थ–बंध द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का जानना चाहिए। जीव के राग-द्वेष रूप परिणाम जो कर्मबंध में कारणभूत हैं वह भावबंध है और कार्माण वर्गणाओं का आत्मा में मिल जाना द्रव्य बंध है। आत्मा अनादि कर्मों से रागी वर्तता हुआ उदित जिस शुभ-अशुभ भाव को करता है, वह आत्मा उस भाव के द्वारा विविध प्रकार के पुद्गल कर्मों से बद्ध हो जाता है।[1] जीव के शुभ-अशुभ परिणाम भाव बंध है और उसके निमित्त से तेल मर्दित पुरुषों का मैल चिपकने की तरह जीव के साथ कर्म पुद्गलों का संश्लेष होना द्रव्य बंध है।

प्रकृति का अर्थ होता है स्वभाव। जैसे नीम का स्वभाव कड़वापन, गुड़ का स्वभाव मिठास है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव है ज्ञान प्रकट न होने देना। दर्शनावरण कर्म दर्शन का आवरण करता है, मोहनीय कर्म का स्वभाव जीव को मोहित करना है वह स्व-पर का भेद नहीं होने देता। अंतराय का स्वभाव विघ्न-बाधा डालना है। वेदनीय कर्म सुख-दुःख का वेदन कराता है। आयु कर्म किसी निश्चित समय तक जीव को शरीर में रोके रखता है। नाम कर्म शरीर की रचना करता है, गोत्र कर्म उच्च या नीच कुल में कारण है। सभी कर्मों की भिन्न-भिन्न प्रकृति स्वभाव है। ज्ञानावरणादि अष्ट विध कर्मों के उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्गल द्रव्य का स्व-आकार वह प्रकृति बंध है।[1]

कार्माण वर्गणाएँ जो आत्मा के साथ संश्लेषित हुईं उनकी संख्या प्रदेश है। अर्थात् कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कंधों का परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश बंध है।[2]

---

1. **जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।**
   सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण॥155॥ पंचा.
1. **ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्य पुद्गलद्रव्य स्वीकारः प्रकृतिबंधः।**
2. **कर्मभावपरिणत पुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशः। स. सि.**

जिसका जो स्वभाव है उससे च्युत न होना स्थिति है। जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों का अर्थ का ज्ञान न होने देना आदि स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।[3] अथवा योग के वश से कर्मस्वरूप से परिणत पुद्गल स्कंधों का कषाय के वश से जीव में एक स्वरूप से रहने के काल को स्थिति कहते हैं।[4]

कर्म की फलदान अर्थात् फल देने की शक्ति अनुभाग कहलाती है। ज्ञानावरणादि कर्मों का जो कषाय आदि परिणाम जनित शुभ अथवा अशुभ रस है वह अनुभाग बंध है।[5] अथवा कर्म के रस विशेष को अनुभव कहते हैं। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध का अलग-अलग तीव्र, मंद आदि रस विशेष होता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गलों का अलग-अलग स्वगत सामर्थ्य विशेष अनुभव है।[6] इनमें प्रकृति व प्रदेश बंध योग से तथा स्थिति व अनुभाग बंध कषाय के द्वारा होते हैं। कहा जा सकता है कि कर्मपरमाणुओं का आत्मा की ओर आकृष्ट करने का कारण जीव की योगशक्ति है और बंध का कारण कषाय है। क्योंकि यदि कषाय न हो तो आस्रव तो होता है किंतु ठहरता नहीं।

उदाहरण के लिए योग को वायु, कर्मपरमाणुओं को धूल और कषाय को जीव के शरीर पर लगी चिकनाई, गोंद आदि की उपमा दी जा सकती है। एक व्यक्ति एक ऐसे कक्ष के बीचोंबीच बैठा है जिसके आठ द्वार हैं सभी द्वारों पर माना अलग-अलग वस्तुओं का झरना बहता है। एक पर नीम के रस का, एक पर गन्ने के रस, एक पर आँवले का रस, एक पर मिर्च युक्त जल, एक पर खारा जल, एक पर अंगूर का रस, एक पर अनार का रस एक पर गिलोय का रस।

बाहर से तेजी से धूल अंदर आती है। यहाँ धूल का कम या ज्यादा उड़कर आना वायु के वेग पर निर्भर करता है। यदि वायु तेज होती है तो धूल भी ज्यादा उड़ती है और यदि वायु धीमी होती है तो धूल भी कम उड़ती है। अब जब धूल उड़ती हुई उन द्वारों से प्रवेश करती है तो जैसा रस झरने की भाँति ऊपर से नीचे की ओर द्वारों पर बह रहा था उनमय वे धूलकण हो जाते हैं।

---

3. **तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावाद्प्रच्युतिः स्थितिः, तथा ज्ञानवरणादीनामर्थावगमादिस्वभावाद प्रच्युतिः स्थितिः। –स. सि.**
4. **जोगवसेण कम्मस्सरूवेण परिणदाणं पोग्गलखंधाणं कसायवसेण जीवे एगसरूवेणाट्ठाणकालो ट्ठिदी णाम।**
5. **कम्माणं जो दु रसो अज्झवसाणजणिद-सुह-असुहो वा।**
   बंधो सो अणुभागो पदेसबंधो इमो होइ॥1240॥ – मू. आ.
6. **तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथा अजगोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादि भावेन रसविशेषः तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। –स. सि.**

धूलकण तो समान थे किंतु द्वारों पर बहते रसों से उनकी प्रकृति बदल गई कुछ रजकण मीठे, कुछ चरपरे कुछ कड़वे आदि रूप हो गए। इसी प्रकार कार्माण वर्गणाएँ तो समान होती हैं किंतु जीव के परिणाम विशेष से ज्ञानावरणादि रूप हो जाती हैं।

जब वे प्रवेश करती हुईं उस कक्ष के बीचोंबीच बैठे मानव तक पहुँची तो कभी उसके शरीर पर पानी होता तो धूलकण कम समय के लिए चिपकती, जल्दी झड़ जाती। दूध होता तो कुछ अधिक समय के लिए धूलकण चिपक जाते। यदि गोंद होती तो और अधिक समय के लिए धूलकण चिपकते और यदि Quickfix होती तो बहुत लंबे समय के लिए चिपकते, जो बहुत समय बाद झड़ते। चिपकाने वाली चीज का असर दूर होते ही धूलकण स्वयं झड़ जाते।

ऐसे ही योग व कषाय के संबंध में जानना चाहिए। योगशक्ति जिस लेवल की होगी कर्म परमाणुओं की संख्या भी वैसी ही होगी। जितने कर्म परमाणु आकर आत्मा से बंधते हैं वह प्रदेश बंध है। द्वारों से आते हुए जिस प्रकार बहते विभिन्न झरनों से रजकण कड़वे आदि हुए वैसे ही जीव के परिणामों से ज्ञानावरणादि रूप कर्मों का हो जाना प्रकृति बंध है। पानी, दूध, गोंद आदि अर्थात् चिपकाने वाला जितना प्रबल होगा उतने अधिक समय तब रजकण ठहरेगी। इसी प्रकार यदि कषाय तीव्र होती है तो कर्म परमाणु जीव के साथ बहुत समय तक बंधे रहते हैं यदि कषाय मंद होती है तो कर्म परमाणु जीव के साथ कम समय तक बंधे रहते हैं। चिपके रहना अर्थात स्थिति बंध।

बंध को प्राप्त होने वाले कर्मपरमाणुओं में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना प्रकृति बंध है। उनकी संख्या का नियत होना प्रदेश बंध है। उनमें काल की मर्यादा पड़ना कि ये इतने समय तक रहेंगे स्थिति बंध और फल देने की शक्ति का पड़ना अनुभाग बंध है। कभी ऐसा होता है कि अधिक धूलकण भी कम मिठास, कडुवापन आदि लेकर आएँ तो कभी कम धूलकण भी अधिक कड़वापन, मिठास आदि लेकर आएँ अथवा अधिक धूलकण भी अधिक मिठासादि लिए हों व कम धूलकण कम मिठासादि लिए हों। कम वा अधिक मिठास आदि के साथ आना व उसी अनुरूप जीव को कम वा अधिक कड़वापन व मीठापन देना अर्थात् फल देना अनुभाग बंध है।

संवर तत्त्व

आसवस्स णिरोहोत्थि, संवरो खलु पंचहा।
अणुवेक्खा वदं धम्मो, तिगुत्ती समिदी तहा॥147॥

अर्थ–आस्रव का निरोध संवर है और वह पाँच प्रकार का है–धर्म, अनुप्रेक्षा, व्रत, त्रिगुप्ति तथा समिति।

The obstruction of influx is stoppage (***samvara***). It is of five kinds-virtue or rules of piety (***dharma***), contemplation (***anupreksha***), Control (***gupti***), carefulness (***samiti***) and vows (***vrata***).

भावार्थ–आस्रव का रुकना संवर है। किसी पाइप से पानी आना आस्रव है। पानी का बर्तन में ठहरना बंध और पानी का आना रोक देना संवर है। श्री देवसेनाचार्य कहते हैं जिस प्रकार नाव के छिद्र रुक जाने पर उमसें जल प्रवेश नहीं करता, इसी प्रकार मिथ्यात्व आदि का अभाव हो जाने पर जीव में कर्मों का संवर होता है।[1] जीव में नवीन कर्मों का नहीं आना संवर है। यदि नये कर्मों के आगमन को रोका न जाये तो जीव कभी भी कर्मबंधनों से छूट नहीं सकता। आचार्य अकलंक देव स्वामी उदाहरण देते हुए निरूपित करते हैं कि जिस प्रकार जिस नगर के द्वार अच्छी तरह बंद कर लिए गए हों, वह नगर शत्रुओं के अगम्य होता है उसी प्रकार जिस जीवात्मा ने इंद्रिय, कषाय व योग को गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय व चारित्र से संवृत कर लिया है उसके नवीन कर्मों का द्वार रुक जाना संवर है। आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसको भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रव को रोकने में कारण है वह द्रव्य संवर है। पाँच व्रत, समिति, त्रिगुप्ति, दसधर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, परीषहजय तथा अनेक प्रकार चारित्र इस तरह ये सब भाव संवर के विशेष जानने चाहिए।[2]

यहाँ ग्रंथकार धर्म, अनुप्रेक्षा, व्रत, गुप्ति, समिति को संवर का हेतु बताते हैं। जो प्राणियों को संसार के दु:खों से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे उसे धर्म कहते हैं। उत्तम क्षमादि दस धर्म निश्चय से कर्म क्षय का हेतु हैं। बारह प्रकार से कहे गए तत्त्व का अथवा शरीर आदि के स्वभाव का पुन: पुन: चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। ये अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षाएँ वैराग्य की जननी कही जाती

---

1. **रुंधिय छिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि।**
   मिच्छत्ताइ-अभावे, तह जीवे संवरो होई॥156॥ न. च. वृ.
2. **चेदणपरिणामो जो, कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।**
   सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो॥34॥
   वदसमिदिगुत्तीओ, धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
   चारित्तं बहुभेया, णायव्वा भावसंवर-विसेसा॥35॥

हैं। सर्व निवृत्ति के परिणाम को व्रत कहते हैं या हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से यावज्जीवन निवृत्त होना व्रत है। यहाँ व्रत से आशय चारित्र से समझना चाहिए। अशुभ से निवृत्ति व शुभ में प्रवृत्ति चारित्र कहलाता है। चारित्र के अभाव में मोक्षमार्ग में गति असंभव है। मन, वचन व काय को सावद्य क्रियाओं से रोकना गुप्ति है अथवा जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है। वह मन, वचन व काय के भेद से तीन प्रकार की कही गई है। राग-द्वेष से मन परावृत्त होना मनोगुप्ति, असत्य भाषणादि से निवृत्ति होना अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति तथा हिंसादि पापक्रियाओं से परावृत्त होना कायगुप्ति है। प्राणी पीड़ा का परिहार करने के लिए भले प्रकार से आना-जाना, बोलना, ग्रहण करना, उठाना-धरना व मोचन करना समिति है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, उत्सर्ग के भेद से समिति पाँच प्रकार की कही गई है।

इन सबके माध्यम से ही कर्मों का संवर संभव है। यदि किसी (स्वीमिंग) पूल में निरंतर पानी आ रहा है तो उस पूल को खाली करना संभव नहीं। पहले आते हुए पानी को रोकना आवश्यक है। रोकने का नाम ही संवर है। आते हुए कर्मों को रोकना संवर है जो मोक्ष का हेतु है।

निर्जरा तत्त्व

णिज्जरा हु मुणेदव्वा, देसेग-कम्म-संखयं।
सविवागी य णिद्दिट्ठा, अविवागी जिणागमे॥148॥
दव्व-भावादु णादव्वा, णिज्जरा वा हु बेविहा।
दव्वस्स णिज्जरा हेदू, मण्णदे भाव-णिज्जरा॥149॥

अर्थ–एक देश कर्म का क्षय निर्जरा जाननी चाहिए। यह सविपाकी व अविपाकी दो प्रकार की जिनागम में कही गई है। अथवा द्रव्य, भाव रूप से निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिए। भाव निर्जरा, द्रव्य निर्जरा का कारण मानी जाती है।

Shedding of karmas partially is called disintegration (***nirjara***). It is said of two kinds in jina-scripture-***savipaka*** (after their fruits are fully enjoyed), ***avipaka*** (through penances before such enjoyment of fruits) & Disintegration should be known of two kinds - objective shedding of karmas (***dravya nirjara***) and subjective shedding of karma (***bhaava nirjara***).

भावार्थ–बंधे हुए कर्मों का थोड़ा-थोड़ा करके जीव से अलग होने को निर्जरा कहते हैं। कर्मों का आत्मा से एकदेश जुदा होना निर्जरा है। जिस प्रकार भार आदि का मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का भला-बुरा करके पूर्व प्राप्त स्थिति का नाश हो जाने के कारण कर्म की निवृत्ति का होना निर्जरा है।[1] यद्यपि जैसे जीव के प्रतिसमय नए कर्मों का आस्रव व बंध होता है वैसे ही प्रतिसमय पहले बंध हुए कर्मों की निर्जरा भी होती रहती है क्योंकि जो कर्म अपना फल दे चुकते हैं, वे झड़ जाते हैं। सविपाकी और अविपाकी के भेद से निर्जरा दो प्रकार की कही गई है।

समय पर कर्मों का फल देकर झड़ना सविपाक निर्जरा कही जाती है और तप के द्वारा (समय से पूर्व) कर्मों की निर्जरा अविपाक निर्जरा कहलाती है। सविपाक निर्जरा उदयागत कर्मों की ही होती है। अविपाक निर्जरा पक्व व अपक्व सभी कर्मों की होती है। आचार्य भगवन् सविपाक व अविपाक निर्जरा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभव रूपी उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्म की फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा अर्थात् सविपाक निर्जरा है। तथा आम और पनस (कटहल) को औपक्रमिक क्रिया विशेष के द्वारा जिस प्रकार अकाल में पका लेते हैं उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी

---

1. **एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। –स. सि.**

नहीं प्राप्त हुआ है तथा जो उदयावली से बाहर स्थित हैं, ऐसे कर्म को (तपादि) औपक्रमिक क्रिया विशेष की सामर्थ्य से उदयावली में प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है।[3]

जिस प्रकार पेड़ पर लगा फल अपने आप पककर टूटता है उसी प्रकार यदि समय आने पर कर्म फल देकर स्वयं झड़ता है तो वह सविपाक निर्जरा है और जैसे समय से पहले तोड़कर पाल आदि में फल को जल्दी पका लिया जाता है उसी प्रकार तपादि से कर्मों को जल्दी पकाकर झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। सविपाक निर्जरा को अकुशलानुबंधा वा अबुद्धिपूर्ण निर्जरा एवं अविपाक निर्जरा को कुशलमूला भी कहा जाता है।

सविपाक निर्जरा से कर्मबंधन से छुटकारा नहीं मिलता क्योंकि यदि प्रति समय निर्जरा हो रही है तो प्रतिसमय कर्मों का बंध भी हो रहा है। अत: यह तो मोक्ष का हेतु नहीं किंतु अविपाकी निर्जरा नियम से मोक्ष का हेतु है। सविपाक निर्जरा तो चारों गतियों के सभी जीवों के होती है किंतु अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि व्रतधारियों को ही होती है।

यह निर्जरा द्रव्य और भाव के भेद से भी दो प्रकार की कही गई है। जीव के जिन परिणामों से कर्म झड़ते हैं वह परिणाम भाव निर्जरा है और जो कर्म झड़ते हैं वह द्रव्य निर्जरा है। जीव के निर्जरा रूप परिणामों के बिना कर्मों की निर्जरा संभव नहीं। अत: कहा कि भाव निर्जरा द्रव्य निर्जरा का कारण है। कारण होने पर कार्य की निष्पत्ति होती है। इनमें कार्य-कारण संबंध देखा जा सकता है। प्रथम भाव निर्जरा होती है और उससे द्रव्य निर्जरा होती है।

यदि कोई पूल पानी से भरा हो तो उसे खाली करने के लिए उसमें से पानी निकालना जरूरी है। उसी प्रकार आत्मा को कर्मों से खाली करने के लिए कर्मों को निकालना या उन्हें क्षय करना जरूरी है। अत: बुद्धिमान् जन कर्मों की निर्जरा कर सप्तम तत्त्व के लिए पुरुषार्थरत हों।

---

2. **पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाम्यवहृतौद-नादिविकारवत्पूर्वस्थितिक्षयादवस्थाना भावात्कर्मणो निवृत्तिनिर्जरा। –स. सि.**
3. **क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्ध-फलस्य या निवृत्ति सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाक-कालमौपक्रमिकक्रिया-विशेषसामर्थ्यानुदीर्णंबला दुदीर्णोदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा। –स. सि.**

मोक्ष तत्त्व

विणासो सव्व-कम्माणं, ताणं फलाण सव्वदा।
णो पुणो ताव बंधो हु, सो मोक्खो जिणसासणे॥150॥

अर्थ–सभी कर्मों का व उनके फलों का सर्वदा नाश होना पुनः उनका बंध नहीं होना वह जिनशासन में मोक्ष कहा गया है।

Destruction of all karmas and its fruition and not to bond again is termed as salvation in ***jina shasan***.

भावार्थ–आत्मा में संपूर्ण रूप से कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। कर्मों से आत्मा का खाली हो जाना या संपूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना सप्तम तत्त्व मोक्ष है। उदाहरण के लिये माना किसी पूल में पाइप डालकर पानी भरा जा रहा है। पाइप से पानी का आना आस्रव है, पूल में ठहरना बंध है। आते हुए पानी को रोक देना, पाइप में से पानी बाहर न आ पाए संवर है। अब पूल में से थोड़ा-थोड़ा कर पानी बाहर निकालना निर्जरा है और जब संपूर्ण रूप से पानी निकल जाए, पानी की एक बूंद भी न बचे तो मोक्ष है। आत्मा से संपूर्ण कर्मों को बाहर कर देना प्रत्येक जीव का परम और चरम लक्ष्य है। कर्म प्राणी के दुःख का, संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण है। कर्मों के क्षय से ही उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है।

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में कहीं फोड़ा हो जाए तो उसके दर्द से वह तड़पने लगता है किंतु फोड़े की गाँठ बाहर हो जाने पर उसे शांति का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा जब तक कर्मों की गाँठ से सहित है तब तक अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करती है किंतु जैसे ही कर्मों की गाँठ आत्मा से निकल जाती है तब जीव को अनंतकाल के लिए सुख की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा से कर्मों की गाँठ का निकलना ही मोक्ष है। समस्त कर्मों का क्षय होने पर आत्मा की ज्ञानादि गुण रूप व अव्याबाध सुख रूप शाश्वत विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, वही सप्तम तत्त्व मोक्ष है।

आचार्य अकलंक देव स्वामी कहते हैं कि समस्त कर्मों का आत्यन्तिक उच्छेद मोक्ष है। मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्षः' इस प्रकार क्रिया प्रधान भावसाधन है, 'मोक्ष असने' धातु से बना है अथवा जिनसे कर्मों का समूल उच्छेद हो वह और कर्मों का पूर्ण रूप से छूटना मोक्ष है। अर्थात् जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी बेड़ी आदि के छूट जाने पर स्वतंत्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ सुखी होता है, उसी प्रकार कर्म बंधन का वियोग हो जाने पर आत्मा स्वाधीन होकर आत्यन्तिक ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।

आत्मा में कर्मों का क्षय होने पर फल तो उसके साथ ही विनष्ट हो जाते हैं। और एक बार यदि संपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाए, जीव एक बार अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए, एक बार जीव शुद्धावस्था को प्राप्त हो जाए तो पुनः कभी अशुद्ध नहीं होता, पुनः कभी कर्मों का बंध नहीं होता। जैसे बीज और अंकुर की संतान अनादि होने पर भी अग्नि से अन्तिम बीज को जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी तरह मिथ्यादर्शनादि प्रत्यय तथा कर्मबंध संतति के अनादि होने पर भी ध्यानाग्नि से कर्म बीजों को जला देने पर भवांकुर का उत्पाद नहीं होता, यही मोक्ष है।

इस प्रकार सात तत्त्वों में से जीव और अजीव दो मूल तत्त्व हैं, उनके मेल से ही संसार की सृष्टि होती है। संसार के मूल कारण आस्रव और बंध हैं और संसार से मुक्त होने के कारण संवर और निर्जरा हैं। संवर और निर्जरा के द्वारा जीव को जो पद प्राप्त होता है वह मोक्ष है, जो कि प्रत्येक जीव का चरम लक्ष्य है। जो जीव अपने उस चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है उसे सात तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है। जीव अपने चरम-परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके इसीलिए करुणायुक्त हो ग्रंथकार ने यहाँ सात तत्त्वों का कथन किया तथा अंत में मोक्ष तत्त्व को कहकर प्रत्येक जीव का ध्यान उसके लक्ष्य की ओर आकृष्ट किया।

ग्रंथ हेतु

तच्चसारो इमो गंथो, सूरिणा वसुणंदिणा।
विज्जाणंदस्स सिस्सेण, अप्प-संतीए भासिदो॥151॥

अर्थ–यह तत्त्वसार ग्रंथ आचार्य श्री विद्यानंद जी के शिष्य आचार्य वसुनंदी के द्वारा आत्मशांति के लिए कहा गया है।

This scripture 'Tattvasaar' has been written by Acharya sri Vasunandi ji muniraj who is the disciple of Acharya Sri Vidyanand ji Muniraj, for the peace of the soul.

भावार्थ–परम पूज्य सिद्धांत चक्रवती, राष्ट्र संत, श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के शिष्य पूज्य अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के द्वारा 'तच्चसारो' तत्त्वसार नाम ग्रंथ लिखा गया। जिनके पाद त्राणों से रहित दिशाओं को ही अंबर अर्थात् वस्त्ररूप धारण करती दिगंबर देह व जो संयम, तप,व्रत, त्याग ज्ञानादि सभी को विस्मित करने वाले हैं। ऐसे परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज का जन्म राजस्थान के धौलपुर जिले के विरौंधा ग्राम में हुआ। जिस प्रकार मिथ्यात्व की निशा को चीरकर सम्यक्त्व का प्रभात होता है, उसी प्रकार अमावस्या की रात्रि में एक बालक का जन्म हुआ जिसके ओज को देखकर सभी के मुख से 'दिनेश' यह नाम सहज रूप से ध्वनित हुआ। बालक प्रारंभ से ही अकलंक स्वामी के समान तीक्ष्णबुद्धि मेधावी रहा। पुनः संसार मार्ग का परित्याग कर मोक्षमार्ग चयनितकर आचार्य वसुनंदी मुनिराज के नाम से संसार में जाने गये।

उनका नय, न्याय, सिद्धांत व्याकरण, आगम आध्यात्मादि विषयों एवं विभिन्न भाषाओं का ज्ञान अलौकिक है। अलौकिक वृत्ति वाले ये साधु जो निरंतर ज्ञानमय उपयोग से युक्त रहते हैं अतएव 'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी' उपाधिगत नाम से भी सर्वत्रसिद्ध हैं।

प्राकृतभाषा के संरक्षण व संवर्द्धन हेतु आचार्य श्री स्वयं अभी तक लगभग 40 प्राकृतग्रंथों का लेखन कर चुके हैं व आज भी उनकी कलम निरंतर श्रुत संवर्द्धन व संरक्षण हेतु त्वरागति से अविरल संन्नद्ध है। ज्ञान के उन्तुंग शिखर सम व तप त्याग में भी सदैव अग्रसर आचार्य गुरुवर तपस्या व ज्ञान के अद्भुत उदाहरण है।

जैसा कि ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है इस ग्रंथ में सप्त तत्त्वों का वर्णन किया है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष। दर्शन-ज्ञान स्वभाव से युक्त यह जीव-पुद्गल कर्म से संलग्न होता हुआ अनादिकाल से संसारचक्र में भ्रमण कर रहा है आस्रव व बंध जो संसार के कारण हैं निरंतर चल रहे हैं, मोक्ष के कारणभूत संवर व निर्जरा के लिए पुरुषार्थरत नहीं हुआ।

संवर व निर्जरा के माध्यम से जीव आत्मशांति प्राप्त कर सकता है। ग्रंथकार ने यह 'तच्चसारो' ग्रंथ स्व-पर आत्म शांति निमित्त प्रतिपादित किया। आगम ज्ञान तो दीप के समान स्व-पर प्रकाशी है। आचार्य भगवन् ने ग्रंथ लेखन कर स्वयं आत्मशांति का अनुभव किया और इस ग्रंथ को पढ़ने वाले पाठकगण भी इसके द्वारा आत्मशांति को प्राप्त कर सकते हैं। अत: रागद्वेष रूप संकल्प-विकल्पों की कल्लोल माला के त्याग के बल से जीव पुद्गल से विलग हो, अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था को प्राप्त करे। जीव अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर संसार परिभ्रमण से मुक्त हो सदैव आत्मलीन हो, व आत्म शांति का अनुभव करे।

जिनशासन को चिरकालीन स्थायित्व प्रदान करने हेतु विभिन्न कार्यों का संचालन आचार्य गुरुवर के माध्यम से सदैव होता है। अपनी निर्मल आचार्य परम्परा को समुज्जवल करते हुए उन पूर्वाचार्यों के समान ही जिनशासन के स्तंभ रूप आचार्य गुरुवर सदैव विद्वज्जनों, संयमीजनों व पुण्यात्माओं के द्वारा अभिवंदनीय हैं।

ग्रंथ लेखक ने यहाँ सर्वाचार्यों को नमन किया उनके साथ मैं यहाँ ग्रंथकर्त्ता को भी नमन करती हूँ जिनके कारण ज्ञान का नवीन प्रकाश प्राप्त हुआ व निर्मलाचार्य परम्परा व अन्य सभी आचार्यों का स्मरण करने का अवसर प्राप्त हुआ।

आशीर्वादात्मक श्लोक

सव्वजीवा सुही होज्ज, देसे गामे सुभिक्खदा।
होज्ज धम्मस्स विद्धीय, खेमं पेम्मो वि सव्वदा॥152॥

अर्थ–सभी जीव सुखी हों, देश में, ग्राम में सुभिक्षता हो, धर्म की वृद्धि, सर्वदा क्षेम और प्रेम भी हो।

May all souls become happy, may there be ***subhiksha*** (plenty of grains and water) in the villages and the country. May there be always enhancement of religion, auspicious things, and love.

भावार्थ–आचार्य भगवन् ग्रंथ के उपसंहार स्वरूप गाथाओं में यहाँ सभी के क्षेम, मंगल, सुख व शांति की कामना करते हैं। एक विराट व्यक्तित्व, मानव होते हुए मानवता के स्तर से ऊपर के विचारों से युक्त, उदारचेत्ता, आध्यात्मिक विद्या से ओत-प्रोत, व्यवहार कुशल, अति करुणावान्, ईश्वरीय गुणों से परिपूर्ण ही स्वयं वा स्वजनों के अतिरिक्त संसार के समस्त प्राणियों के लिए एकेन्द्रिय से पंचेंद्रिय तक सभी जीवों के लिए सुख-क्षेम की कामना कर सकता है। जिन्होंने विश्व के सभी प्राणियों से मैत्री स्थापित की हो वे सभी के मंगलमय जीवन की कामना कर सकते हैं। आचार्य भगवन् ने यहाँ सभी प्राणियों के सुखद जीवन की कामना के साथ, राष्ट्र व देश के प्रति उदात्त भावनाओं से युक्त हो देश, ग्राम, नगर आदि के मंगल की भी कामना की है। देश, गाँवादि में सदैव सुभिक्षता रहे व धर्म प्रवर्द्धमान हो। जहाँ धर्म वृद्धिंगत होता है वहाँ सुख-शांति-क्षेम-मंगल-आरोग्य-सुभिक्षतादि स्वयं वृद्धिंगत होते हैं। तथा सभी प्राणियों में सदैव प्रेम भाव बना रहे, जिससे समस्त गाँव, नगर देश व विश्व में शांति की स्थापना हो सके। जब जीव में सबके कल्याण-मंगल की भावना निहित होती है तो उसका मंगल व कल्याण भी स्वयं होता ही है। प्रत्येक जीव सर्वमंगल की कामना करता हुए निज शाश्वतावस्था को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करे। जीव के ये शुभ भाव भी पुण्यास्रव व पाप कर्म के संवर का कारण होंगे और निश्चित ही जीव का वह नि:कांक्षित पुण्य उसे अरिहंत पद देने में समर्थ भी होगा।

जो लोक मंगल-लोक कल्याण की भावना भाता है वह तीर्थंकर जैसे शुभ पद को प्राप्त कर लोक कल्याण में निमित्त बनता है। आचार्य भगवन् के द्वारा भायी गई यह भावना सभी के लिए प्रेरणास्पद है और उनके चित्त की विशुद्धि व लोक मंगल जैसी उत्कृष्ट भावनाएँ इससे दृष्टिगोचर होती हैं।

ग्रंथकार की लघुता

लहुधीए पमादेण, लिहिदं जदि किंचिवि।
करेज्ज णाणिणो सुद्धं, बालं खमंतु जाणिय॥153॥

अर्थ–अल्पबुद्धि वा प्रमाद से यदि कुछ भी लिखा गया हो तो ज्ञानीजन शुद्धि करें और बालक जानकर मुझे क्षमा करें।

If something is written by my little knowledge or carelessness, then scholars (munis endowed with special knowledge) may purify it and forgive me as a child.

भावार्थ–यह श्लोक ग्रंथकार की अत्यंत लघुता व विनम्रता को प्रदर्शित करता है। स्वयं ज्ञान के वारिधि स्वरूप, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य महाराज ग्रंथ लेखन के पश्चात् अति विनम्रता के साथ कहते हैं कि अल्प ज्ञान वा प्रमाद से कुछ लेखन हो गया हो तो आगम के पारगामी, चारित्र में दृढ़, ज्ञानीजन उन्हें बालक के समान जानकर क्षमा करें एवं ग्रंथ को संशोधित करें। वास्तव में जिस वृक्ष पर जितने अधिक फल होते हैं वह उतना अधिक झुकता है, अथवा जो वृक्ष जितना अधिक नम्रीभूत होता है तब जान लेना चाहिए वह नि:संदेह फलों से लदा है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति में वास्तविक ज्ञान है, वह गुणपुंज से युक्त है तो विनम्रता तो दृष्टिगोचर होगी ही। ग्रंथकार की विनम्रता उनके असीमित गुणों व गहन ज्ञान को प्रकट करती है।

अंतिम मंगलाचरण

चरियचक्कट्टिं हं, संतिसिंधुं महामुणिं।
णिच्चं णमामि जोगेहिं, णियदोसा विणासिदुं॥154॥
पायसिंधुं महाजोगिं, जयकित्तिं मुणीसरं।
देसस्स भूसणं सूरिं, णमामि देसभूसणं॥155॥
सिद्धंतचक्कवट्टिं च, रट्ठसंतं महामुणिं।
धारिं धवलपिच्छीए, विज्जाणंदं णमामि हं॥156॥

अर्थ–चारित्र-चक्रवर्ती, महामुनि आचार्य श्री शांतिसागर जी को, महायोगी आचार्य श्री पायसागर जी, आचार्य श्री जयकीर्ति मुनीश्वर, देश के भूषण आचार्य श्री देशभूषण जी और सिद्धांत चक्रवर्ती, राष्ट्रसंत, महामुनि, श्वेत पिच्छी के धारक आचार्य श्री विद्यानंद जी को नित्य ही तीनों योगों से निज दोषों के विनाश के लिए मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) नमस्कार करता हूँ।

I bow to Charitra Chakravarti Mahamuni. Acharya sri Shanti Sagar ji, Mahayogi Acharya shri Payasagar ji, Acharya sri Jaikirti ji, Acharya sri Deshbhushan ji who is like ornament of the country and Siddhant Chakravarti, Rashtra saint, Mahamuni, holder of ***shwet pichchi*** (pichchi made by white peacock's feather) Acharya Sri Vidyanand ji Muniraj by my three activities (speech, body and mind) for the destruction of my vices.

भावार्थ–यहाँ ग्रंथकार 'तच्चसारो' ग्रंथ का अंतिम मंगलाचरण करते हुए अपनी उज्ज्वल धवल परंपरा के आचार्यों का स्मरण करते हैं। क्योंकि यह ज्ञान-संयमादि उन्हीं आचार्यों से प्रवाहमान होते हुए यहाँ तक पहुँचा है। सर्वप्रथम 20वीं सदी के प्रथमाचार्य महामुनि चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज को नमस्कार करते हैं जिन्होंने मृत प्रायः मुनि परंपरा को पुनर्जीवित किया। भारत के कोने-कोने तक पहुँचकर अनेक उपसर्गों को सहकर भी जिनधर्म की अद्भुत प्रभावना की और श्रमण गगन पर छाए अंधकार को दूर कर दिया। उन्हीं के साहस साधनादि का फल है जो अनेक प्रकार के मुनियों रूपी तारों आदि के द्वारा श्रमण गगन दृष्टिगोचर होता है। जो प्राणीमात्र के पाप रूपी अंधकार को तिरोहित करने में समर्थ है।

पुनः उनके शिष्य महातपस्वी महायोगी आचार्य श्री पायसागर जी महाराज को नमस्कार करते हैं जिनकी तपस्या अत्यंत कठोर व कर्मों के शैल को चूर करने में समर्थ थी। पुनः उनके शिष्य आचार्य श्री जयकीर्ति स्वामी को प्रणाम करते हैं जिन्होंने अनेक उपवास की अग्नि में पाप कर्मों का दहन किया। उनके शिष्य भारत के आभूषण स्वरूप भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण जी को

नमस्कार किया जिन्होंने विश्व को श्रुत का आलोक प्रदान किया, जिनधर्म को संरक्षित व संवर्द्धित किया पुनः उनके शिष्य और अपने गुरु सिद्धांत चक्रवर्ती, राष्ट्रसंत, श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को प्रणाम किया जिन्होंने संपूर्ण भारत का भ्रमण कर अहिंसा की आवाज को बुलंद किया, सामान्य नागरिकों से लेकर शीर्षस्थ नेताओं तक जिनधर्म के सूत्रों का प्रतिपादन किया। जिनके ज्ञान ने समूचे विश्व को अचंभित किया।

इस प्रकार यहाँ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज मन-वचन-काय त्रियोग से अपने दोष अवगुण, कर्मपंक के विनाश के लिए आचार्य परंपरा को नमस्कार करते हैं क्योंकि पूज्य पुरुषों को नमस्कार करने से परिणाम विशुद्ध होते हैं, अवगुण दूर होते हैं, पूज्यों की पूजा से स्वयं पूज्यता की प्राप्ति भी होती है।

विद्या के फल की प्राप्ति के लिए अंतिम मंगलाचरण किया जाता है। ग्रंथकार, शिष्य, श्रोता, वक्तादि सभी विद्या के फल को प्राप्त कर सकें, स्वतत्त्व, स्वशुद्धावस्था को प्राप्त कर सकें अतः अंतिम मंगलाचरण के साथ यह 'तच्चसारो' ग्रंथ पूर्ण हुआ।

श्लोकानुक्रमणिका

क्र.सं.	श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
	(अ)		
1.	अकायो अत्थि कालो वि	141	337
2.	अकिद पुण्ण-सीयाहिं	114	273
3.	अज्ज वि रायणीदीए	59	152
4.	अणुआसो य पेम्मस्स	40	112
5.	अणुजा पडि वच्छल्लं	39	109
6.	अणेग-जदणं किच्चा	27	75
7.	अप्पदेसी अणू होंति	131	319
8.	अप्पाणं जिणसुत्ताणं	120	291
9.	अरण्ण-वण्ण-जंतूणं	90	223
10.	असंखा संखवेक्खाए	142	337
11.	असी विज्जा य वाणिज्जं	32	85
12.	असुहादो णिवत्तीए	26	72
13.	अहिंसा गिह-कज्जेसु	19	42
14.	अहिंसा सच्चमत्थेयं	107	254
	(आ)		
15.	आणाइत्ता य लच्छी जा	49	136
16.	आणीदि संति-सोक्खं च	52	142
17.	आयार-धम्मकज्जादो	42	114
18.	आसवस्स णिरोहत्थि	147	349
	(उ)		
19.	उज्झेज्ज पाव-कम्माणि	106	252
20.	उप्पण्णो सगदेसम्मि	93	227

क्र.सं.	श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
	(क)		
21.	कम्मागमण-दारं हु	143	340
22.	करेदि णिय-कज्जाणि	12	26
23.	कसाय-समणं धम्मो	122	297
24.	कामो कोहो मदं लोहो	65	166
25.	काय-वय-मणो-जोगं	144	342
26.	किरिया सील संसुद्धो	95	232
27.	कुसलो सव्वकज्जेसु	98	236
	(ख)		
28.	खत्तिओ बंभणो वेस्सो	16	33
	(ग)		
29.	गीदं णच्चं च वादित्तं	37	97
30.	गुणी सुहुमदिट्ठो य	81	206
31.	गेहवदी य संचारो	78	201
	(च)		
32.	चउसट्ठी य णारीणं	38	100
33.	चदुहा राय-विज्जाओ	60	154
34.	चरिय-चक्कवट्टिं हं	154	359
35.	चारित्त-मोहणीयस्स	47	130
36.	चित्ताण भित्ति आईसु	35	92
37.	चेडगो खारवेलो य	66	171
	(ज)		
38.	जण-जूहं हु जीवेदि	13	26
39.	जत्थ परोप्परे पेम्मो	48	133
40.	जधा तवो हु णो मोक्खो	58	150
41.	जम्मि कज्जम्मि जो पाणी	53	144

क्र.सं.	श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
42.	जहा मेहो ससी अक्को	22	53
43.	जहा सत्तीइ पालेज्जा	123	300
44.	जहा सुट्ठु तरू देंति	24	58
45.	जो देसस्म समस्सणं	85	214
46.	जहिं हवदि सम्माणो	30	81
47.	जाणंति विरला तच्चं	4	8
48.	जाव जीवो विहावम्मि	11	25
49.	जीवा जीवस्स भेयेण	6	16
50.	जीवो हु पोग्गलो धम्मो	127	310
51.	जो खलु सव्व-दव्वाइं	140	335
52.	जो भूवदी विरज्जित्ता	70	184
	(ण)		
53.	णमित्ता तच्चणाणिं च	1	1
54.	णायसीलो य विण्णाणी	63	157
55.	णायेण अज्जिदं अत्थं	112	268
56.	णिगिण्हणं हु दुट्ठाणं	64	164
57.	णिच्छयो ववहारो य	137	331
58.	णिज्जरा हु मुणेयव्वा	148	351
59.	णिट्ठो णाणी विवेगी य	104	246
60.	णिरवज्जं पडं सम्मं	21	50
61.	णीदी रहस्स-पुण्णा जा	54	146
62.	णिच्चं अप्पदेसेसुं	145	344
	(त)		
63.	तच्च णाणं हु जीवाणं	5	13
64.	तच्चं खलु महापाणो	3	5
65.	तच्चं दव्वस्स भावो हु	2	3

क्र.सं.	श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
66.	तच्चसारो इमो गंथो	151	355
67.	तप्परो खेम-रक्खासु	62	157
68.	तवो णस्सदि कम्माणि	118	286
69.	तियजोगो मुणेयव्वा	133	322
	(द)		
70.	देइदं आदि णाहेण	33	87
71.	दव्व-भावादु णादव्वा	149	351
72.	दाण-धम्म-दया-पूया	25	60
73.	दाणेण णस्सदे दुक्खं	113	271
74.	दाहणत्थं हु कम्माणि	116	282
75.	दिट्ठिं धरेदि दव्वम्मि	136	329
76.	देदिज्जइ पुरक्कारं	15	30
77.	देस-सुधम्म-कत्तव्व	74	190
78.	देसस्स धण-संपत्ति	86	216
79.	देसुण्णदी-विआसो य	100	239
	(ध)		
80.	धण्ण-पुण्णेहि मेणाए	109	259
81.	धम्म-कामोवहाहिं च	79	204
82.	धम्मिणो पडि होदव्वं	121	293
83.	धी-चारित्त-पदिट्ठासु	50	139
	(प)		
84.	पक्खित्त-कंकरेगादो	117	284
85.	पडिमाणं णराईणं	36	95
86.	पण्णो सुणीदि रीदीण	83	209
87.	पत्तेय-सज्जणो णिच्चं	20	48
88.	पदयो उड्ढदे सुण्णे	103	242

क्र.सं.	श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
89.	पदेसो पइडी बंधो	146	345
90.	परजीवा सुरक्खेदि	111	265
91.	पहाणो सव्वमंतीसुं	82	209
92.	पायसिधुं महाजोगिं	155	359
93.	पिदरेण विणासक्को	57	150
94.	पोग्गलस्स य पज्जाया	134	325
95.	पोग्गलस्साविभागी य	130	316
96.	पोग्गलाणं च जीवाणं	138	333
97.	पोग्गलाणं च जीवाणं	139	333
	(फ)		
98.	फासो गंधो रसो वण्णो	129	316
	(ब)		
99.	बंभदत्त-जरासंध	68	178
	(भ)		
100.	भत्तं च पिदु-मादूणं	45	123
101.	भव्वो हु तित्थ-जत्ताए	115	280
102.	भासाविदो गुणाकंखी	91	225
103.	भोगी लीणा विहावम्मि	8	20
	(म)		
104.	मज्जादा-धारगा णिच्चं	72	187
105.	ममदा-करुणामुत्ती	43	117
106.	माणुस-तिरियाणं च	88	220
107.	मालायारो य आरामे	84	214
108.	मुत्ता तहा हु संसारी	9	22
109.	मुत्ति-संगीद-थावच्च	31	84
110.	मूल गुणट्ठवीसं च	124	302

क्र.सं.	श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
	(र)		
111.	रट्ठवदिस्स रज्जस्स	96	234
112.	रत्तो रज्जम्मि जो रायो	69	182
113.	रदा जा देवपूयाए	73	187
114.	रदो पूयाइ-कम्मेसुं	105	246
115.	रयणाणि समुद्देण	23	56
116.	रायदोसं विहावं च	135	327
117.	राया कत्तव्वहीणो जो	67	178
118.	राया-मंति-किला-कोस	76	195
119.	रूव-लावण्ण-संजुत्ता	71	185
	(ल)		
120.	लहु-धीए पमादेण	153	358
121.	लोयो सो मुणेदव्वो	125	308
	(व)		
122.	वड्ढा सुह-संतीणं	55	146
123.	वयो हवेदि णायेण	51	142
124.	विगासगो स-रज्जस्स	89	221
125.	विज्जदे किरियासत्ती	132	320
126.	विज्जदे चेयणा जम्हि	128	313
127.	विणया णिउणा सीला	46	127
128.	विणासो सव्व-कम्माणं	150	353
129.	विभाविज्जइ अण्णोण्णं	77	200
130.	वियारुच्चो हवेज्जा हु	18	39
	(स)		
131.	संधि-विग्गह-याणाणि	75	193
132.	संसारस्स हु जीवाणं	17	38

क्र.सं.	श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
133.	संसारीणं हु बे भेया	10	22
134.	सक्कार-दायगो सेट्ठो	44	120
135.	स-गाम-णयराणं च	94	231
136.	सया कज्जेसु आलस्सो	41	123
137.	सया करेज्ज सम्माणं	28	77
138.	सव्व-विग्घाणि णस्संति	108	257
139.	सव्व जीवा सुही होज्ज	152	357
140.	सव्व-मंतीसु विण्णाणी	99	238
141.	समो दाणो तहा दंडो	56	148
142.	सासगो सोहदे णिच्चं	61	157
143.	सासणम्मि पयातंते	80	206
144.	सिद्धंत-चक्कवट्टिं च	156	359
145.	सुणदि धम्म-सत्थं च	119	289
146.	सुद्धासुद्धो सहावो य	7	18
147.	सुपेरगो सुसत्थाणं	101	239
148.	सुसासणेण पावंते	102	242
149.	सुहंकरं बि-लोगेसुं	110	263
150.	सेट्ठकला महासत्ती	29	79
151.	सेट्ठ-विदेस-मंती य	87	218
152.	सोवाण-णयरुज्जाण	34	89
	(ह)		
152.	हिदेसी राय-देसाणं	92	227
153.	हिदेसी सुधणाकंखी	97	236
154.	होदि अदिहि-सम्माणो	14	30
155.	होदि सदस्स णासो णो	126	310

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

प्रथमानुयोग साहित्य

1. नंगानंग कुमार चरित्र
2. मौन व्रत कथा
3. व्रताधीश्वर रोहिणी व्रत
4. प्रभंजन चरित्र
5. चारूदत्त चरित्र
6. सीता चरित्र
7. सप्त व्यसन चरित्र
8. वीर वर्द्धमान चरित्र
9. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
10. चित्रसेन पदमावती चरित्र
11. सुदर्शन चरित्र
12. सुरसुन्दरी चरित्र
13. करकण्डु चरित्र
14. नागकुमार चरित्र
15. भद्रबाहु चरित्र
16. हनुमान चरित्र
17. महापुराण भाग-1
18. महापुराण भाग-2
19. श्री जम्बूस्वामी चरित्र
20. यशोधर चरित्र
21. व्रत कथा संग्रह
22. राम चरित भाग-1
23. राम चरित भाग-2
24. राम चरित संयुक्त प्रकाशन
25. आराधना कथा कोष भाग-1
26. आराधना कथा कोष भाग-2
27. आराधना कथा कोष भाग-3
28. शान्ति नाथ पुराण भाग-1
29. शान्ति नाथ पुराण भाग-2
30. सम्यक्त्व कौमुदी
31. धर्मामृत भाग-1
32. धर्मामृत भाग-2
33. पुण्यास्रव कथा कोष भाग-1
34. पुण्यास्रव कथा कोष भाग-2
35. पुराण सार संग्रह भाग-1
36. पुराण सार संग्रह भाग-1
37. सुलोचना चरित्र
38. गौतम स्वामी चरित्र
39. अमरसेन चरित्र
40. श्रेणिक चरित्र
41. महीपाल चरित्र
42. जिनदत्त चरित्र
43. सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
44. चेलना चरित्र
45. धन्यकुमार चरित्र
46. सुकुमाल चरित्र
47. क्षत्रचूडामणि जीवंधर चरित्र
48. चन्द्रप्रभ चरित्र
49. कोटिभट श्रीपाल चरित्र
50. महावीर पुराण
51. वरांग चरित्र
52. पांडव पुराण
53. सुशीला उपन्यास
54. भरतेश वैभव
55. पार्श्वनाथ पुराण
56. त्रिवेणी
57. मल्लिनाथ पुराण
58. विमलनाथ पुराण
59. चौबीसी पुराण
60. पदम पुराण
61. सती मनोरमा

सम्पादित संस्कृत / प्राकृत साहित्य

1. आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)
2. आराधना समुच्चय (श्री रविन्द्राचार्य)
3. उपासकाध्यय भाग-1
4. उपासकाध्यय भाग-2
5. आध्यात्म तरंगिणी (आ.श्री सोमदेव सूरि)
6. कर्म विपाक (आ.श्री सकलकीर्ति स्वामी)
7. कर्म प्रकृति (सिद्धांत चक्रवती आ.श्री. अभयचंद्र जी)
8. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समन्तभद्र स्वामी)
9. चार श्रावकाचार (विभिन्न आचार्य)
10. जिन कल्पि सूत्रम (श्री प्रभाचन्द्राचार्य जी)
11. जिन श्रमण भारती (संकलन विभिन्न)
12. तत्वार्थ सार (श्री मदमृतचन्द्र सूरि)
13. तत्वार्थस्य संसिद्धि
14. तत्व भावना (आ.श्री अमितगति जी)
15. तत्वार्थ सूत्र (आ.श्री उमास्वामी जी)
16. तत्व ज्ञान तरंगिणी (श्रीमद् भट्टारक ज्ञानभूषण)
17. तत्व विचारो सारो (आ.श्री वसुनंदी जी)
18. धर्मरत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)
19. धम्म रसायण (आ.श्री पद्मनंदी स्वामी)
20. ध्यान सूत्राणि (श्री माघनन्दि सूरि)
21. नीति सार समुच्चय (आ.श्री इन्द्रनंदी स्वामी)
22. प्रबोधसार
23. पंच विंशतिक (आ.श्री पदमनंदी स्वामी)
24. पंच रत्न (संकलित) (विभिन्न आचार्य)
25. प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य जी)
26. पुरूषार्थ सिद्धियुपाय (आ.श्री अमृतचन्द्र स्वामी)
27. प्रभु आराधना (दशभक्तियाँ-आ. श्री पूज्यपाद स्वामी)
28. भावत्रय फलप्रदर्शी (आ.श्री कुन्थुसागर जी)
29. भगवती आराधना (आ.श्री शिवकोटी स्वामी)
30. मरणकंडिका (आ.श्री अमितगति स्वामी)
31. मूलाचार प्रदीप (आ.श्री सकलकीर्ति स्वामी)
32. योगामृत भाग-1 (मुनिश्री बालचन्द्र जी)
33. योगामृत भाग-2 (मुनिश्री बालचन्द्र जी)
34. योगसार भाग-1
35. योगसार भाग-2
36. रयणसार (आ.श्री कुन्दकुन्द स्वामी)
37. वसुऋद्धि (संकलित विभिन्न आचार्य)
38. विषापहार स्तोत्र (महाकविवर धनंजय)
39. सुभाषित रत्न संदोह (आ.श्री अमितगति स्वामी)
40. सिंदूर प्रकरण (आ.श्री सोमदेव स्वामी)
41. समाधितंत्र (आ.श्री पूज्यपाद स्वामी)
42. समाधिसार (आ.श्री समन्तभद्र स्वामी)
43. सार समुच्चय (आ.श्री कुलभद्र स्वामी)
44. रयण सार
45. नौनिधि

प्राकृत साहित्य (रचित)

1. धम्म-सुत्ति-संगहो
2. णंदिणंद-सुत्तं
3. रयणकंडो
4. रटठ-संति-महाजग्गो
5. अज्ज-सक्किदी
6. जदि-जदि-कम्मं
7. णिग्गंथ-थुदी
8. विज्जा-वसु-सावयायारो
9. सुद्धप्पा
10. जिणवर-थोत्तं
11. तच्च-सारो
12. अहिंसगाहारो
13. अणुवेख्खा-सारो
14. धम्म-सुत्तं
15. प्राकृत वाणी भाग-1

प्रवचन साहित्य

1. आईना मेरे देश का
2. उत्तम क्षमा (आत्मा का ए.सी. रूम)
3. उत्तम मार्दव (मान महा विष रूप)
4. उत्तम आर्जव (रंचक दगा बहुत दुख:दानी)
5. उत्तम शौच (लोभ पाप का बाप बखाना)
6. उत्तम सत्य (सतवादी जग में सुखी)
7. उत्तम संयम (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)
8. उत्तम तप (तप चाहे सुरराय)
9. उत्तम त्याग (निज हाथ दीजे साथ लीजे)
10. उत्तम आकिंचन (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11. उत्तम ब्रह्मचर्य (चेतना का भोग)
12. खुशी के आँसू
13. खोज क्यों रोज-रोज
14. गुरुत्तं भाग-1
15. गुरुत्तं भाग-2
16. गुरुत्तं भाग-3
17. गुरुत्तं भाग-4
18. गुरुत्तं भाग-5
19. गुरुत्तं भाग-6
20. गुरुत्तं भाग-7
21. गुरुत्तं भाग-8
22. गुरुत्तं भाग-9
23. गुरुत्तं भाग-10
24. गुरुत्तं भाग-11
25. गुरुत्तं भाग-12
26. चूको मत
27. सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
28. जय बजरंगबली
29. जीवन का सहारा
30. ठहरो! ऐसे चलो
31. तैयारी जीत की
32. दशामृत
33. धर्म की महिमा
34. ना मिटना बुरा है ना पिटना
35. नारी का धवल पक्ष
36. शायद यही सच है
37. श्रुत निर्झरी
38. सीप का मोती (महावीर जयंती)
39. स्वाति की बूंद

विधान रचना

1. कल्याण मंदिर विधान
2. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3. दु:खों से मुक्ति, सहस्त्रनाम विधान
4. णमोकार महार्चना
5. श्री अजितनाथ विधान
6. श्री चन्द्रप्रभ विधान
7. श्री चन्द्रपभ विधान तिजारा
8. श्री जम्बूस्वामी विधान
9. श्री मुनिसुव्रत नाथ विधान
10. श्री महावीर विधान
11. श्री शान्ति नाथ विधान
12. श्री संभवनाथ विधान
13. श्री पदमप्रभ विधान
14. श्री पुष्पदंत विधान
15. समवशरण महार्चना
16. यागमंडल विधान
17. श्री भक्तामर विधान
18. श्री नंदीश्वर विधान
19. श्री नेमिनाथ विधान
20. श्री वासुपूज्य विधान
21. पूजा अर्चना
22. अरिष्ट निवारक विधान संग्रह
23. निर्ग्रन्थ विधान
24. पंचपरमेष्ठी विधान

25. श्रद्धा के अंकुर
26. कर्मक्षय विधान
27. रक्षाबंधन विधान
28. मुनिसुव्रत विधान
29. वासुपूज्य विधान (प्रज्ञानन्द जी)
30. वासुपूज्य विधान (गुरूनंदनी)
31. समवशरण विधान
32. साप्ताहिक विधान
33. जिनसहस्त्रनाम विधान
34. पंचपरमेष्ठी विधान
35. श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान (गुरूनंदनी)

हिन्दी काव्य रचना

1. चैन की जिन्दगी
2. हीरों का खजाना
3. कल्याणी
4. हाइकु
5. क्षरातीत अक्षर
6. न मैं चुप हू न गाता हू
7. मुक्ति दूत के मुक्तक

हिन्दी गद्य रचना

1. अन्तर्यात्रा
2. आज का निर्णय
3. आ जाओ प्रकृति की गोद में
4. आहार दान
5. आधुनिक समस्यायें प्रामाणिक समाधान
6. एक हजार आठ
7. कलम पटी बुद्धिका
8. गुरूवर तेरा साथ
9. गागर में सागर
10. गुरू कृपा
11. जिन सिद्धांत महोदधि
12. डाक्टरों से मुक्ति
13. दान के अचिन्त्य प्रभाव
14. धर्म संस्कार भाग-1
15. धर्म संस्कार भाग-1
16. धर्म बोध संस्कार भाग-1
17. धर्म बोध संस्कार भाग-2
18. धर्म बोध संस्कार भाग-3
19. धर्म बोध संस्कार भाग-4
20. निज अवलाकन
21. मीठे प्रवचन भाग-1
22. मीठे प्रवचन भाग-2
23. मीठे प्रवचन भाग-3
24. मीठे प्रवचन भाग-4
25. मीठे प्रवचन भाग-5
26. मीठे प्रवचन भाग-6
27. मीठे प्रवचन भाग-7
28. मीठे प्रवचन भाग-8
29. रोहिणी व्रत
30. वसुनंदी उवाच प्रवचनांश
31. वसु विचार
32. स्वप्न विचार
33. सर्वोदयी नैतिक धर्म
34. सदगुरू की सीख
35. सफलता के सूत्र प्रवचनांश
36. संस्कारादित्य
37. हमारे आदर्श

सम्पादित अन्य हिन्दी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
2. कुरल काव्य [संत तिरूवल्लुवर (आ. श्री कुन्दकुन्द)]
3. जिन सहस्त्र नाम विधान
4. तत्वोपदेश (छहढाला)
5. दिव्य लक्ष्य संकलित
6. धर्म प्रश्नोत्तर (आ.श्री सकलकीर्ति जी)
7. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ.श्री सकलकीर्ति जी)
8. पंच परमेष्ठि विधान
9. भक्ति सागर
10. भव्य प्रमोद
11. विद्यानंद उवाच (प्रवचन-आ.श्री विद्यानंद जी मुनिराज)
12. शाश्वत शान्ति नाथत्रय विधान
13. सरस्वती उपासना
14. सुख का सागर (चालीसा संग्रह)
15. संसार का अंत
16. श्री शांतिनाथ, भक्तामर, सम्मेदशिखर विधान
17. अरिष्ट निवारक त्रय विधान

परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के जीवन चरित्र पर आधारित साहित्य

1. समझाया रविन्दू ना माना
2. दृष्टि दृश्यों के पार
3. पग वंदन
4. अक्षर शिल्पी
5. वसु-सुबन्ध (प्रो. डॉ. उदयचन्द जी जैन) महाकाव्य)
6. वसुनंदी - प्रश्नोत्तरी (प्रेस में)

संस्कृत टीका रचना

1. प्रमेया टीका रत्न माला
2. वसुधा टीका

इंगलिश रचना

1. Inspirational Tales Part-1
2. Inspirational Tales Part-2

वाचनिक ग्रंथ

1. बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्न मालिका)
2. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
3. स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)
4. मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)